सुजाता की डायरी/
शह और मात

सुजाता की डायरी/
शह और मात

कमला भाभी और मनमोहन ठाकौर को

शीशे की दीवार के इधर-उधर चलती दुहरी ज़िन्दगियों के बीच एक गवाक्ष है…एक झरोखा है…जहाँ से पूरा एक युग गुज़र रहा है—संस्कार और वर्ग की दीवारों की दरार टटोलने की बेचैनी गुज़र रही है……

राजेन्द्र यादव की डायरी/
कुछ पन्ने (ध्वस्त-व्यस्त)

उपन्यास में प्रयुक्त कविता-पंक्तियों के लिए लेखक, कवियों का कृतज्ञ है।

१० जुलाई, '५८

रोमन अक्षर 'एस' से शुरू हों....... [illegible]
हमेशा कुछ-न-कुछ पाया ही है···सुजाताजी को ही लीजिए···कथाकार सुजाताजी की मृत्यु का समाचार मुझे एक विचित्र-से सन्तुष्ट उल्लास से भर गया है। अब मैं निर्द्वन्द्व होकर उनकी डायरी के इन कुछ पन्नों को पाठकों के सामने रख सकूँगा। पिछले दिनों तो मैं उनसे मिलते कतराता था। देखते ही पूछतीं : 'राजेन्द्र, तू लाया नहीं मेरी डायरी ?' मैं टाल देता—'दीदी, कहीं कागज़-पत्रों में रख दी है। उन्हें किसी दिन सँभालूँगा तो ले आऊँगा। मुझे करना भी क्या है उसका ?' वे आशंका और खुशामद से कहतीं . 'देख भैया, उसमें जाने क्या-क्या बचपने की उलटी-सीधी बातें लिखी हैं। मैंने खुद उन पन्नों को एकाध-बार कहानी का रूप देने की बात सोची, पर फिर जाने क्या सोचकर रख दिया।' बात सच है। सुजाता और उदय के सम्पर्क की यह डायरी उन दिनों का चित्र सामने लाती है, जब वे स्वयं एम० ए० में पढ़ रही थीं और सुजाताजी के शब्दों में ही, 'उदय अपने उस काल से गुज़र रहे थे जिसे सफल लेखक आगे जाकर 'संघर्ष के दिन' कहता है···'

जो सुजाताजी नहीं कर पाईं, उसे पूरा करने का सन्तोष मुझे ज़रूर है, लेकिन मन के भीतर जाने क्यों कोई अपराध-भावना भी कचोट उठती है। शायद इसी भावना से किसी हद तक बचने के लिए मैंने निश्चय किया है कि अनावश्यक प्रसंगों या अप्रासंगिक बातों का निर्ममता से सम्पादन कर डालूँगा।

सुजाताजी की आत्मा के प्रति क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मैं उनकी आहत-असहाय आँखों को कलम की नोंक के साथ चलते देखता हूँ फिर भी जाने क्यों मुझे उनकी मृत्यु पर खुशी है। वह लेखक ही क्या, जो धिक्कार और उल्लास का अनुभव साथ-साथ ही न करे···?

आज उपन्यास को अन्तिम रूप देने के लिए इसे टाइपराइटर पर लिखना शुरू कर रहा हूँ।

६ अगस्त, '५८

पिछले सात-आठ महीनों से शरीर-कष्ट है। बैठने में दिक़्क़त होती है। फिर भी नब्बे पन्ने टाइप किये हैं, पिछले ३५-४० दिनों में। परसों ये नब्बे पन्ने जबर्दस्ती उठाकर चले गये। मैं नहीं चाहता, मेरी चीज़ को कोई अधूरा या अनफ़िनिश्ड देखे…इसे जब मैं अन्तिम रूप दे दूँ तब तो सभी को अधिकार है…लेकिन वह अधिकार पड़ा था और पन्ने चले गये। फ़ैसला मिला कि 'यह नहीं छपेगा।'

कारण पूछा गया तो पता चला 'कारण कुछ नहीं, बस छपेगा ही नहीं…'

फिर जब कारण पता चला तो याद आ गई भाई श्री मोहन सिंह सेंगर की बात। उपदेश के मूड में एक दिन कहा था: 'आपलोग न अपने समाज को देखते हैं, न लोगों को। कुछ फ़्रेंच, रूसी और अंग्रेज़ी उपन्यास पढ़-पढ़कर ठीक उन्हीं लाइनों पर उपन्यास और कहानियाँ लिख डालते हैं। इनमें सिर्फ़ लोगों और जगहों के नाम भारतीय होते हैं, बाक़ी सभी विदेशी होता है। आप लोगों का अपने देश का अध्ययन क़तई नहीं है।'

कैसे समझाऊँ उन्हें कि सेंगरजी की बात शत-प्रतिशत सही है। चेखव, ज्विग, जीद और मॉम यही तो मेरे ऊपर इन पिछले दिनों छाये रहे हैं। सो उनमें भी लोग, स्थितियाँ, वातावरण, समस्याएँ, भाषा कुछ भी अपना नहीं है। सभी कुछ दूसरों का है। फिर उन्हें इतना डर क्यों है…?

४ नवम्बर, '५८

जैसे-तैसे आज उपन्यास पूरा कर डाला है। बीच में टाइप रुक गया था। पता नहीं अंकुश बाहरी थे या भीतरी। जैसे सिगार जलता है…मन्द-मन्थर सुलगता रहता है, शायद कुछ उसी तरह की इस कहानी की गति हो गई है…आवेश और उत्तेजना से पागल मनोभावों और घटनाओं की आकस्मिकता से भरी हुई कहानियाँ पढ़नेवाला साधारण कथा-रसग्राही पाठक, पता नहीं इसे पढ़ भी पायेगा या नहीं…न तो यहाँ बाढ़ पर आई नदी के भावावेगों की दनदनाहट और न ऑक्सफ़ोर्डीय भाषा में शरत् की कहानी के आँसू बहाते पात्र…मनोरंजन और रोमांस का कोई भी तो फ़ॉर्मूला नहीं है। अपने पाठक पर मुझे कभी भी अविश्वास

नही रहा (वही तो मेरा बल है) लेकिन हर क्षण 'नाटक' चाहनेवाला; मन की विभिन्न सतहों पर चलनेवाले 'नाटक' को समझने की कोशिश में लगे, इस कहानी के पात्रों को कहाँ तक अपना बना सकेगा—यही ज़रा शंका है···।

प्रथम-पुरुष डायरी मे लिखी गई कहानी मे घटना सीधे रूप मे न आकर स्मृतियों और मूड्स में प्रतिफलित होकर आई है—कही हल्का-सा प्रतिविम्ब भर है। जहाँ तल गहरा होता है वहाँ धारा का प्रवाह खुद ही मन्थर नही हो जाता···?

१ जनवरी, '५८

··· ने कहा, और लोगों ने भी कहा कि जब उपन्यास तुमने लिख ही लिया है तो उस पुरानी पड़ी पाण्डुलिपि को अन्तिम रूप दे ही क्यो नहीं डालते ? खुद मैंने भी महसूस किया कि अब मैं उससे भावात्मक रूप से अपने को बिल्कुल काट चुका हूँ, इसलिए अब उसे अन्तिम रूप दे ही देना चाहिए···अधूरे काम का बोझ दिल से उतरे तो कुछ और करने मे भी मन लगे। दिमाग हमेशा ही तो घिरा रहता है। लेकिन डर लगता था कि उसे पढ़ूँगा तो पता नही कैसा लगेगा।

डर लगता है कि इसे लिखने के पीछे प्रेरणा क्या रही है ? क्योंकि खुद मेरा मन उन देशी-विदेशी उपन्यासों से बहुत ही ऊब गया है, जिनके नायक कलाकार या लेखक हैं। किताब खोलते नहीं बनता : कही इस उपन्यास या कहानी का नायक भी कम्बख्त लेखक, पत्रकार, कवि या चित्रकार ही न निकल आये। और इसी अपराध-भावना से मेरा मन डूबा रहा है कि एक और उपन्यास में लेखक साहब हीरो बना दिये गये···जब लेखक हीरो बनता है तो उसका सीधा अर्थ है : एक धीरोदात्त नायक का अवतार हो रहा है। पूरे उपन्यास में उसकी ही महिमा बखानी जाती है, उसे सब्जेक्टिव टच दिया जाता है, सम्पर्क में आने वाली हर लड़की से उसे पुजवाया जाता है···और उसकी करतूतों की सफ़ाई दी जाती है। बिना पूरा पढ़े, या सूँघकर ही अपनी राय क़ायम करनेवाला पाठक और जिल्दवादी समीक्षक इसे भी शायद ऐसा ही पायें···।

लेकिन एक सवाल मुझे अक्सर तंग करता है : क्या कहानी-उपन्यास का

लेखक लेखन-सामग्री से भरा निर्जीव वक्सा ही है ? उसका काम 'भीतर भरे हुए' को केवल बाहर 'उलीचना' और 'उँडेलना' ही है ? लेखन उसकी अपनी भी चिन्तन-प्रक्रिया नहीं बन सकता ? कि उस चिन्तन-प्रक्रिया में वह रेडी-मेड विचार पाठक को दे ही नहीं, खुद मथे और पाये भी ? हो सकता है इस दृष्टि से मैंने अपने को पात्रों के रूप में बाँटकर मुखर-चिन्तन या लाउड-थिंकिंग ही किया हो और लिखने के दौरान पात्रों के साथ-साथ या उनकी मार्फ़त अपनी उलझनें और समस्याएँ सुलझाने की कोशिश भी की हो···

२१ अगस्त, '५७

आज मैं चौंक पड़ा। देखा कि अरे, आलोचक की खाल के भीतर यह आदमी तो एकदम···। अपनी डायरी के कुछ अत्यन्त ही रोचक, व्यक्तिगत और सरस पन्ने सुनाकर कुहनियों के बल उठे हुए नामवरसिंह बोले—'बारह साल से लेकर सत्तर साल तक का हर लेखक हमारे यहाँ प्रेम की थीम को ज़रूर घसीटता है··· लेकिन सचमुच एक भी तो ऐसा उपन्यास नहीं है, जो आपको आकण्ठ डुबा दे··· लगे कि आप सचमुच प्रेम की गहराइयों में उतरकर आये हैं···प्रेम के नाम पर या तो सस्ते शरीरवादी उपन्यास हैं या इण्टर की अधकचरी भावुक लड़कियों को अपील करनेवाले रुदन, समर्पण, चरणस्पर्श, त्याग और उन्माद के गद्य-काव्यों से भरे घोर प्लैटोनिक, 'आँसू-धकेल' टीयरजर्कर्स। प्रेम का अर्थ या तो उनमें घोर शारीरिक उत्तेजना में किये गये आलिंगन-चुम्बन मिलता है या फुसफुसे लोगों की गिलगिलानी छिछली आदर्शवादी भावुकता···शरीर और आँसुओं के ज्वार का नाम ही क्या प्यार है ? या कहा जाय, क्या प्यार यहीं तक सीमित रह जाता है ? अगर ऐसा ही है तो मद्रास से आनेवाले हिन्दी-सिनेमा ही क्या बुरे हैं ?' और फिर हमलोग देर तक बातें करते रहे कि प्रेम किस तरह सूक्ष्म और अनजाने रूप से नारी मानसिक बनावट को स्तर-स्तर बदलता है, कैसे एकान्त और मधुर और आत्मीय-क्षण देता है। बहुत सचाई से 'अज्ञेय' को छोड़कर इसका चित्रण करने का प्रयत्न किस-किस ने किया है···बंगाली तो ख़ैर, अपनी आँसू-रुँधी आँखों के कारण उस पक्ष को देख ही नहीं पायेंगे···।

जब तक दूसरों की भलाई-बुराई करते रहे तब तक कोई बात ही नहीं, लेकिन जब मेरी छाती से अपनी आँखों की दुनाली अड़ाकर—"निकालो तुम्हारे

पास क्या है ?" के अन्दाज में, छिद्रान्वेषिणी निगाहों से उस विकट आलोचक ने मुझे ही घूरना शुरू कर दिया तो मैं करवट बदलकर सो गया। हिन्दी में क्या, क्यों लिखा जा रहा है, इसका जवाब आधी रात में मैं क्यों दूँ ? मानो सब मेरी ही शह से लिखा जा रहा हो···आप साहित्य के डाक्टर और दारोगा दोनों हैं, मैं कहाँ दाल-भात में···? और मैं क्या लिखकर रख आया हूँ, इसका मैं जिक्र ही दबा गया।

२ जुलाई, '५७

आज उपन्यास का पहला रूप लिखकर समाप्त कर दिया। पूरे ढाई महीने खा गया। करता क्या, कॉपी साइज के तीन-चार पन्नों से ज्यादा एक दिन मे लिखा ही नही जाता। लोग इतना सब कैसे लिख लेते हैं ? दूसरा कोई, पाँच दिनों मे इसे लिखकर अलग करता। लेखन को जीविका बनाकर इस युग में इतनी कम लेखन-शक्ति पर कैसे रहूँगा आखिर ? मोहन राकेश का कहना है कि 'होल-टाइमर' होकर भी परिमाण मे मैंने कुछ नही लिखा, गुण मे लिख पाने की तो समस्या ने ही तंग नही किया कभी···। ठीक ही तो है। मई '४७ मे पहली रचना छपी थी। ग्यारह साल मे तीन उपन्यास और पचास-साठ कहानियाँ··· और ?

सचमुच, बडी ही कष्टकर बेगार है लिखना···जो कुछ भी लिखा है वह किसी भी मायने मे सन्तोषजनक है ?···कतई···कतई नही···! मन होता है सब फाड-फूड डालूँ···लेकिन बस, यही उम्मीद है कि शायद कभी किसी अच्छे लिखने की भूमिका या ट्रेनिग के रूप मे ही आज तक का यह लिखा काम आ जाय···!

५ नवम्बर, '५८

पता नही अपने उपन्यास के शुरू मे ये सारे उलटे-सीधे ढग और क्रम से लिखे पन्ने जाने चाहिए या नही···लेकिन क्या कही भी बेचारे लेखक को यह अधिकार

हीं है कि वह अपने पाठक से सीधे बातें कर सके···? कुछ अपनी कह सके···
सकी सुन सके ? सैकड़ों पन्नों में 'केवल अपने लिए' वह दो पन्नों का उपयोग भी
हीं कर सकता···?

—राजेन्द्र यादव

क्षर प्रकाशन
/३६, अन्सारी रोड,
रियागंज, दिल्ली-६

सुजाता की डायरी/
शह और मात

सोमवार, ३ जून

जाने क्यों, तेज की बहुत याद आ रही है। रह-रह-कर मन उचट जाता है। पता नहीं इस वक्त कहाँ होगा ? लन्दन···? कोई कहता था . लन्दन उसने दो-तीन महीने पहले छोड दिया। अमेरिका जाने की बात थी। कैसे हो गया होगा जाने ? कैसी होगी उसकी वह ब्रिटिश मेम ? गिरजे मे अँगूठी बदलते हुए सचमुच उसे अपनी कलाई पर किसी चूडियोंवाले हाथ की पकड महसूस नही हुई होगी ? अच्छा, मान लो किसी दिन कॉलेज मे निकलते ही मैं देखूं कि तेज अपनी अँग्रेज पत्नी की कमर मे हाथ डाले सामने के फुटपाथ पर चला जा रहा है, तब कैसा लगे मुझे ? यह सब कल्पना करके अब न पहले जैसी कसक होती है, न उससे मिलने की तडप मे रुलाई आती है। पिछले दिनो तो मैं उसे करीब-करीब भूल ही चुकी थी। हफ्तो उसके नाम तक का ध्यान नही आता। आज तो यह कुछ नई ही बात है···।

आज अचानक लाइब्रेरी मे उदय से मुलाकात हो गई। मैं अपने कोर्स की किताब के सिलसिले मे गई तो देखा वे लायब्रेरियन से कुछ बातें कर रहे हैं। मैं प्रतीक्षा करती खड़ी-खड़ी मेज़ पर रक्खी एक पत्रिका के पन्ने पलटती रही। जब वे हट गये तो पहुँची। लायब्रेरियन ने पूछा, "इन्हें जानती हैं आप ?"

"देखा तो शायद कई बार है। याद नही है।" मैं जान-बूझकर बोली। बात ठीक-ठीक थी। पहचानते शायद हम दोनो एक-दूसरे को थे। पास से गुजरते हुए हमलोगो ने कई बार चौंककर एक-दूसरे को देखा था। दोनो को ही अपने हाथों में थोड़ी-थोडी फड़कन महसूस हुई थी, पर फिर मुँह फेरकर चल दिये थे। पहले नमस्कार कौन करे। ऐसे कोई बुजुर्ग भी नही थे कि मैं ही प्रणाम करूँ। मुश्किल से दो-तीन साल बडे होंगे। यों ही काफी दिनों से चल रहा था···।

"अरे ये उदय जी है। इनका अभी-अभी एक उपन्यास आया है हमारे यहाँ। बडी माँग रहती है।" लायब्रेरियन साहब बता रहे थे।

मैं मुसकराकर दुष्टता से बोली : " 'नाकारा' और 'शान्त' के उपन्यासो से भी ज्यादा ?"

"वो तो बात ही बिल्कुल अलग है। इसकी बहुत तारीफ़ें हैं। आइये आपका परिचय करा दें!" रुककर लायब्रेरियन साहब मुसकराये—"लेकिन आप हँसिये बिल्कुल मत। लड़कियों के सामने इनकी बोलती बन्द हो जाती है और सारा मुँह लाल पड़ जाता है। हमारे ही शहर के तो हैं। मैं तो इन्हें तब से जानता हूँ जब से वे खुद अपने को नहीं जानते थे।"

मैंने मुँह बिचका दिया। मन ही मन कहा, तब क्या खाकर उपन्यास लिखते होंगे। लायब्रेरियन साहब से अक्सर किताबें लेने का काम पड़ता है, इसलिए परिहास से बोली: "मगर हमने तो दूसरी बात सुनी है। कहते हैं इनकी जान-पहचान या मित्रता सिर्फ़ लड़कियों से ही है।"

"कौन? वही आपके गुरुदेव बताते होंगे? अब उनकी जनम-पत्री हमसे न खुलवाइये। आप कल आई हैं, उन्हें हम दस साल से देख रहे हैं। किताबें पढ़ने का नहीं, घर लेजा-लेजाकर इकट्ठा करनेका शौक़ है। लायब्रेरियन को जरूरत हो तो लाये खुद जाकर···" लायब्रेरियन साहब जोश में आगये। फिर सँभलकर बोले: "आप खुद देख लीजिए। मेरा छोटा भाई इनका क्लास-फ़ैलो था। यहाँ बैठे कुछ पढ़ रहे होंगे। पूछने आये थे कि क्या यहाँ से टेलीफ़ोन कर सकता हूँ।"

वे अर्ध-चन्द्राकार काउण्टर के एक सिरे पर कोने में खड़े टेलीफ़ोन कर रहे थे, बड़े व्यस्त और डूबे हुए-से। कभी-कभी इतना ज़ोर से हँस पड़ते थे कि आस-पास के लोगों का ध्यान भी उधर खिंच जाता था। तब झेंपकर अपने-आप में सिकुड़-से उठते। लायब्रेरियन के साथ पास जाते हुए कुछ वाक्यों के टुकड़े कान-में पड़ गये····"अच्छा आओ न। पर हाँ, तुम कहाँ वहाँ आओगी?···तुम हवाई-जहाज और एयर-कण्डीशन्ड कूपों में चलने वाले लोग हो। अपने यहाँ हम बैठायेंगे भी कहाँ तुम्हें?···" फिर उधर के जवाब में बोले: "अच्छा हाँ, हाँ, परसों ग्यारह बजे, ठीक···"

मैं लायब्रेरियन को देखकर मुसकराई: देख लो, लड़की को ही फोन कर रहे हैं न। उन्होंने हमें आते देख लिया था और सच ही ऐसे संकुचित हो उठे थे जैसे चोरी करते पकड़े गये हों। लायब्रेरियन ने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से उनके पास जाकर सीधे ही कहा: "आओ उदय, तुम्हारा परिचय एक बहुत बड़ी कहानी-लेखिका से करा दें। ये हैं सुजाता। हमारे यहाँ सिक्स्थ इयर की स्टूडेण्ट हैं। पिछली बार अन्तर्विश्वविद्यालय कहानी-प्रतियोगिता में इनकी कहानी सर्व-श्रेष्ठ आई थी। अभी दो-तीन कहानियों से ही इन्होंने कॉलेज और बाहर धूम मचा दी है। कॉलेज-ड्रामा-यूनियन की ज्वॉयण्ट-सेक्रेटरी हैं। अभी हमारे यहाँ एक

नाटक होनेवाला है, उसमें ध्रुवस्वामिनी यही बन रही हैं।"

सिर झुकाये मैं जैसे गड़ी जा रही थी, मानो लायब्रेरियन को मैं मिलाकर ले गई थी। टेलीफोन रखकर शिष्टता से हाथ जोड़ते हुए उदय ने कहा : "बड़ी खुशी हुई। इधर तो आपकी कई बहुत अच्छी कहानियाँ निकली हैं। कोई कहता था..."

"अरे मा'व शोर हैं इनके।" कहते हुए लायब्रेरियन उनकी ओर मुड़कर बोले : "इनका तो परिचय दे ही चुका हूँ। क़ायदे से तो ये मेरे छोटे भाई हैं। हमें तो यही खुशी होती है कि हमारे शहर का नाम रौशन हो रहा है। सुजाता जी के पिता डाक्टर हैं उदय, कभी जरूरत हो तो बताना। अपनी ही तरफ के हैं। अच्छी प्रैक्टिस है।" फिर मुझसे बोले : "अब इनसे सीख लो कहानियाँ लिखना। ऐसा ऐक्सपर्ट नहीं मिलेगा। गुरुजी तो शास्त्रीय तत्त्वों के सिवा कुछ नहीं बता सकते।"

लायब्रेरियन साहब का यह अपने को हम दोनों से ही घनिष्ट दिखाने का ढंग मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। कलाइयों तक जुड़े हुए हाथोंवाला कलात्मक नमस्कार करके मैंने सिर झुका लिया था। ये देवता अपना भाषण बन्द करें तो मैं भी कुछ बोलूँ। उनके चुप होते ही बोली : "जानती तो बहुत दिनों से थी। सुना भी बहुत था। अभी-अभी उपन्यास पढ़कर समाप्त किया है।"

जवाब में वे सूने-सूने से एक ओर देखकर हल्के-हल्के मुस्कराते रहे। स्पष्ट ही अभी भी वे टेलीफ़ोन की बातों में खोये थे। कौन थी दूसरी ओर?—मैं कुछ देर अपनी बात के उत्तर की राह देखती रही, फिर जाने कैसे मुँह से निकल गया : "कभी आइए न, हमारी ओर?"

वे सहसा चौंके। एक क्षण उनकी भौंहें फड़कीं। बोले : "अच्छी बात है, आऊँगा कभी। अब चलूँ?"

मुझे लगा जैसे मुझसे कहीं ग़लती हो गई। मेरे 'कभी आइये' कहने में मानो ध्वनित होता हो, देखिए वैसे तो हम बहुत व्यस्त आदमी हैं, लेकिन कभी जब मन न लगता हो, कोई काम न हो, सिनेमा का 'शो' शुरू हो चुका हो, तब आ जायें तो अच्छा रहेगा। कुछ समय हम दे सकेंगे। मगर 'कोई कहता था' कहकर मेरी कहानियों के बारे में कहना मुझे भी चुभा। इन्होंने जरूर मेरी कहानियाँ पढ़ी हैं, और अब बन रहे हैं। एक तो लड़की कहानी-लेखिका की कहानी कोई न पढ़े, यह मैं मान नहीं सकती। फिर दूसरे इसी मास की 'धारा' पत्रिका में इनकी भी तो कहानी छपी है मेरी के साथ। कैसे हो सकता है कि उन्होंने उसे न पढ़ा हो? फिर ध्यान आया कि यह जो टेलीफ़ोन से किसी से कह रहे थे कि

'आप तो हवाई-जहाज और एयर-कन्डीशण्ड कूपों में चलने वाले लोग हैं, यह बात जरूर वे हमें ही आते देखकर कह रहे होंगे। यह जताने को कि हमारा भी परिचय 'बड़े लोगों' से है।

"मिल तो लिये ही। अब घर जाने से ही क्या है?" वे सीधे मेरी ओर न देखकर बोले। स्वर में नम्रता थी और निगाहें लायब्रेरी से बाहर।

न आयें अपने घर बैठें—मेरे मन में आया। किसी का बनना मुझे बहुत बुरा लगता है। मैं जानती थी, रचना के बारे में बात करना लेखक की सबसे बड़ी कमजोरी है। बोली: "नहीं, मैं आपके उपन्यास के बारे में बातें करना चाहती थी कुछ। अभी-अभी पढ़कर चुकी हूँ। उसके एक पॉइण्ट पर रेखा से काफ़ी बहस हो गई थी। रेखा मेरी क्लास-मेट है।"

तीर निशाने पर लगा। वे मुसकरा पड़े और इधर-उधर देखकर बोले—"आइये, चलते-चलते ही बातें करें। यहाँ तो लोगों को बाधा पड़ेगी।"

इसे कहते हैं कहानी-लेखिका की निगाह। मैं विजय से मुसकराई। बाहर उन्होंने बड़े ही तटस्थ बनकर पूछा: "कैसा लगा आपको?"

"यहाँ नहीं। किसी दिन आपको फ़ुर्सत मिले तो घर पर ही बातें करूँगी विस्तार से।" मैं अनजाने ही फिर पहली बात पर आगई। निहायत भोलेपन से कहा: "मुझे आपकी रश्मि के बारे में बहुत-सी बातें पूछनी हैं। बताइये आपको समय कब है?"

उन्होंने ऐसा भाव दिखाया जैसे वे बहुत ही व्यस्त व्यक्ति हों और खाली समय पाना उनके लिए कठिन समस्या है। मन में हँसी आई, और ऊपर से श्रद्धा सँजोए रही। वे बोले, "देखिये, मैं वायदा नहीं करता, लेकिन आया तो परसों सन्ध्या को सात बजे तक आ जाऊँगा। आप राह मत देखिये।"

"अगर-मगर नहीं, आप आ रहे हैं।" मैंने जोर देकर कहा। कागज निकालकर अपना पता और टेलीफ़ोन-नम्बर लिखकर बोली—"इस नम्बर पर टेलीफ़ोन कर दीजिए।"

"देखिए, वायदा नहीं करता। असल में उस दिन एक सज्जन छः-सात बजे तक मिलने आयेंगे। नहीं आये तो आपकी तरफ़ आ ही जाऊँगा।" वे नमस्कार करके बोले: "अब चलूँ?"

वे सीधे चले गये। मन ही मन मुझे हँसी आ गई। चलने पर यहाँ से तो सीधे चले गये हैं, मोड़ पर जरूर देखेंगे मुझे।

अपने उपन्यास का जिक्र आते ही मुझे निकाल कर ले आये और खुद ही व्यस्त बनकर चल दिये। इन बातों को मैं खूब समझती हूँ। जानती हूँ मित्र

आयें या न आयें, लेकिन ये जरूर आयेंगे। नारी का निमन्त्रण हो, और पुरुष—वह भी कलाकार—अस्वीकार कर दे ? सारे दिन जाने क्यों मन पर बड़ी प्रसन्नता छाई रही। आखिर लोग कहानीकार के रूप मे जानने तो लगे ही हैं मुझे। मैंने एकदम बुलाकर बुरा तो नही किया ? कही यों न सोचने लगें कि मुझे एकदम सस्ता समझ लिया है ? नही, ऐसा नही सोचेंगे। लड़की हूँ, हो सकता है चाहते हुए भी संकोचवश ज्यादा न बोल पाये हों पहले-पहल। आखिर ये लेखक लोग क्या-क्या सोचते है हम लोगों के बारे मे ? और ठीक वही लिखते हैं जो सोचते हैं ? मुझे फोन-नम्बर नही देना चाहिए था। कही यह न सोचें कि बहुत बडे घर की फोनवाली लडकी है, इसलिए बुलाने की धृष्टता कर रही है। या हो सकता है हिम्मत ही न पडे। नही, ऐसा नहीं है। बम्बई में रहते हैं आखिर। जाने-बूझे आदमी हैं। इन लेखक लोगों का दिमाग भी पता नही कैसे-कैसे चलता होगा। कही उन 'फूल' जी की तरह पीछे लग गए तो ?

उन 'फूल' जी की याद करके तो आज भी मन सिहर उठता है। आपने कहीं किसी कहानी में मेरा पता पढ़ लिया। चले आये घर। कुछ अपनी छपी चीज़ों की कटिंग भी लाये थे, "जी, मैं फूलचन्द 'फूल' हूँ। आपकी कहानी बडी अच्छी लगी। मुझे भी लिखने का शौक है।" और इसके बाद जो चुप हुए तो फ़िलासफरों की तरह तीन घण्टे बैठे-बैठे सिगरेट फूंकते रहे। घरवाले परेशान कि किसे बैठा लिया है जो उठने का नाम ही नही लेता। छः बजे आकर रात को दस बजे गये। बैठे-बैठे आप खोये-खोये ऐसे देखते रहे मानो जीवन के जाने किन गम्भीर रहस्यों को मन के भीतर छुपाये हुए हैं। उस दिन तो सच, इतनी बोर हो गई थी कि रोने-रोने को हो आई। जाने क्या प्रभाव डालना चाहते थे अपनी इस अदा-से ? दूसरे दिन सोलह पन्नो का लम्बा खर्रा चला आया। क्या-क्या लिखा था उसमें याद भी नही है। फोन आया तो मैंने साफ कह दिया—"आपने क्या मुझे बेकार समझा है, या बेघर-बार हूँ मैं ? आप को चुप बैठकर सिगरेट पीनी है तो जाकर समुद्र के किनारे बैठिये।" बाद मे सुना, उन्होंने मुझे लेकर कोई बहुत गन्दी कहानी लिख डाली है। कहीं ये साहब भी ऐसे ही हुए तो ? नही, ये ऐसे नही होंगे। वह तो सूरत से निहायत घुटा हुआ लगता था। लेकिन पता नही, उदय की सूरत मे ऐसा क्या था कि मुझे लगा जैसे मैं सहसा चौंक उठी हूँ।

···जाने क्यों फिर तेज की याद आने लगी है। सचमुच मुझे भूल गया तेज···?

मंगल, ४ जून

आज सारे दिन सोचती रही कि उन्हें किस कमरे में बैठाया जाय। ड्रॉइंग-रूम तो ठीक नहीं रहेगा। पता नहीं, एटहोम महसूस करें या नहीं। पापा के सोफ़े-कुर्सी को देखकर जाने क्या सोचें। दूसरे वहाँ बैठेंगे तो पापा से भी परिचय कराना पड़ेगा, व्यर्थ में दोनों के सामने धर्म-संकट आयेगा। पापा डॉक्टर आदमी, उन्हें साहित्य से क्या लेना-देना? वे रेडियो में मेरा नाम सुनकर, अखबारों में तस्वीर देखकर, कहानी पढ़कर और लोगों से यह सुनकर ही फूले रहते हैं: "डॉक्टर साहब, आपकी लड़की बड़ी होनहार है। प्रतिभा है सुजाता में।" इस सब से उनकी आँखें चमक सकती हैं, वे गद्‌गद हो सकते हैं; लेकिन सच बात है, चाहे लेखक हो या कोई और, एक बहुत ही साधारण स्तर का कुर्ता-धोती पहने आदमी उनके घर आकर बड़े अफ़सरों या धनियों जैसा सम्मान पाये, यह उन्हें शायद अच्छा कम लगे। कहेंगे तो कुछ नहीं। सोचती हूँ, एक चलता-सा परिचय कराके सीधे अपने कमरे में ही लाया जाय। लायब्रेरियन साहब तो कहते थे कि लड़कियों की सूरत देखते ही उनके प्राण सूख जाते हैं और उस दिन सम्पादक जी बताते थे कि भले घर में उठाने-बिठाने लायक नहीं हैं। कहीं किसी ने पापा से कह दिया तो जान ख़ा लेंगे कि कैसे-कैसे लोगों से मिलती-जुलती हूँ मैं! जाने किसके कहने में आकर आपने मेरा अच्छा-खासा सितार बन्द करा दिया—नहीं, इन नचकैयों-गवैयों की न कोई जात-पाँत न स्टैण्डर्ड। अकेले-दुकेले देखें तो बदतमीजी कर बैठें। ख़ाम्ख़ा रुपये की इज़्ज़त जाय।

ख़ैर, जो भी हो। एक बार बुला लिया है तो निभाना ही पड़ेगा। कोई ऐसी-वैसी बात देखूँगी तो नहीं बुलाऊँगी आगे से। भीतर यही सब सोचती हुई सुबह से कमरा ठीक करने का प्लान बनाती रही। कुर्सियाँ कैसे रखी जायँ? कुछ अच्छी-अच्छी किताबें निकालकर मैंने सामने ही रैक पर रखीं ताकि आते ही निगाह पड़े। साथ ही ऐसा भी न लगे कि आज ही निकाली हैं। सारी चीज़ों को सधे, सँवरे और सुथरे ढंग से रखा जाय या बिखरे और लापरवाह ढंग से—यही निर्णय करने में मेरा काफ़ी वक्त गया। बिखरी हुई चीज़ों में कलाकारों जैसी निश्चिन्तता रहती है। कल गुलदान में ताज़े फूल लगा दूँगी। फ़ुरसत मिले या न मिले, या याद ही न रहे इसलिए आज ही एक मोटी भारी-भरकम-सी किताब को बीच से खोलकर मेज़ पर रख दिया, लगे पढ़ रही थी। जाने किस समय आ जायें, कल। आज भी जाने क्यों, कई बार बाहर जाकर देखा। कल एकदम ऐसी बेचैनी दिखलाऊँगी तो घरवालों को अच्छा

नहीं लगेगा। आज भी कई वार बाहर आने-जाने से समझेंगे कि यह मेरा अभ्यास है। नौकर से कहा—एक कोई बहुत सादे से कपड़ों में आयेंगे। उन्हें मेरे कमरे मे सीधे भेज देना। उनके हाथ में एकाध किताब होगी। ऐसा न हो कि कोई मरीज-वरीज समझकर खुद ही न टाल दे। या पापा की तरफ मोड दे। फिर बाल्कनी के दो-एक चक्कर लगाये। दुबारा इधर-उधर घूमती अक्का को सुनाकर कह आई, "जब वे आजायें तो सीधे चाय-नाश्ता ले आना। मुझे कहने के लिए उठकर न आना पड़े।"

मन ही मन देखा, उन्हें खिड़की की तरफ बैठाना ज्यादा ठीक रहेगा। मेरी मेज, किताबें, खिड़की से दीखता शिवाजी पार्क का हरियाला मैदान, फिर मकानों और नारियल के कुंजों की गोटोंवाला समुद्र—सामने एक रमणीक वातावरण रहेगा। पर्दा हटाना पड़ेगा किसी बहाने। पहले से हटा दूंगी तो सुन्दर पर्दे और मेरी रुचि की प्रशंसा में बाधा पड़ेगी। अगरबत्ती पीछे जलनी चाहिए, ताकि धुंआ मन्थर गति से खिड़की की ओर लहराये। कोई तस्वीर तो ऐसी नहीं है जो अच्छे टेस्ट की न हो। तस्वीरों को ध्यान से देखा। रवीन्द्रनाथ का एक रेखा-चित्र, सुधीर खास्तगीर द्वारा बनाई हुई गाँधीजी की तस्वीर और दो-एक लैण्डस्केप। ठीक तो है। मगर उन्हें खिड़की की ओर मुंह करके बिठाना ठीक नहीं होगा। असल में उधर मुझे मुंह करके बैठना चाहिए, ताकि रोशनी मेरे चेहरे पर भरपूर पड़े।

बुध, ५ जून : संध्या ६ बजे

···उनके आने में एक घण्टे की देर है और समय बहलाने के लिए मैं डायरी लिखने बैठ गई हूँ। मन में यह भी भाव है कि जब वे आकर दरवाजे पर खड़े हो जायें तो मैं डायरी लिखते-लिखते इस तरह चौंक कर उठूं जैसे, अरे आपके आने की बात तो मेरे दिमाग से ही उड़ गई थी। बाहर के कई चक्कर लगा चुकी हूँ। अपने इस उतावलेपन पर खीझ भी होती है। आना होगा आ जायेंगे, इसे लेकर इतना सिर-दर्द करने की क्या जरूरत है।

सारी बातों के बावजूद दिनभर बड़ी अजब बेचैनी और गर्व महसूस होता रहा कि एक प्रसिद्ध और मेरी दृष्टि से सफल व्यक्ति मुझसे मिलने आ रहा है। वह तो मैंने ही बात सँभाल ली, वर्ना उस दिन करीब-करीब नाराज से ही हो गये थे। कई बार क्लास की लड़कियों से बात-बेबात कह दिया "भाई आज शाम का

हम कोई प्रोग्राम नहीं रक्खेंगे। आज तो हमारे यहाँ उदय जी आ रहे हैं।" एकाध ने पूछ लिया: "कौन उदय?" तो मैंने झिड़क दिया—"अरे, लो। है न एकदम मूर्खा। वही तो अपनी लाइब्रेरी में जिनका नया उपन्यास आया है। प्रोफेसर वर्मा बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। आप उदय को नहीं जानतीं?—मैं कहती हूँ कुछ कोर्स के बाहर भी पढ़ा-लिखा करो।" कहनेवाली बिचारी झेंप मिटाती—"कौन हम तेरी तरह कहानीकार हैं बाबा!"—एक ने जैसे कराहकर कहा—"तुझे नाम पैदा करना है। हमें तो कहीं कहीं जाकर या तो टीचरी करनी है या बहुत हुआ तो दो-चार दर्जन बच्चे पैदा करने हैं।" अपनी ही बात से झेंप उठनेवाले उसके चेहरे की ओर ध्यान न देकर मैं तुच्छता से मुसकरा देती—बेचारियों की ज़िन्दगी!

इस समय मैंने कपड़े नहीं बदले। अधिक से अधिक सादा रहने का विचार है। ऐसा न लगे कि दस मिनट पहले ही साड़ी बदली है। डायरी लिखते मिलने की बजाय यह भी हो सकता है कि उनके आते ही मैं भीतर चली जाऊँ। कमरे में बैठाकर नौकर कहे: "बाई गुसलखाने में हैं।" फिर मैं क्षमा माँगती-सी निहायत ही सादे वेश में बिना बाल काढ़े ही आऊँ। कहीं कोई हरकत न हो जाये कि किसी उपन्यास-कहानी में लिख डालें···लो फ़ोन की घण्टी बज रही है···किसी मरीज़ का होगा। उठा लेगा सिद्दू। अरे, मुझे ही आवाज़ लग रही···!

संध्या: सात बजे

तबीयत ऐसी भन्ना रही है कि मन होता है ये सारे कागज़-पत्तर फाड़ कर चिथड़े-चिथड़े कर डालूँ। कमरे की सारी चीज़ें उलट-पलट दूँ। सचमुच इन कलाकार लोगों की गैर-ज़िम्मेदारियों के मारे नाक में दम है। ऐसा पता होता तो रेखा के साथ वहीं प्रोग्राम बना लेती। ज़रा हैंगिंगगार्डेन्स में ही मज़ा रहता।

उनका फ़ोन आया: "देखिए, सुजाता जी, कैसे कहूँ। बड़ा लज्जित हूँ। मेरी बहन ज़बर्दस्ती सिनेमा घसीटकर ले जा रही है। वाक़ई, बड़ा ही अफ़सोस है कि मैं नहीं आ पा रहा।"

जी में आया फ़ोन पटक दूँ। बुझे स्वर में बोली: "ख़ैर, कोई बात नहीं। वैसे मैं आपके आने की राह ही देख रही थी। बाहर थी, भागी-भागी चली आ रही हूँ, कहीं आप आकर अकेले बैठे बोर न हो रहे हों। मैं तो बहुत-सी बातें करने को बैठी थी। लेकिन जब बहन की बात है तो कहूँ ही क्या? आपका यह आना रह गया।"

"अब क्या कहूँ? मैं ज़रूर आऊँगा। आने से पहले फ़ोन कर दूँगा। क्या करूँ

वहन की बात टाल नहीं सकता, नहीं तो···"

"अरे नहीं। ऐसा क्यों करते हैं ? अच्छा, ऐसा कीजिए आप अपना फ़ोन बता दीजिए। मैं खुद याद दिला दूंगी, वर्ना, आप बड़े आदमी हैं। भूल-भाल जाँय।"

उस तरफ से वे हँस पड़े : "नहीं जी, अपने पास कोई फ़ोन-वोन नहीं है। जो कोठरी है वह भी किसी को बुलाने-बैठाने लायक़ नहीं है। इसलिए किसी को बुलाता-वुलाता भी नहीं हूँ। अच्छा है, इन बड़े आदमी की पोल न खुलवायें।"

और जब धीरे से हँसकर फ़ोन रख दिया तो कुछ देर तो उनकी खुले ढंग की बातों पर भरी-भरी हँसी आती रही, पर फिर मन तलखी और झुंझलाहट से भर गया। मुझे साफ़ लगता है यह बहन-वहन की बात बिलकुल झूठ है। वे या तो अपने-आपको बहुत तीसमारखाँ लगाते हैं कि नौसिखुओं से क्या मिलें, या फिर सचमुच बहुत ही झेंपू हैं—लड़कियों के सामने प्राण निकलते हैं। ऐसा ही था तो कहा क्यों था उन्होंने ?···बड़ा दम्भ है ! मेरा आज का सारा प्रोग्राम और दिन बरबाद कर दिया न। पता नहीं, अपने को क्या समझते हैं !

हीनता और व्यर्थता की कचोट जहाँ मन को बोझिल बना रही है और उसे क्षुब्ध झुंझलाहट के रूप में बाहर बिखेर देना चाहती है, वहीं एक निश्चिन्तता भी है : चलो जान छूटी। अब फिर-की-फिर देखी जायेगी।···

बृहस्पति, ६ जून : प्रातः साढ़े पाँच

प्रोफ़ेसर साहब की बात रात भर दिमाग़ में दुहराती रही, "ये लोग दो किताबें लिखकर ही पता नहीं अपने को क्या समझने लगते हैं। रस का एक सवाल पूछ लिया जाय तो बगलें झाँकने लगें। और बिहारी के एक दोहे का अर्थ इनके बाप भी नहीं समझा पायेंगे। इनको इन्टर के इम्तहान में बैठा दो, न एक-एक को फेल कर दूं तो नाम बदल देना। साहित्यिक हुए हैं तुलसी, सूर··" और भी न जाने कितनी और क्या-क्या गालियाँ दे लेने के बाद भी, मन में एक अनजानी उदासी और बोझिलता-सी छाई रही और उनकी इस उपेक्षा पर बार-बार भीतर से रोना-सा आने लगा। जब कह दिया था तो आये क्यों नहीं ? सचमुच, क्या मेरा लिखना किसी काबिल नहीं है ? कॉलेज, घर-बाहर की सारी प्रशंसा क्या केवल मुझे बहकाने और भुलाये रखने के लिए है ? वे सब एक 'उदीयमान प्रतिभा' को प्रोत्साहन भर देने के लिए कहे गये शिष्टता के वाक्य हैं, और कुछ नहीं ?

मैं लड़की हूँ, यही इस सारे यश का आधार है ? जी में आया कि अपने इस सारे लिखे को फाड़ डालूं। लेकिन सुबह तक अवचेतन रूप से मन में एक कचोट बैठ गई थी कि इस व्यवहार के पीछे चाहे लड़कियों से झेंपना हो या अपने को बहुत तीस-मारखां लगाना; इस आदमी की असलियत से एक बार टक्कर जरूर लेनी है।

शनिवार, ८ जून

पिछले दो-तीन दिनों से एक अजब चीज अपने भीतर मार्क कर रही हूँ। बस-स्टॉप पर खड़े-खड़े अचानक लगता है जैसे पीछे उदय खड़े हैं, मैं पीछे मुड़कर देखूंगी और चौंककर कह उठूंगी, "अरे, उदय जी, आप ?" लगता, जैसे कॉलेज के बाहर की सड़क पर ही अचानक वे जाते दीख जायेंगे, या जैसे ही मैं किसी लोकल-स्टेशन में घुसूंगी, तो देखूंगी कि वहां हाथ में एक किताब दबाये वे भी टहल रहे हैं। मैं अनजाने रूप से जाकर उन्हें चौंका दूंगी। इस बम्बई में लाखों आदमी रहते हैं और इस तरह की कल्पना कितनी निराधार है—यह भी मैं जानती हूँ; फिर भी अनुद्वेगपूर्ण निरन्तर चलती प्रतीक्षा है और कॉलेज से आते ही सबसे पहले अम्मा से पूछती हूँ : "कोई फ़ोन आया था क्या ?" मैंने देखा, इन दिनों मुझे लायब्रेरी में जाने के कई काम निकल आये हैं—शायद पहले की तरह वहीं मिल जायें ? आज पैदल उस रास्ते भी मार्च किया, जहां एकाध बार उन्हें आते-जाते देखा था। व्यर्थ ही दो-एक किताबें खरीद लाई और सांझ तक सोच लिया कि नहीं मिलते तो जायें भाड़ में। इतना अहंकार ? अब मिलें भी तो वह रुखाई दिखाऊँगी कि याद करेंगे···!

रविवार, ९ जून

आज उदय से मुलाक़ात ही नहीं हुई, मेरे साथ आये भी···

कॉलेज साहित्य-सभा की एक गोष्ठी थी और उस में वे भी आये थे। मन्त्री अरुण ने कई बार मुझसे कहा—"देखिए, गोष्ठी बड़ी 'डल' हो रही है। लोग व्यर्थ ही आपस में उलझ रहे हैं। सुजाता जी, आपने कोई कहानी भी नहीं पढ़ी। अब ऐसा कोई विषय उठाइए कि लोग दिलचस्पी भी लेना शुरू करें।" मेरा इरादा तो यों चुप ही रहने का था, लेकिन इस अरुण के ज़रिये अपने नाटक

'ध्रुवस्वामिनी' के लिए हॉल लेना था। झेंप लगी कि क्या सवाल उठाऊँ ? फिर आया, क्यों न उदय जी को ही घसीट डाला जाय ! बड़ा अपने को उपन्यासकार लगाते हैं ! इससे इनको यह भी पता लग जायेगा कि मैं सचमुच इण्टेलिजेंण्ट और समझदार हूँ, 'यों ही बेचारी लड़की' नहीं हूँ। हालाँकि मुझे देखते ही उन्होंने इस बार अतिरिक्त नम्रता से नमस्कार किया था, लेकिन दूर पड़ जाने से बात बाद के लिए रह गई।

मैंने सवाल क्या-क्या किये यह तो याद नहीं है, लेकिन इतना जरूर है कि उदय को काफ़ी सफ़ाई देनी पड़ी और फिर भी लोगों को उनके जवाबों से सन्तोष नहीं हुआ। गोष्ठी के बाद अलग आकर वे बोले : "आज आपने बदला निकाल लिया। उस दिन के लिए सचमुच, मैं बहुत लज्जित हूँ। क्या करूँ, तैयार होकर निकला तो देखा, सामने बहन आ गई। बोला, 'नहीं कहीं नहीं जाना। सिनेमा चलेंगे।' क्या करता ?" माथे पर बिखरे हुए बालों को समेटकर यह वाक्य उन्होंने कुछ ऐसे भोले अन्दाज़ से कहा कि मन में आया हँस पड़ूँ। एक निमिष भर को आया, उनके शेष बालों को खुद समेट दूँ : 'हजरत, करते आप कुछ भी, लेकिन इन बालों को तो समेटिए।' लेकिन ऊपर से निहायत गम्भीर बनी रही : "नहीं-नहीं, लज्जा की क्या बात है ?" और इस तरह जैसे किसी और को खोज रही हूँ, सिर घुमा-घुमाकर इधर-उधर देखती रही—"आपकी बहन साथ ही रहती हैं क्या ?"

"नहीं जी, जाते हुए दो-एक दिन को रुक गई है। अच्छा, अब कब फ़ुरसत है आपको ?"

मैं उनसे बातें कर रही हूँ, इसे प्रोफ़ेसर वर्मा ने कई बार मार्क किया। मेरे मुँह से निहायत ही लापरवाही से निकल गया "जब भी आपको फ़ुरसत मिल जाय। मैं तो कॉलिज के बाद घर ही रहती हूँ। रेखा-वेखा के साथ इधर-उधर निकल गये, तो कह नहीं सकती।" लेकिन अपना लहजा मुझे ही बड़ा अशिष्ट-सा लगा। अगर कोई सौजन्यवश नम्र है तो इसका अर्थ अनावश्यक रूप से उद्धत हो जाना तो नहीं है। वैसे ही कम दम्भी नहीं हैं। इसलिए सारी बात को परिहास का रूप देते हुए आगे जोड़ दिया—"भगवान् ने हमें कोई ऐसी बहन ही नहीं दी कि सिनेमा-नाटक दिखाने घसीट ले जाती।" और इस बार सचमुच मैंने देखा कि उनका चेहरा झनझनाकर लाल हो उठा : अरे, यह तो दम्भी-वम्भी कुछ नहीं, झेंपू हैं ! कई बार मन में कुलबुलाहट होती रही कि कोई ऐसी बात कह दूँ और चेहरा फिर उसी तरह लाल हो उठे। किसी को चिढ़ाने में भी सचमुच कितना आनन्द आता है। बालों की पिन से मैं अपने नाखून साफ़ क

थी और तेज को इसी बात से बड़ी चिढ़ थी। मैं थी कि उसके सामने अदबदाकर यही करती। मैंने पूछा : "अब कहीं जायेंगे क्या ?" अपने स्वर में मैंने ध्वनित होने दिया; जैसे फिर शायद बहन से मिलने जाना हो।

व्यंग्य को उन्होंने पकड़ा और हठ-पूर्वक बोले—"नहीं, अभी तो कहीं नहीं जाना। चलिए।" उनके यों अचानक तैयार हो उठने पर मैं धर्म-संकट में पड़ गई। खास तौर से कॉलिज के कुछ लोगों के बीच उदय का नाम अच्छे सन्दर्भ में नहीं लिया जाता, उनके साथ यहाँ से बाहर निकलना सब का ही ध्यान अपनी ओर खींचेगा। पर अब क्या हो ? प्रोफ़ेसर वर्मा को खास तौर से बुरा लगेगा। हुंह, मेरी हर गति-विधि के परिचालक वे ही हों, ऐसी अण्डरस्टैंण्डिंग तो मैंने कभी नहीं दी। दूसरी दिशाओं से अपना ध्यान हटाने के लिए रास्ते भर मैं उनसे सिर्फ़ कॉलिज और उस गोष्ठी पर ही बोलती आई, यहाँ की सारी राजनीति और भीतरी बातें बताती रही, और वे कभी गम्भीरता से और कभी हँसकर सुनते रहे। मैं उन्हें सीधे अपने कमरे में ले आई···।

रास्ते भर जिस आशंका की मैं कल्पना करती आई थी, कमरे पर आकर उसे मैंने मानो नये सिरे से देखा। मेरा सख्त ऑर्डर था कि मेरी अनुपस्थिति में मेरे कमरे में कोई क़दम न रखे। कई बार इस बात पर महाभारत हो चुका था। अब देखा : सुबह यह रिबन और क्लिप मेज़ पर डालकर चली गई थी, सो यों ही पड़े थे। क्रीम की शीशी का डिब्बा खोलकर मेज़ के नीचे छोड़ गई थी, वह भी यों ही रखा था। अपनी इस सनक पर मुझे इस समय बड़ा क्रोध आया। कम से कम कमरा झाड़-बुहार तो जाता ही। यों बहुत अस्त-व्यस्त नहीं था; लेकिन जैसा मैं चाहती थी वैसा भी नहीं था। कोई बहुत हल्के क़िस्म की कहानियों की किताब बिस्तर पर पड़ी थी, और बुक-मार्क की जगह उसमें कंघा लगा था। कहीं उस पर उनकी निगाह न पड़ जाय, जाने क्या सोचें। मैंने आते ही अपने हाथ की सारी किताब-कापियाँ उसी किताब पर डाल दीं और उस 'अपराध' को छिपाने के मानसिक संकोच को ज़रा खुले व्यवहार से ढँकने के लिए उन्हें कुर्सी की ओर संकेत करके खुद पलँग पर बैठती हुई बोली—"कहिए, चाय पियेंगे या कॉफी, या कुछ ठण्डा ?"

"जी, इस समय तो कुछ नहीं चलेगा···" मेरी किताबों को निगाहों से टटोलते हुए वे बोले।

"देखिए, मैं कॉलिज और घर में अपने खुलेपन के लिए काफ़ी बदनाम हूँ। अम्मा भी कहती हैं शर्म-हया इसे छू नहीं गई है, लेकिन आपके सामने मुझे काफ़ी तमीज़ से रहना पड़ रहा है। लगता है इससे काम चलेगा नहीं। मैंने

पलँग पर, पीछे दोनों हाथ टिका दिये और अनजाने ही उस किताब के दीखते कोने-को भीतर सरका दिया। सामने दीवार की तस्वीर के शीशे में मुझे अपनी परछाईं दिखाई दे रही थी और अपना वह पोज मुझे बहुत अच्छा लगा।

"अक्का कौन ?" प्रयत्नपूर्वक वे मुझे सीधे नहीं देख रहे थे।

"हम लोग इधर बहुत दिनों से हैं न, सो मैं अम्मा को अक्का कहने लगी हूँ। भैया की देखा-देखी कहने लगी।"

"ओः," वे जैसे इस कमरे में अपने को बड़ा अस्त-व्यस्त पा रहे थे। कुछ देर चुप रहकर बोले—"आप तो बहुत ही पास रहती हैं।"

"आप भी इधर ही कहीं रहते हैं क्या ?"

"बस यहीं ब्रॉडवे के सामने ही ज़रा हटकर समझिए।" फिर शायद उन्हें ध्यान हो आया कि वे अपनी व्यक्तिगत बात ले बैठे हैं। पूछा . "क्या लिख रही हैं आजकल ?"

'यह तो मैं ज्यादा उत्सुक थी आपसे जानने को। उस उपन्यास के बाद क्या लिखने की योजना बन रही है। " मैं जानती थी कि किसी भी लेखक को झुकाने-के लिए सबसे पहला प्रश्न यही करना चाहिए।

"मैंऽऽ···?" वे 'मैं' को खींचकर बड़ी निराशा से हँसे—"आपकी इस बम्बई में कोई आदमी लगकर लिखने का काम कर सकता है ? बाहर निकलो तो भाग-दौड़, मोटरें, भोंपू, रेलों-ट्रामों की चिचियाहट—जैसे किसी तेज़ी से घूमती चर्खी पर आदमी बैठा हो, ज़रा पकड़ छूटी नहीं कि जाने कहाँ जा गिरे। और जिस चाल में आप रहते हों, उसकी कोठरी में धुँआ, घुटन, फिसलन, शोर, लड़ाई-झगड़ा, चोरी, एक मुसीबत है ? बताइए इसमें आदमी क्या लिखे ? लिखते वक़्त तो सचमुच अपने शहरों की बड़ी याद आती है।" उनकी भौंहों पर एक पनीला बादल जैसे घिर आया। मुझे लगा जैसे उनकी भौंहों की बनावट में कुछ ऐसी बात है जो मुझे चुभ जाती है···।

और नौकर से कॉफी के लिए कहने जाते हुए मैंने एक बार उनके चेहरे को ग़ौर से देखा—साँवला रंग, लम्बा चेहरा, घनी भौंहें और माथे पर तिलक या शिव के तीसरे बन्द नेत्र जैसा किसी घाव का लम्बा-सा निशान। इस आदमी के दिल में भी जाने कैसी-कैसी स्मृतियाँ और आकांक्षाएँ होंगी। अक्का कुछ और न समझें, इसलिए बताया कि बहुत बड़े लेखक हैं, कॉलेज में सब से बड़े प्रोफेसर हैं, बड़ा नाम है, लेकिन रहते बहुत सादा हैं। अपना कोठी-बंगला सब है, कार है। देखकर कोई जान भी नहीं सकता कि इतने बड़े आदमी हैं।

लौटी तो वे खिड़की से बाहर खुले चन्द्राकार मैदान को देख रहे थे। कमरे में

प्रवेश करने से पहले एक वार अपने को जाँचनेवाली निगाहों से ऊपर से नीचे तक देखा था। साड़ी के पल्ले को कन्धे से लाकर वग़ल में खोंस लिया था। इससे शरीर ज्यादा चुस्त दिखाई देता है। वाँहें खींचकर नीचे की ओर माथे पर झूल आई लट को यों ही रहने दिया, अच्छी लगती है। पता नहीं उदय ने कैसे जान लिया कि मैंने प्रवेश किया है। 'शायद नारी की उपस्थिति को पुरुष अपनी हर चेतना से पा लेता है।'—मन में सूक्ति आई। कहीं लिखने में प्रयोग करूँगी। हँसी भी आई। मुसीवत है लेखक होना भी। जिन्दगी की हर वात को वस, लिखने की दृष्टि से सोचना। आते ही मैंने अपने पलँग की कितावों, मेज़ के काग़ज़ों को देखा, उन्हें मेरी अनुपस्थिति में छुआ तो नहीं गया है। वे ज्यों-के-त्यों थे। हाँ, खिड़की-का आधा पर्दा एक ओर सरका दिया गया था।

"वम्वई में तो आदमी को सिर्फ़ दो ही जगह रहना चाहिए।" वे मेरे आते ही मानो अपने-आप से कह रहे थे: "एक तो यहाँ शिवाजी पार्कमें या फिर कहीं दूर जुहू या वारसोवा के शान्त किनारों पर। यह खुला ग्राउण्ड,म कानों की क़तारें, सीमेण्ट के फुटपाथ और चिकनी-चिकनी सड़कें, सामने नारियल के पेड़ और दूर पर सागर की लहराती, इठलाती खुनकीली हवा—रीयली इट्ज़ रोमैण्टिक··· ऐसी शांति···" वे खोये-खोये से कहते रहे—"मेरा एक परिचित विज़नेसमैन मित्र वताता था कि जव इस शोर-शरावे से ऊवकर उसकी तवीयत कहीं दूर भाग जाने की होती है, तो वह अपनी विल्डिंग की सवसे ऊँची छत पर चला जाता है और कानों में वुरी तरह रूई ठूँसकर दो-चार घण्टे शान्ति से आराम करता है···" फिर उस मित्र की इस हरक़त पर खुद ही हँसे। रुककर वोले—"आदमी यहाँ नहीं लिखेगा तो कहाँ लिखेगा?"—शायद तभी उन्हें याद आ गया—वह सारी वातें सोलहवीं सदी के टिपीकल भावुक लेखकों-जैसी हैं, और कमज़ोरी प्रकट करती हैं। इसीलिए उसी वात को आगे वढ़ाकर जैसे यथार्थ की धरती पर ले आये—"तभी तो आप ऐसा अच्छा लिख लेती हैं कि रश्क हो। अपना कुछ नया लिखा वताइएँ न?"

अपनी प्रशंसा से तन-मन न पुलक उठे, यह असम्भव है। साड़ी की पटलियों को उनसे वचाकर मेज़-तक आई और क़ाग़ज-कितावों को ठीक करती हुई वोली: "कहाँ लिखा जाता है कुछ? हमारा सारा वक्त तो ये कोर्स की कितावें खा लेती हैं। कभी-कभी तो ऐसी चिनचिनाहट छूटती है कि सवको खिड़की से वाहर फेंक दूँ। पर फिर सोचकर रह जाती हूँ कि एक डिग्री हो जायेगी तो आगे कमा खायेंगे, वर्ना कोई कौड़ियों को नहीं पूछेगा।"

उदय हँस पड़े: "क्यों वेकार की फ़िक्रों में अपना वक्त वरवाद करती हैं, जिसे

ज़रूरत होगी गुरु कमाकर खिलायेगा। मेरा मन तो वाक़ई कभी-कभी लड़की बनने को करता है! मौज में खाओ और जब पतिदेव ऑफिस चले जायें तो पड़ोसियों से लड़ो कि मोड़ी कौन झाड़ेगा। न चिन्ता न फ़िक्र। शादी से पहले माँ-बाप के सिर खाया, बाद में ज़िन्दगी भर को नौकर मिल ही जाता है।"

"बन जाइए न, मना कौन करता है। अब तो बहुत लोग बदल रहे हैं। अभी कल ही तो अख़बार में था···" लेकिन फिर भीतर-ही-भीतर मुझे इस बात पर झेंप उमड़ी कि एकदम इस तरह की बातें मुझे नहीं करनी चाहिए। कहीं यह न समझ लें कि बहुत 'चालू' लड़की है।

"उस लिहाज़ से आप में पुरुषों के ज़्यादा गुण हैं।" और वे ज़ोर से हँस पड़े। कितनी ज़ोर से हँसते हैं! वह तो पापा नहीं हैं, अक्का सुनेंगी तो क्या समझेंगी? स्पष्ट ही उनका लक्ष्य मेरा बेझिझक व्यवहार था।

बिट्टू चाय और नाश्ता ले आया। मेज़ के पास की कुर्सी पर बैठकर प्याले सीधे करते हुए मैंने कहा—"अच्छा, यह बात छोड़ें। मज़ाक़ की बात नहीं है। एक मदद आपको हमारी करनी है। दो-एक कहानियाँ इधर-उधर क्या छप गई हैं लोग बहुत बड़ा कहानीकार समझने लगे हैं। अजब उल्टे-सीधे ख़त लिखते हैं। कोई बहुत बनाता है, कोई समझता है कि मैं वरमाला लिये उन्हीं के लिए तैयार बैठी हूँ। ख़ैर, अब इस सबकी लाज कैसे रखी जाय। एक भी तो कहानी कमबख़्त दिमाग़ में नहीं आती।"

"तो मतलब, मैं लिखकर दे दूँ?" जब मैं चाय में चीनी डालने लगी तो दो उँगलियों से दो चम्मच चीनी का संकेत करके वे मेरे चेहरे को भरपूर निगाहों से देखते बोले। उन्होंने मुझे कब किस भाव से देखा—यह अनवकाशन रूप में हर क्षण पढ़ती रही। नारी में एक बड़ी विचित्र शक्ति होती है। अगर आज्ञा दी जाय, तो मैं कहूँगी, अपने छोटे रूप में वह अन्तर्यामी होती है। वह शब्द दे पाये, या समझ कर उसे अस्वीकार या स्वीकार करे यह दूसरी बात है; लेकिन पुरुष के मन में आनेवाली हर भाव-लहर को जैसी सच्चाई से वह पढ़ सकती है, कोई मनोवैज्ञानिक नहीं पढ़ सकता। वह निगाहें तौलती है और चालाक-से-चालाक निगाहों को उससे चुराया नहीं जा सकता। बिना उनकी ओर देखे, चेहरे पर उनकी निगाहें महसूस करते ही मैं जान गई कि अब उनके मन में पहले जैसी लापरवाही और उपेक्षा नहीं है। विशेष रूप से उन निगाहों में वे कहानीकार सुजाता को नहीं, युवती सुजाता को देख रहे हैं। शायद यह देखने के लिए कि वह लड़की कैसी है जो यों बेझिझक ऐसी बात कह सकने का साहस कर रही है। निश्चय ही उनके दिमाग़ में यह भी आया कि कहीं पिछली कहानियाँ भी तो मैंने यों ही किसी के

चाय पर बुलाकर नहीं लिखवा लीं। छिः क्या सोचेंगे, लेकिन उनके बोलने में जो एक ललकारती चुनौती का भाव था, उससे मेरे मन में तो आया कि सचमुच मज़ा तो रहे अगर सामने बैठे इस दम्भी व्यक्ति को मैं ऐसा प्रभावित कर लूँ कि यह मेरे नाम से कहानियाँ लिखे। बहुत असम्भव है क्या? देखा जाय, एक बार यह खेल भी! और मेरे मन में उस क्षण बड़ी विकट कसमसाहट हुई कि चाहे एक बार शालीनता और नैतिकता की सारी हदें तोड़ देनी पड़ें, लेकिन इस व्यक्ति को उँगलियों पर नचा डालूँ। तभी ध्यान आया विवाहित हैं या अविवाहित? मैंने उनकी बात के जवाब में कुछ कड़े शब्दों कहा—"जी नहीं, अच्छी-बुरी जैसी भी लिखती हूँ, कहानियाँ मैं खुद ही लिखती हूँ। सुनते हैं आपने बहुत पढ़ा है। कुछ किताबें हमें सुझा दें तो हम भी कहानी की टैकनीक के बारे में सीख लें।"

"किताबें पढ़ने से ही तो टैकनीक नहीं आती।" होंठों से प्याला हटाकर वे बोले—"और किताबें अपने प्रोफ़ेसरों से पूछतीं, तो ज्यादा अच्छा होता।"

"प्रोफ़ेसर लोग जैसी किताबें बताते हैं वह सुना नहीं आपने लायब्रेरियन साहब से? वे बेचारे कोर्स की किताबें तो बता नहीं पाते, यह कहाँ से बतायेंगे?" मैं बच्चों की तरह शिकायत से भुनभुनाई। इतनी बड़ी होकर मैं यह क्या बचपना कर रही हूँ, इस बात का ध्यान आया तो बड़ी लाज लगी, लेकिन फिर याद आया कि पुरुष को तो नारी का बचपना कभी बुरा नहीं लगता। बल्कि उसे तो वह मुग्ध ही करता है।

वे बुजुर्गों के सन्तोष से मुस्कराये, मानो कह रहे हों: लड़की दसवें में पढ़े या एम० ए० में, उसका बचपना नहीं जाता। अपनी बात जारी रखी: "आप भी गज़ब करती हैं। सूर, तुलसी, बिहारी और घनानन्द पढ़ानेवाला हर लैक्चरर अपने को खुदा समझता है। उसकी समझ में साहित्य को समझने का कोई दूसरा अधिकारी है ही नहीं। रस, स्थायी-भाव और संचारी भावों के नाम जानकर वह अपने को महान मनोवैज्ञानिक घोषित करता है और भरत के नाट्य-शास्त्र के अलग-अलग टहरनों के भावों की कसौटी पर टालस्टाय के 'वार एण्ड पीस' को फ़ेल कर डालता है।

उन्होंने ऐसी गम्भीरता से, बन-बनकर यह बात कही कि जैसे-तैसे मेज़ पर प्याला रखकर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी। प्रोफ़ेसर वर्मा जो कुछ कहा करते थे, उसका यह दूसरा पहलू था। उनका पक्ष लेकर बोली, "देखिए, यह आपकी ज्यादती है। कुछ मजबूरी उनकी अपनी भी होती है। उन्होंने अपने समय तक साहित्य को जहाँ तक देखा-जाना वहीं तक तो वे बेचारे बोल सकते हैं। आपको तो वह सब तीन साल पुराना लगेगा ही।"

"ठीक है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा ही मानें और अपनी सीमाओं में रहें, लेकिन फिर वे ऐसा क्यों मानते हैं कि उनके चोटीदार गुरु ने, डिवीजन और पोजीशन के प्रत्यक्ष और परोक्ष आश्वासन पर जो भी कुछ बताया, उसके अलावा सब गाली देने लायक़ ही है। सारी परेशानी तो तब उठती है जब हर प्राइमरी का हिन्दी मुदर्रिस अपने को साहित्यकार कहता है, और इसी मुगालते में रहना है। सुना है आपने किसी अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर को अपने को अंग्रेज़ी का साहित्यकार घोषित करते ?" फिर जैसे वे बिफरकर बोले : "सुजाता जी, मजबूरी कहकर आप उन्हें बचा नहीं सकतीं। ये मजबूरियाँ खुदा ने तो नहीं बनाई थीं कि आप हर वक्त कॉपियाँ जाँचने, पेपर सेट करने, नोट्स और टैक्स्ट बुक लिखाकर अपना नाम डाल देने की तिकड़म में ही रहिए, अपनी मूर्खता को मजबूरी कहिए और घुग्घू-जैसा मुँह बनाकर 'हमारे यहाँ तो शास्त्रों में ऐसा कहा गया'''के छौंक लगा-लगाकर गालियाँ दीजिए।"

उनकी उत्तेजना पर मैं हँसकर बोली—"अच्छा, छोड़िए। आप उनके लिए क्यों अपनी काफ़ी-टोस्ट ठण्डे करते हैं।" वे जब तक टोस्ट खाते रहे, मैं सोचती रही कि इनके चेहरे पर ऐसी क्या चीज है जो मुझे रह-रह-कर चुभ जाती है। लगता है, उसे कहीं मैंने देखा है। कुछ देर चुप रहकर बोली—"आप बहुत खार खाये बैठे हैं क्या इन लोगों से ?" इन सब को सुने तो प्रोफेसर वर्मा क्या कहें, मेरे सामने हरबार उसी की तस्वीर आ रही थी।

"मेरा तो मन करता है कि इन लोगों पर एक ऐसा उपन्यास लिखूँ कि इनकी तबीयत दुरुस्त हो जाय।" वे बोले—"बी० ए० की कापी थर्डईयर के गोबर-गणेश को जाँचने को देकर आप ट्यूशन पढ़ाने चले जाते हैं। एक-दूसरे की नक़ल करके नोट्स छपा लेते हैं। कोर्स में लगवाने के लिए प्रकाशक इनसे क्या-क्या जलील काम नहीं कराता ? फिर बातें वही पचास साल पुरानी। वह भी इतनी किताबी कि सुनकर गुस्सा आये। आखिर इतने साल इन्होंने पढ़ाया, कुछ समझे भी, या यों ही निगलते और उगलते रहे ?"

जब वे घूँट-घूँट कॉफ़ी पीने लगे तो मैं उठी। एक कहानी लाकर सामने रख दी, "यह कहानी मैंने अभी-अभी लिखी है, इसे ज़रा देखकर बता दें कि क्या सुधार होना है। प्रोफ़ेसरों को प्रोफ़ेसरी करने दीजिए, आप थोड़ी हमारी मदद कीजिए।" मैंने कुछ अधिकार-पूर्वक विषय बदला। मुझे लगा, जैसे मेरे सामने यों सहसा उत्तेजित होकर उन्होंने मुझे अपनी बात कहने का साग्रह अधिकार दे दिया है।

तनी भौंहें ढीली पड़ गईं। उनकी भौंहों का तनना, उत्तेजना के बाद की

खिसियानी मुसकराहट की झेंप, सभी कुछ मुझे कुछ-कुछ परिचित-सी लगीं। मन में आया कि अरे, यह भंगिमा और भौंहों की यह गति तो मेरी बहुत परिचित है। लेकिन कहाँ, सहसा याद नहीं आया, तो मन ज़िद करके उसी को खुरचने लगा।

"कब लिखी ?" आवाज़ गिराकर वे कहानी को उलटते-पुलटते बोले।

"अभी दो-तीन दिन पहले ही तो पूरी की है बड़ी मुश्किल से। आप इसमें सुझाव दीजिए।" यह मैं झूठ बोल रही थी। कहानी पुरानी थी और इसके बाद मैं दो-तीन और भी लिख चुकी थी, लेकिन इसे मैं अपनी अच्छी कहानी मानती थी। और लोगों का भी विचार ऐसा ही था। मैंने यह कहानी उन्हें प्रभावित करने की दृष्टि से ही दी थी। कहानी पलटते हुए उनके चेहरे की प्रतिक्रिया देखने के लिए कनखियों से देखा तो बात फिर चुभी कि इस चेहरे का कुछ है जिसे मैं बहुत ही निकट से जानती हूँ। दाँतों में अटकी चीज़ को जब तक निकाल न ले, जीभ वहीं आस-पास मँडराया करती है, मेरे मन में देर तक वह बात घुमड़ती रही।

"देखिए, सुजाता जी, एक बात का अगर बुरा न मानें तो मैं कहूँ।" वे कॉफ़ी पी चुकने के बाद रूमाल से कसकर मुँह पोंछते हुए बोले—"मैं ज़रूरी नहीं मानता कि हर चीज़ पर राय दी ही जाये, लेकिन जिस पर भी राय देता हूँ बहुत ही खुल-कर देता हूँ। आप लिखना शुरू कर रही हैं, अच्छा हो राय वग़ैरह न पूछें और आत्म-विश्वास से लिखती चली जायँ। कहानी मैं शौक़ से पढ़ूँगा, और मुझे आपकी कहानियाँ वैसे पसन्द हैं।"

उस क्षण मेरे मन में यह आये बिना न रहा कि न मालूम यह अपने को क्या समझता है। इसकी सफलता ने इसका दिमाग़ बिगाड़ दिया है। मैंने अत्यन्त ही निरपेक्षता से कहा—"मैं वैसी कच्ची नहीं हूँ, उदय जी। मुझे भी स्पष्टवादी लोग पसन्द हैं। मैं खुद मुँहफट हूँ। सारे कॉलेज में 'मर्दानी लड़की' कह-कहकर लोगों ने बदनाम कर रक्खा है। मैं तो आपसे खुद ही कहने वाली थी कि अगर मेरी कोई बात आपको बदतमीज़ी की लगी हो तो माफ़ करदें। हम दो ही भाई-बहन हैं, सो घरवालों ने बिगाड़ दिया है। इसलिए आप बिलकुल ही निश्चिन्त होकर अपनी राय दें। मुझे इससे लाभ ही होगा।" तभी दिमाग़ में टकराया, क्या अजब लोगों की टक्कर है : एक मर्दानी लड़की है तो दूसरा जनाना पुरुष। एक को कम उम्र में ही यश ने बिगाड़ दिया है तो दूसरे को प्यार ने। 'टक्कर' शब्द मन में अटका। क्या सचमुच यह टक्कर ही है ? हरेक से यों टकराते फिरने की बात को मन की नैतिकता के संस्कार नहीं सकारते। लेकिन आखिर अपने को कुछ लगानेवाले से

...उसकी असलियत देख लेने में हर्ज ही क्या है ? एक बार यह बात भी दिमाग में आई, कहीं अभी-अभी कही बात का ये कोई दूसरा अर्थ न लगा लें। नारी की किस बात का क्या अर्थ ये लोग लगा लेंगे, कोई नहीं जानता। लगा ...तो लगा लें : मैं तो चाहती हूँ कि लगा लें। थोड़ी-सी ढील देनी होगी।

"बहन कहती है कि तुम अपनी राय बेकार क्यों देते फिरते हो ? खैर, अच्छा है। देखूं मेरी राय का क्या असर आप पर पड़ता है ?" वे उठ खड़े हुए—"अब चलूं ?"

उनके एकदम इस प्रकार उठ खड़े होने से मुझे भी उठना पड़ा। यह उठना अप्रत्याशित ही था। मेरे मुंह से निकला "अरे, अभी मैंने आपके उपन्यास पर तो बातें की ही नहीं। हम लोग भी जाने किस बेकार की बहस में पड़ गये।" उठने से मेरे कान का रिंग झमक उठा और डूबते सूरज की किरणों का प्रतिफलन वहीं कौंधा। ध्यान आया ' रेखा कहती है कि दाहिने कान को ठीक कन्धे के ऊपर लाकर बायीं कनपटी के एंगिल से देखने पर तेरे फ़ीचर्स बड़े आकर्षक लगते हैं। इस समय मैं उसी पोज़ में खड़ी थी। मैंने देखा कि उदय ने उस चेहरे को प्रशंसाभरी निगाहों से देख लिया है। लेकिन यह कमजोरी पकड़ी न जाय इसलिए वे मेरे कन्धे के ऊपर से खिड़की के पार खोये-से देखने लगे थे। पार्क में कुछ लड़के फुटबॉल खेल रहे थे। एक बहुत लम्बी लाल कार सड़क पर दूर धीरे-धीरे चल रही थी। उन्होंने मुझसे अभी तक सीधी निगाहें नहीं मिलाई थीं। मैंने उन्हें अपने-आपको देखने के काफ़ी मौके दिये थे, लेकिन उन्होंने बड़े झिझकते-डरते और बहुत उड़ते-उड़ते ही देखा था। मैंने जब खुद सीधे देखा तो उनकी निगाहें ही नहीं उठीं। बड़ा कमजोर व्यक्ति है ! उस दिन मेरे सामने यह साफ हो गया कि यह इस व्यक्ति के अहं के किले की सबसे कमज़ोर दीवार है। तो कर डालूं एक बार यहीं से हमला ? अवचेतन में यह सोचते-सोचते मैंने एक बार जब उनके चेहरे को फिर देखा तो निगाहें फिर भौंहों पर अटक गईं। इन भौंहों को मैंने बहुत पास से देखा है, ये तो मेरे दिल के बहुत निकट रही हैं। हाँ'''याद आया, ये तो तेज की भौंहों से कितनी मिलती हैं। यही तो जब से मेरे मन में चुभ रही थी और मैं मानो शब्द देते डरती थी। मानो शब्द देकर मैं बात को स्वीकार कर लूंगी और उसे स्वीकार करना तेज के प्रति गद्दारी होगी'''लेकिन तेज मेरे जीवन में अब रह कहाँ गया है ? लन्दन में अंग्रेज मेम के साथ जाने उसे अब मेरी याद आती भी होगी या नहीं''' उसने मेरे साथ विश्वास-घात नहीं किया ?

जाने क्यों, अब नहीं लिखा जाता'''अक्षरों में बार-बार तेज की आकृ उभरने लगती है'''मैं सिर्फ़ तुम्हारी ही तो थी तेज'''

रात्रि साढ़े दस

मेरी बात पर वे मुसकराये थे : "अच्छा, फिर कभी उपन्यास पर बात करेंगे इस वक्त तो चलूँ ही।"

"मैं कैसे कहूँ ? कुछ देर और बैठते।" मैंने कृतार्थता का नाट्य किया वैसे मैं चाहती थी कि वे इस समय चले ही जायें। अभी तो इतनी देर ए अपरिचित व्यक्ति को बैठने की किसी-न-किसी रूप में सफ़ाई देनी थी। अब मुझ पर इतना विश्वास करती हैं तो उसका दुरुपयोग तो मुझे नहीं करन चाहिए। मैंने कहा : "आपने सच ही बड़ी कृपा की। सचमुच, मुझे कहानि लिखना सिखा दीजिए।"

"क्यों शर्मिंदा करती हैं ? इतनी अच्छी कहानियाँ तो लिख लेती हैं। कहानियाँ छपी हैं कि दिग्दिगन्तर में शोर हो गया। यहाँ लिखते-लिखते जिन्दगी बीत गई, कोई ध्यान ही नहीं देता।"

अपनी प्रशंसा के इस ढंग से छाती में गुदगुदी और मन में संकोच लगा। तभी जैसे धुंध के पार उनका स्वर सुनाई दिया : "अच्छा, नमस्कार।"

मैं सोच रही थी कि आगे मिलने-न-मिलने की बात वे अपनी ओर से कहेंगे; लेकिन सीढ़ी तक पहुँचकर भी जब वे नहीं मुड़े तो लगा कि वे नहीं छेड़ेंगे। तो आगे कहाँ पकड़ना होगा इन्हें ? मैं ही पूछूँ ?—तभी देखा : सीढ़ी पर उतरते हुए वे ठिठके। शायद ध्यान आ गया। सिर का पीछे का भाग खुजलाते हुए मुड़े। मैंने जवाब तैयार कर लिया था : "जब चाहें आप यहीं आ जायें। सम्भव हो तो मुझे पहले से सूचित कर दें, ताकि मैं रहूँ।" लेकिन जैसे वे झिझकते-से बोले : "देखिए, बहुत कठिनाई न हो तो मैं आपका टेलीफ़ोन इस्तेमाल करूँगा।"

मेरे लिए यह वाक्य नया तो नहीं, उनकी ओर से अप्रत्याशित था। "आज तो बुलगानिन को डलेस ने ऐसा मुँहतोड़ जवाब दिया है कि मजा आ गया।" की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से बात शुरू करनेवाले अड़ोसी-पड़ोसी तीसरे वाक्य में टेलीफ़ोन कर लेने-देने की अनुमति चाहते थे। लेकिन पता नहीं क्यों, ऐसा लगा जैसे टेलीफ़ोन करने की बात उनके दिमाग में उसी वक्त से थी उन्होंने इस फ़्लैट की सीढ़ियों पर क़दम रखा था। शायद संकोचवश कह न

पा रहे थे। पर संकोच क्यों ? मैंने फ़ौरन ही कह दिया—"हाँ, हाँ, जरूर। फोन पापा के कमरे में है, वहीं करेंगे या यहाँ ?" याद आया पापा के कमरे में ले जाना ठीक नहीं है।—"यहीं ले आती हूँ अपने कमरे में। अपनी बहन को ही तो करना है न ?"—कह नहीं सकती बहन की बात मुँह से कैसे निकल गई; लेकिन होश तब आया जब देखा वे एकदम सकपका उठे हैं। यह बहन का रहस्य क्या है ? कहीं मेरे *अनुमान को गलत साबित करने के लिए ही ये व्यर्थ ही किसी* ऐरे-गैरे को फ़ोन न करने लगें—इस धर्मसंकट में उन्हें उबारने के लिए मैं फौरन ही फोन लेने चली गयी। जब लकड़ी के सुराही-दान जैसे फ्रेम में फोन उठाये लौटी तो डोरी पीछे घिसटती आ रही थी और वे बाहर ही खड़े थे।

"अरे, आप भीतर चलकर बैठते न।" इधर-उधर घूमकर एक हाथ में पीछे घिसटती आती डोरी को ऊपर-नीचे हाथ करके एक हाथ से सँभालती बोली। मैं आशा कर रही थी कि वे लपककर मेरे हाथ में फोन ले लेंगे और कहेंगे : "लाइए, लाइए, आपने बहुत तकलीफ की।" लेकिन जब उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया और एक बार बस यह कहकर कि "नहीं जी, कोई बात नहीं है।" कमरे-का पर्दा भर ऊँचा कर दिया ताकि मैं आसानी से भीतर फ़ोन ले जा सकूँ तो मैंने समझ लिया कि मैनर्स वगैरा में इनका परिचय थोड़ा कम ही है। खैर, पता नहीं कैसी-कैसी परिस्थितियों में बेचारे आते हैं, इन्हें मैनर्स का पता भी कैसे हो सकता है ? फोन अपनी मेज पर रखकर उन्हें डायल घुमाना छोड़कर मैं हट गई और ऐसे तटस्थ भाव से पलँग पर बिखरी किताबें समेटने लगी कि उनकी बातों को सुनने में मुझे कतई दिलचस्पी नहीं है। आवाज़ को रोकने के लिए अपने मुँह के पास हाथ लगाकर भी बातें वे बहुत धीरे-धीरे कर रहे थे। यह इनकी कौन-सी बहन है, जो अक्सर इनके दिमाग पर छाई रहती है और उसे वे ऐसे तन्मय-भाव से फ़ोन किया करते हैं ! उधर मुँह फेरे हुए भी मैंने सुना :

"'"तो आज ही जा रही हो न मद्रास !'''अरे, ये कोई घूमने का वक्त है आजकल !'''और मद्रास में ऐसा घूमने लायक़ है क्या !'''न न'''भाई, हमें इतनी फुरसत कहाँ ! मजदूर आदमी हैं। आज कमायेंगे नहीं तो कल खायेंगे क्या ? कार्यकर्ता होते तो हम भी पानी की जगह संतरे के रस से प्यास बुझाया करते !'''ना भाई, यहाँ ज़िन्दगी की रेस ही दम नहीं लेने देती, घोड़ों के पीछे यहाँ-वहाँ दौड़ते फिरें !'''तो फ्री-स्टाइल कुश्ती भी है ! तभी तो'''जाओ बाबा, तुम्हीं देखो'''हमने तो देख ली दिल्ली में और तबीयत भर गई'''।"

बहन इनकी अच्छी खाती-पीती लगती है ! लेकिन इनकी हालत तो बिलकुल दूसरी है। वे बातें करने में ऐसे डूब गये थे कि दीन-दुनिया का होश नहीं

था। इस वार मैंने उन्हें भरपूर निगाहों से देखा। मन में आया कि पापा के चेम्वर में ले जाऊँ और आपरेशन-टेविल पर लिटाकर चाकू से इनके व्यक्तित्व की एक-एक परत उधेड़कर देखूँ···एक-एक सैल को डिसैक्ट कर डालूँ। फिर अपनी इस कल्पना पर हँसी भी आई। तभी ध्यान आया कि उदय की भौंहें मुझे फिर चुभ रही हैं। तेज का पूरा चेहरा आँखों में कौंध गया। कैसा कहा करता था : "तुम्हारे विना ज़िन्दगी सूनी-सूनी लगेगी। मन नहीं लगेगा तो मैं तो भाग आऊँगा। कह दूँगा डैडी से, मुझसे नहीं चलता यह सव।" और अव !··· अंग्रेज़ मेम वग़ीचा लगवाया करेंगी और इंजीनियर साहव लौटकर आराम-कुर्सी पर पड़ जाया करेंगे : "हनी, आइ'म डैम टायर्ड टु डे !" एशिया में अपने ढंग का अकेला डैम है। वड़े-वड़े देशी-विदेशी इंजीनियरों के साथ काम करना पड़ता है। दम मारने की फ़ुरसत तो मिलेगी नहीं। सारे दिन धूल-धक्कड़ में कपड़ों का नाश हो जाया करेगा। शार्कस्किन के वुश्शर्ट और गैवर्डीन की पतलूनों की जगह खाक़ी ज़ीन का निकर और कमीज़ पहने ऊवड़-खावड़ पहाड़ियों पर भटकते कैसा लगा करेगा !···विलायत न गया होता तो शायद हम लोग ही···। सचमुच, वे भी क्या दिन थे !···जाने क्या मज़ा आता था कमवख़्त को मुझे टीज़ करने में !···मैं हेयर-पिन से नाख़ून साफ़ करने लगी तो नाव को कैसा डगमगा दिया था नैनीताल में !···तव तो आप तैरना भी नहीं जानते थे।··· हम में से कोई एक सरक पड़ता तो ! एक वड़ी गहरी साँस निकल गई तो होंठ वुदवुदा उठे : जिनकी भौंहें वहुत मोटी-मोटी और घनी होती हैं वे वेवफ़ा होते हैं···दुष्ट।

तभी अपना नाम सुनकर मैं चौंक गई : टेलीफ़ोन पर वे वोल रहे थे। "···हाँ, हाँ···सुजाता नाम है। पढ़ी है कोई कहानी···!···अच्छा, तव तो मान लिया कि ज़रूर अच्छी कहानी लिख लेती होंगी···लेकिन हमसे अच्छी क्या खाकर लिखेंगी !···वात करोगी !"

मैं एकदम वौखला उठी। पता नहीं किस अपरिचित से मेरी वातें कराये दे रहे हैं ! क्या वोलूँगी ! जानती तक तो हूँ नहीं। पर शायद उधर से भी ऐसी ही कठिनाई के कारण इनकार हो गया···। चलो जान छूटी···। मुझे तो इतनी-सी वात पर पसीना आगया। गर्व भी हुआ···मैं भी एकदम अनजानी नहीं हूँ···। याद आया, इन्हें वातें करते काफ़ी समय हो गया। लेकिन उनकी तन्मयता को मैं खड़ी-खड़ी देखती रही। हमारे भैया तो हमसे इस तरह वातें नहीं करते घुल-घुलकर। वे तो जव देखो तव डाँटते रहते हैं···मानो उन्हें वस डाँटने का ही हक़ है। उदय ने फ़ोन रख दिया और गहरी साँस लेकर वोले : "उफ़, इससे

बातें करना भी पूरा महाभारत खोलना है···।" लेकिन उनकी इस बात मे, स्नेह की झलक थी। मुझे जैसे वे सफाई दे रहे थे। वे अभी-भी उन्ही बातों मे खोये थे···। उसी तरह बोले—"जहाँ भी जायेगी, बस तुम भी चलो "

यों तो यह एकालाप ही था; लेकिन अब मुझे भी कुछ बोलना जरूरी हो गया···वे कुर्सी पर बैठे थे। मैंने सोफे की टेक के सफेद कवर की सिकुड़नें निकालते हुए पूछा—"आपकी बहन क्या यहीं रहती हैं!"

इस बार वे टूटकर चौंके। "बहन!—हाँ, बहन यहीं रहती थी पहले तो। अब तो उसके हस्बैण्ड का ट्रांसफर हो गया न।" फिर याद करके मुसकाये: "बडी शातिर है।" फिर ठीक ग्रेगरी पैक के अन्दाज से दोनो हाथ लाचारी में फैलाये। बोले: "यहाँ हमारे साथ कौन रहेगा···! अकेले पड़े रहते हैं सरदार मुलायम सिंह के साथ। किसी दिन आपको मिलाऊँगा बहन से।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

नारी के सामने पुरुष जब अपने बिखरेपन, अस्तव्यस्तता और निरीहता की बातें करता है, अपने आपसे शिकायतें करता है तो उसका निश्चय ही एक गम्भीर अर्थ होता है। उसे सहानुभूति चाहिए···उसे एक पतवार चाहिए···। समझी। तो मेरा अनुमान गलत नहीं है। यह इनके गढ का सबसे कमजोर कोना है है···।

"अच्छा, आपको बडी तकलीफ दी। अब चलूँगा।" तभी सुना। एकदम हाथ जोड़े वे उठ खड़े हुए। हाथो मे मेरी कहानी थी।

"और सोच लीजिए।" आँखें मिलते ही मैं व्यंग्य से मुस्करा दी, अर्थ था किसी और को फोन-वोन न करना हो। फिर मैं उन्हें जाते देखती रही।

सोमवार : १० जून

सुबह उठी तो तबीयत बहुत खुश और हल्की थी, और जैसे-जैसे दिन सरकता गया, मन पर एक अनजान बोझ लदता चला गया। सोकर उठी तो बिस्तर पर लेटे-लेटे, मन ही मन उनकी एक-एक तस्वीर को देख-देखकर मज़ा लेती रही, और बाँहों में बँधे तकिये पर रक्खा बायाँ गाल मुसकराता रहा। मगर साँझ होते-होते यह विश्वास हो गया कि जो मैं कर रही हूँ, वह वर्जनीय है, अनुचित है और शायद किसी के प्रति विश्वासघात है···। लेकिन विश्वासघात न करने का ठेका मैंने ही लिया है?

था। इस बार मैंने उन्हें भरपूर निगाहों से देखा। मन में आया कि पापा के चेम्बर में ले जाऊँ और आपरेशन-टेबिल पर लिटाकर चाकू से इनके व्यक्तित्व की एक-एक परत उधेड़कर देखूँ···एक-एक सैल को डिसैक्ट कर डालूँ। फिर अपनी इस कल्पना पर हँसी भी आई। तभी ध्यान आया कि उदय की भौंहें मुझे फिर चुभ रही हैं। तेज का पूरा चेहरा आँखों में कौंध गया। कैसा कहा करता था : "तुम्हारे बिना ज़िन्दगी सूनी-सूनी लगेगी। मन नहीं लगेगा तो मैं तो भाग आऊँगा। कह दूँगा डैडी से, मुझसे नहीं चलता यह सब।" और अब !··· अंग्रेज़ मेम बग़ीचा लगवाया करेंगी और इंजीनियर साहब लौटकर आराम-कुर्सी पर पड़ जाया करेंगे : "हनी, आइ'म डैम टायर्ड टु डे !" एशिया में अपने ढंग का अकेला डैम है। बड़े-बड़े देशी-विदेशी इंजीनियरों के साथ काम करना पड़ता है। दम मारने की फ़ुरसत तो मिलेगी नहीं। सारे दिन धूल-धक्कड़ में कपड़ों का नाश हो जाया करेगा। शार्कस्किन के बुश्शर्ट और गैवर्डीन की पतलूनों की जगह ख़ाकी ज़ीन का निकर और कमीज़ पहने ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों पर भटकते कैसा लगा करेगा !···विलायत न गया होता तो शायद हम लोग ही···। सचमुच, वे भी क्या दिन थे !···जाने क्या मज़ा आता था कमबख़्त को मुझे टीज़ करने में !···मैं हेयर-पिन से नाख़ून साफ़ करने लगी तो नाव को कैसा डगमगा दिया था नैनीताल में !···तब तो आप तैरना भी नहीं जानते थे।··· हम में से कोई एक सरक पड़ता तो ! एक बड़ी गहरी साँस निकल गई तो होंठ बुदबुदा उठे : जिनकी भौंहें बहुत मोटी-मोटी और घनी होती हैं वे बेवफ़ा होते हैं···दुष्ट।

तभी अपना नाम सुनकर मैं चौंक गई : टेलीफ़ोन पर वे बोल रहे थे। "···हाँ, हाँ···सुजाता नाम है। पढ़ी है कोई कहानी···!···अच्छा, तब तो मान लिया कि ज़रूर अच्छी कहानी लिख लेती होंगी···लेकिन हमसे अच्छी क्या खाकर लिखेंगी !···बात करोगी !"

मैं एकदम बौखला उठी। पता नहीं किस अपरिचित से मेरी बातें कराये दे रहे हैं ! क्या बोलूंगी ! जानती तक तो हूँ नहीं। पर शायद उधर से भी ऐसी ही कठिनाई के कारण इनकार हो गया···। चलो जान छूटी···। मुझे तो इतनी-सी बात पर पसीना आगया। गर्व भी हुआ···मैं भी एकदम अनजानी नहीं हूँ···। याद आया, इन्हें बातें करते काफ़ी समय हो गया। लेकिन उनकी तन्मयता को मैं खड़ी-खड़ी देखती रही। हमारे भैया तो हमसे इस तरह बातें नहीं करते घुल-घुलकर। वे तो जब देखो तब डाँटते रहते हैं···मानो उन्हें बस डाँटने का ही हक़ है। उदय ने फ़ोन रख दिया और गहरी साँस लेकर बोले : "उफ़, इससे

बातें करना भी पूरा महाभारत खोलना है…।" लेकिन उनकी इस बात में, स्नेह की झलक थी। मुझे जैसे वे सफाई दे रहे थे। वे अभी-भी उन्हीं बातों में खोये थे…। उसी तरह बोले—"जहाँ भी जायेगी, बस तुम भी चलो"

यों तो यह एकालाप ही था; लेकिन अब मुझे भी कुछ बोलना जरूरी हो गया…वे कुर्सी पर बैठे थे। मैंने सोफे की टेक के सफेद कवर की सिकुड़नें निकालते हुए पूछा—"आपकी बहन क्या यहीं रहती हैं।"

इस बार वे टूटकर चौंके। "बहन!—हाँ, बहन यहीं रहती थी [illegible] तो। अब तो उसके हस्बैण्ड का ट्रांसफर हो गया न।" फिर याद करके [illegible] काये: "बड़ी शातिर है।" फिर ठीक ग्रैगरी पैक के अन्दाज से [illegible] लाचारी में फैलाये। बोले: "यहाँ हमारे साथ कौन रहेगा…' [illegible] है सरदार मुलायम सिंह के साथ। किसी दिन आपको मिलाऊँगा [illegible]

"जरूर, जरूर।"

नारी के सामने पुरुष जब अपने बिखरेपन, [illegible] बातें करता है, अपने आपसे शिकायतें करता है तो उसका [illegible] अर्थ होता है। उसे सहानुभूति चाहिए…उसे एक [illegible] तो मेरा अनुमान गलत नहीं है। यह इनके [illegible] है…।

"अच्छा, आपको बड़ी तकलीफ दी। [illegible] हाथ जोड़े वे उठ खड़े हुए। हाथों में मेरी [illegible]

"और सोच लीजिए।" आँखें मिलते ही [illegible] किसी और को फोन-वोन न करना हो। [illegible]

सोमवार: १० जून

सुबह उठी तो तबीयत बहुत [illegible] गया, मन पर एक अनजान बोझ [illegible] लेटे-लेटे, मन ही मन उनकी [illegible] और बाँहों में बँधे तकिये पर [illegible] होते यह विश्वास हो गया कि [illegible] और शायद किसी के प्रति [illegible] का ठेका मैंने ही लिया है?

आज मुझ से एक लाइन नहीं पढ़ी गई। अभी-अभी टेबिल-लैम्प लगाये मैं आधी उठी, एक किताब खोलकर मुसकराती, उदास होती, जाने क्या-क्या सोच रही थी। दिन-भर बड़ी उमँगी-उमँगी रही—मैं किससे जाकर कहूँ : 'देख आज उदय मेरे यहाँ आया था। मैंने उससे दो घण्टे बातें कीं।' उदय मेरे यहां आये थे यह बात मुझे पुलकित किये थी या मैंने उन्हें अपने यहाँ बुलाकर कृतार्थ किया था, यह मेरी समझ में नहीं आया। सही है, व्यक्ति के रूप में उन्हें शायद बहुत लोग न जानते हों, और सभी कलाकार उदय से परिचित हों; लेकिन उनका उपन्यास पढ़कर जाने मुझे क्यों लगा जैसे मैं व्यक्ति उदय की बहुत भीतरी सतहों तक से परिचित हूँ। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व मेरे यहां आया, इससे मैं भले ही अंशतः उपकृत हुई होऊँ; लेकिन व्यक्ति उदय पर तो मैंने 'कृपा' ही की है—यह मैं भीतर-ही-भीतर महसूस कर रही थी। उपन्यास-कहानियों में ये लोग चाहे जो लिखते हों, लेकिन व्यक्तिगत रूप में इन्हें वह व्यवहार कहाँ मिलता है, जिसके लिए इनकी आत्मा तरसती रहती है? कहीं पढ़ा था, कि कला मनुष्य की काल्पनिक इच्छा-पूर्ति—विशफुल थिंकिंग—ही तो है। एक क्षण को कहीं भीतर गुप-चुप-सा प्रश्न उठा, उपन्यास-सिनेमा की तरह ज़रा-सी ढील देकर देखूं? पागल ही रहेगा।...हिश्ट, मर जायेगा बेचारा!...और प्रश्न दबा लिया...।

कल उदय की दो बातें बड़ी अजीब लगीं : एक तो बे-बात लड़कियों की तरह लाल पड़ जाना, और दूसरे एक भावस्थिति या वार्तालाप को तोड़कर अचानक ही तटस्थ की तरह चल खड़े होना। आज सुबह से ही मुझे ऐसा लग रहा है, मानो हम लोगों का मिलना दो अपरिचित व्यक्तियों का मिलना नहीं, अपरिचित परिस्थितियों में दो परिचितों का मिलना है। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगा। हो सकता है, इसका कारण यह हो कि मैंने उनके बारे में इतना अधिक सुन लिया है, और दो-एक बार उनकी शक्ल-सूरत से परिचित हो ली हूँ, कि उनके बारे में प्रायः सभी बातें जानती हूँ। मन में दो-एक बातें खटकती हैं। लेखक होने के जोश में मैंने कहीं बहुत अधिक लिबर्टी तो उनसे नहीं ले ली?—यह भी मैं जानती हूँ कि नारी की ली हुई लिबर्टी का पुरुष शायद ही कभी बुरा मानता हो। जहाँ तक मेरा अनुमान है, यह चीज़ प्रच्छन्न रूप से उसके अहं को सन्तुष्ट ही करती है। लेकिन वह उस लिबर्टी को प्रायः एक ही अर्थ में लेता है कि 'माल पटाऊ' है। कहीं मेरी बात-चीत, उन्मुक्त फ़िक़रे-बाज़ी से उन्हें ऐसा तो नहीं लगा कि मैं कुछ 'यों ही-सी' लड़की हूँ? मगर इतना विश्वास है, पहले वे चाहे जो कुछ सोचें, कहानी पढ़ने के बाद प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। मैं उत्कट प्रतीक्षा से व्याकुल हो उठी कि वे जल्दी-से-जल्दी मेरी कहानी पढ़कर अपनी राय बतायें।

मन होता है कि सुबह ही मैं उनके यहाँ जाकर चौंका दूँ: अपनी कहानी पर आपकी राय जानने आई हूँ। यह जानने की इच्छा भी बड़ी प्रबल है कि ये 'सफल' और 'श्रेष्ठ' कहे जानेवाले लेखक व्यक्तिगत जीवन में कैसे होते हैं ? शायद जल्दी-से-जल्दी उनसे घनिष्ठता बढ़ा लेने की आतुरता के पीछे भी यही भाव हो।

···इस समय मैं यहाँ लेटी हूँ । हो सकता है वे वहाँ मेरी ही कहानी पढ़ रहे हों। कैसा लग रहा होगा ? कहानी की कौन-कौन-सी पंक्तियाँ उन पर क्या-क्या प्रतिक्रिया कर रही होंगी, यह जानने की ऐसी आकुलता मन में हुई कि एकदम हाथ की किताब एक तरफ रखकर मैं कहानी की एक छपी प्रति निकाल लाई। (उन्हें हाथ की लिखी दी थी।) उन्हें कहाँ कैसा लग रहा होगा, सोच-सोचकर एक-एक लाइन को जैसे बिलकुल नये सिरे से दो-दो बार पढ़ा। जिन हिस्सों को मैं बहुत अच्छा समझती थी, उन्हें फिर से उनकी दृष्टि से बिलकुल नये और तटस्थ और एकदम अपरिचित पाठक की दृष्टि से पढ़ा।

···यह इनकी बहन कौन है ? रेस देखने शायद मद्रास जा रही है । बहुत धनी है क्या ? अच्छा, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मेरे सामने 'इन्फ़ीरियारिटी' फील करते हों और व्यर्थ ही एक धनी बहन की कल्पना खड़ी करके हमारे ऊपर प्रभाव पैदा करने की कोशिश कर रहे हों ? शायद यह भी जताना चाहते हों कि देखो, मेरा इतनी लड़कियों से सम्पर्क है। बहुत लोगों की आदत होती है। कहाँ, कहानी पढ़ी थी किसी की कि एक लड़की को कोई पत्र नहीं लिखता था तो वह खुद अपने ही नाम से अपने को प्रेम-पत्र लिखकर आत्म-सन्तोष पाती थी। मुझे लगता है, यही बात ठीक है, वर्ना मेरे सामने ही दो-बार फ़ोन करने की क्या ज़रूरत थी !

हुँह, मैं भी क्या व्यर्थ की बातें लेकर बैठी हूँ···कोई और काम नहीं है मुझे ? इम्तहान नहीं देना क्या ?

मंगल : ११ जून

आज क्लास में उदय का नाम जिस रूप में आया उससे मन तो हुआ कि मैं खड़ी होकर विरोध करूँ, लेकिन रेखा कलाई पर हाथ रखे रोके रही। प्रो॰ वर्मा ने कहा था कि "जो नैतिक नहीं है, जो समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित कर सकता, वह अच्छा साहित्य दे ही नहीं सकता। जो अपना चरित्र नहीं

सकता, वह क्या खाकर समाज और साहित्य को सुधारेगा ? एक हैं यहाँ··· पता नहीं, उदय से प्रो० वर्मा इतना क्यों चिढ़े हैं, कोई मौक़ा नहीं छोड़ते। जब देखो तब कहते हुए सुन लो : "अजी कुछ नहीं, जब देखो तब, कॉफ़ी-हाउसों और सड़कों पर आवारों की तरह हा-हा हू-हू करते घूम रहे हैं। न पोज़ीशन का ख़याल न व्यवहार में गंभीरता : मैं तो अक्सर मिला हूँ, अध्ययन भी कोई ऐसा ख़ास नहीं है : फ़्रांस, इंगलैण्ड के बोहेमियन लेखकों की नक़ल करते हैं।"

उदय के बारे में यह सब नया नहीं है। बहुत बातें मैंने सुनी हैं उनके बारे में। कुछ कहते हैं कि वे नम्बरी स्नॉब और दम्भी हैं, अपने आगे किसी को कुछ लगाते ही नहीं। कुछ के ख़याल से वे ज़रूरत से ज़्यादा छिछले, और चीप हैं। कुछ के लिहाज़ से वे बहुत ही अध्ययनशील, गम्भीर और सौम्य हैं और कुछ उन्हें निहायत बना और घुटा हुआ कहते हैं, जो हमेशा दो-एक किताबें साथ रखकर धाक जमाने की कोशिश में रहता हो। एक दल उन्हें देशी-विदेशी पूँजीपतियों का दलाल बताता है और दूसरा उन्हें रूसी एजेण्ट घोषित करता···है। सम्पादकजी ने तो बताया ही था कि यह भले घरों में आने देने लायक व्यक्ति नहीं है···।

फिर मैं सोच रही हूँ कि ऊँचा साहित्य लिखने के लिए लेखक को समाज के बने-बनाये नियमों के अनुसार 'आदर्श व्यक्ति', 'परम शीलवान्' और 'नैतिक पुरुष' होना ही चाहिए ? बस में बैठी हुई मैं रास्ते भर रेखा से इस बात पर बहस करती आई। रूढ़िवादी, महान् कैसे हो सकता है यह मेरी समझमें नहीं आता। ये शील, चारित्रिकता, आदर्श आज जिन अर्थों में जाने जाते हैं वे सब रूढ़ियाँ नहीं हैं तो और हैं क्या ? मैंने कहा : "मैं उदय का बचाव नहीं करती, और न मैं उसे ऐसा महान् मानती हूँ। बनने के प्रौसेस में है। चलता चला गया तो हो सकता है कल कुछ बन जाय, नहीं तो दो-दिन बाद खुद मर जायेगा। लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती कि संसार के जिस भी बड़े चिन्तक, कलाकार को ले लो; प्राय: वे लोग 'आदर्श' और 'अनुकरणीय' व्यक्ति नहीं ही रहे हैं। उन्होंने नैतिकता और आदर्शों की रूढ़ियों को तोड़ा है। यही क्यों, साहित्य के बुरे चरित्र जितने दिल को छू जाते हैं अच्छे छू पाते हैं ? शायद कला के सब से जीवित चरित्र वे हैं जो अच्छे नहीं हैं। यों अच्छे और बुरे सभी लोग होते हैं, लेकिन कलाकार के पास उस बुरे की कचोट को महसूस करने वाला दिल भी होता है। वही तो उसे और लोगों से अलग करता है और जिस कलाकार ने जितनी गहराई से इस कचोट को महसूस किया है, वह उतना ही ऊँचा साहित्य दे पाया है।"

मेरी बातों पर रेखा जिस व्यंग से मुस्कराती रही, वह झुंझलाहट पैदा करता था। मानो मैं जबर्दस्ती उदय का बचाव कर रही हूँ। सचमुच मैं उदय को

डिफेण्ड ही कर रही थी क्या ?···लेकिन, विश्वास नहीं होता कि उदय ऐसे हैं···। लोगों ने उन्हे दूर से देखा है, अपने स्वार्थों और धरातलों से ऊपर उठकर नही देखा।···एक दिन एक कवि-सम्मेलन मे सुनी रामावतार त्यागी की कविता खुद-ब-खुद उभर रही है :—

"जो रहे हो जिस कला का नाम ले ले,
कुछ पता भी है कि वह कैसे बची है ?
सभ्यता की जिस अटारीपर खड़े हो,
वह हमी बदनाम लोगों ने रची है !"

लेकिन फिर खयाल आया "कविता, तर्क नही होती···"

बृहस्पति : १३ जून

जाने क्यों, बुराई के प्रति स्त्रियो का विशेष रूप से एक स्वाभाविक आकर्षण होता है—यह मैंने अपने अनुभव से जाना है। 'वदनाम' और 'दुश्चरित्र' के रूप मे पहचाने जाने वाले पुरुषो के प्रति मैंने अपने भीतर एक वडा उत्कट और दुर्जेय-सा आकर्षण पाया है। साथ ही यह भी नही लगा कि यह बहुत अस्वाभाविक है। शायद सभी स्त्रियो के साथ यही होता हो। ऐसा क्यो है ? मुझे इसका कारण यह लगता है कि पुरुष की 'वदनामी' और 'दुश्चरित्रता' के पीछे कही-न-कहीं किसी नारी या नारियों के सम्पर्क का होना आवश्यक ही है और यही हर नई नारी के लिए बहुत वड़ा आकर्षण है कि आखिर इसमे ऐसी वात क्या है कि उन स्त्रियो ने इसे इतनी लिफ्ट दे रखी है ? क्या यह अप्रत्यक्ष रूप से नारियो का 'ट्रेड-यूनियनिज्म' नही है ?

अपने इस विचित्र विश्लेषण पर मन-ही-मन हँसी आती रही। मैं देर तक पागलो की तरह अकेली हँसती रही।

अपने मन की मजबूरियों और कमजोरियो को आदमी किस तरह सामान्य बनाता है। कैसे वकील की तरह केस तैयार करता है। यह मन का 'छिछोरापन' ही तो नही है जो मुझे यों सोचने को मजबूर कर रहा है ?

गाँव की एक कोई बुआ आई थी। उन्होने ही तो पापा को पढाया था और बड़े ही कड़े स्वभाव की थी। मैं भी कभी बचपन मे उनके पास गई हूँगी। लेकिन सुन-सुनकर ही मन पर उनका आतंक छा गया था। पापा अब तक उनसे डरते

है। पता नहीं क्यों, सोते समय अवचेतन से उनका एक वाक्य उभर-उभरकर सामने आने लगा। आते ही मुझे देखकर जाने किस सिलसिले में बोली थी—"जग्गी,—(पापा का नाम योगेश है) इस लौंडिया पै नज़र ना रक्खै है क्या ? बड़ी आज़ाद कर रखी हैगी।। मुझसे तो देक्खा नहीं जावे भैया। रंग-ढंग बिल्कुल छिछोरियों जैसे कर रक्खे हैंगे।" सुना तो भीतर जाकर खूब रोई खूब रोई। दो दिन लगातार रोती रही। खाना नहीं खाया। हालाँकि पापा ने तभी डरते-डरते कह दिया था—"अरी जिया बम्बई है यो। कोई तेरा मेरठ-बुलन्दशहर ना है। बोलणा-चालणा नहीं आयेगा तो बैठके मुँह ताक्केगी ? कहानी लिखने लगी है, ड्रामा यूनियन की जॉयण्ट सेक्रेटरी हो गई है। अब ड्रामा करैगी। ध्रुवस्वामिनी बनगी।" बुआ ने माथा ठोक लिया: "हाय राम, इत्ते मर्दों के सामने ? तू तौ नाक कटाक्कै छोड़ैगा फैसन में आक्कै। ना भैया, तेरा जो जी चाहै कर, पर बच्चों का तो आग्गा देख। ला, इसे मेरे साथ भेज। हमें नहीं रखनी अपनी लौंडियाँ यहाँ। अरे, लाख रुपये की इज्ज़त ही चली जायँगी, तो हम क्या फिर मात्था कूट्टेंगे ?" खैर, वह जो हंगामा मचा सो अलग एक क़िस्सा है। जब भी मैं बाहर निकलती, किसी से हँसकर बातें करती, किसी तरफ़ देखकर मुसकराती तो यह 'छिछोरी' शब्द कील की तरह चुभ उठता।

मैं उदय के सामने इतना खुल गई, उन्हें यहाँ ले आई, साथ बैठकर गप्पें लड़ती रही, यह क्या 'छिछोरापन' था ?

आज सुबह से लग रहा था, जैसे आज ज़रूर ही उदय का फ़ोन आयेगा, रह-रहकर लगता कि मैं कमरे में घुसूंगी, तभी पापा के कमरे में घण्टी बज उठेगी। गुसलखाने में गई तो कान फ़ोन पर लगे रहे। कॉलिज जाने का समय आध घण्टा टाल दिया, शायद इसी बीच में आ जाये। आफ़िस, दूकानों के खुलने की वजह से उस समय फ़ोन व्यस्त रहते हैं, आधा-पौन घण्टे में प्रायः सब नॉर्मल हो जाता है।···लेकिन फ़ोन नहीं ही आया।

शुक्र : १४ जून

सुबह सोचा था कि अगर वे खुद, या उनका फ़ोन नहीं आया तो मैं उनके यहाँ पहुँच जाऊँगी। यह क्या हरक़त है ? कहानी लेकर ही बैठ गये। दूसरे किसी को भी तो काम हो सकता है उससे। ऐसी भी क्या लापरवाही ?···लेकिन मन के भीतर कहीं धुंधला-धुंधला-सा यह भी था कि न आयें तो देखूँ, कहाँ रहते

हूँ···। आखिर हो क्या गया ? कहीं किसी बस, कार की चपेट में तो नहीं आ गये···? कहानी जेब मे रक्खी हो और स्ट्रेचर पर लदे चले जा रहे हों। लेकिन दो-दिन से अखबार में कोई ऐसा ऐक्सीडेण्ट नही दिखाई दिया···। कहीं उनकी बहन जी साहिबा तो उन्हें उठाकर नहीं चलती बनी ? कौन है यह कम्बख्त आखिर ?

हम लोगों ने आगे मिलने का कुछ तय भी तो नहीं किया था ? फिर भी मेरी कहानी उनके पास है, और यही मेरे लिए मन-ही-मन बहुत बडा आश्वासन है कि या तो वे उस कहानी के लिए खुद ही मुझसे मिलेंगे या सम्पर्क करेंगे। आज और ठहरती हूँ फिर मैं ही उनसे मिलने की कोशिश करूँगी। पर मुझे विश्वास था, वे खुद आयेंगे। मैं चाहती हूँ कि वे आयें। क्यों चाहती हूँ ? मैंने मन-ही-मन प्रश्न किया। फ़ौरन ही उत्तर मिला, कि मुझे उनका पता जो नही मालूम। अगर मैं मिलूँ भी तो आखिर कहाँ मिलूँ ? अपने इस उत्तर पर खुद ही हँसी भी आगई···।

शनिवार : १५ जून

कल डायरी लिखते-लिखते अचानक एक बडी अजब बात दिमाग मे आई थी। क्यों न उदय को लेकर एक कहानी लिख डाली जाय ? जितनी बातें की हैं, या अब तक हुई हैं, क्या वे सब एक कहानी के लायक नही हैं ? मुझे खुद ही अपना यह आइडिया कमाल का लग रहा है। कहानी-लेखक पर कहानी लिखी जाय ? खुद नाई की हजामत बना डाली जाय ? बडे अपने को तीरन्दाजी लगाते होंगे। इस थीम पर फिर गौर से विचार करूँगी। अध्ययन के लिए एकाध बार मिलना तो होगा ही।

आज सुबह से ही मैं बडी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करती रही। अकारण ही बार-बार लगता, जैसे वे आ रहे हैं। शायद कल फोन इसीलिए न किया हो कि आज तो खुद आना है। कई बार खिड़की के पास गई और लौट आई। आठ-दस लड़के विकेट गाड़कर क्रिकेट खेल रहे थे, और दस-बारह आदमी आस-पास खड़े देख रहे थे। किसी चीज का विज्ञापन करनेवाला, रंग-बिरंगा छाता लिये खडा था। उसका सिर्फ छाता ही दिखाई देता था। इस बम्बई मे तो लोगों को कितनी फुरसत है ! अगर दो आदमी चौपड भी खेलेंगे तो तीन उसे देखनेवाले वहाँ

ज़रूर खड़े हो जायेंगे। खिड़की पर खड़ी दोनों हाथों को सिर के ऊपर ले जाकर जूड़ा बाँध रही थी कि 'माउथ-ऑर्गन' की आवाज़ सुनाई दी। वही पड़ोस का शाह है। पढ़ने-लिखने से कोई मतलब नहीं, जब देखो सिनेमा-ऐक्टर के अन्दाज़ में दूसरी ओर देखते हुए माउथ-ऑर्गन बजा रहे हैं। मानो मुझसे कोई मतलब ही नहीं। मन झुंझलाहट से भर गया। एक दिन इस तरह बाजा बजाते देखकर ज़रा मुसकरा क्या दी, अब ज़िन्दगी भर को पीछे ही पड़ गये। तब 'मूड' था, अब नहीं है। मैंने उसकी ओर जीभ बिराई और पर्दे खींचती हुई भीतर चली आई। पापा के कमरे में यों ही घूमती हुई पहुँच गई। पहले रेडियो खोला। याद आया इस वक्त सीलोन या काश्मीर में से कोई भी नहीं आ रहा होगा। फ़ौरन ही बन्द कर दिया। टेलीफ़ोन के पास पहुँची। लगा मैं रिसीवर उठाने को हाथ बढ़ाऊँगी, तभी एक चमत्कार होगा। घण्टी खुद-ब-खुद घनघना उठेगी और साश्चर्य मैं पाऊँगी कि उधर उदय हैं। अचानक पर्दा उठा और पापा ने प्रवेश किया। उनके आने ने मुझे कुछ ऐसा हड़बड़ा दिया कि अपने वहाँ होने की सफ़ाई देना ज़रूरी लगा। फ़ौरन ही फ़ोन उठाकर डायल घुमाने लगी।

"कहाँ कर रही है ?" पापा ने योंही पूछ लिया। मुझे लगा जैसे वे किसी विशेष अर्थ से पूछ रहे हों।

"कॉलेज लायब्रेरी। एक किताब मैंने निकलवाई थी, उसे वहीं भूल आई हूँ।" मेरे मुँह से निकला—"और हाँ, पापा तुम्हें लायब्रेरियन साहब पूछते थे।"

और जब लाइन के दूसरी ओर कहीं गहराई में घण्टी बजी तो मुझे ऐसा लगा जैसे रीढ़ की हड्डी में एक झनझनाहट दौड़ गई हो। सोफ़े पर बैग रखकर पापा बाथ-रूम में हाथ धोने चले गये थे। किसी मरीज़ को देखकर आने के बाद वे सीधे जाकर हाथ धोते हैं। उधर से लायब्रेरियन ने पूछा—"हल्लो ऽऽ।" तो मैं इस तरह बोल उठी जैसे यही बात पूछने के लिए मैंने फ़ोन किया हो—"देखिए, लायब्रेरियन साहब, मैं सुजाता बोल रही हूँ। उदय जी का डाक का पता आपके पास है ?"—"हाँ, हाँ, लेकिन क्यों ? उनके यहाँ अपने ड्रामे का निमन्त्रण भेजना है न ?" उन्होंने पता दिया, और मैं फ़ोन रखकर वहीं खड़ी-खड़ी नोट कर रही थी कि भूल न जाऊँ। पापा तौलिया से हाथ पोंछते हुए फिर आगये। बोले—"सज्जी, अक्का से ज़रा चाय को बोल दे। तूने पी ली न ?"

"जी, पापा।" मैं बोली। अम्मा को वे अक्का जाने कब से कहते हैं; लेकिन आज से पहले यह सम्बोधन इतना कानों को विचित्र नहीं लगा था। पहले-पहल मराठी-भाषियों के साथ रहना पड़ा था, सो 'अजी,' 'एजी', या सिर्फ़ 'सुनो' कहने वाले पापा को भी, हमको भी, हम लोगों के देखा-देखी एक सुविधा-जनक सम्बोधन

मिल गया। एक लड़की के पिताजी तो नौकरों की नकल पर अपनी पत्नी को "मालकिन" कहते हैं। पहले शायद किसी काम को कहने के साथ "अपनी मालकिन से कह दो" कहते होंगे···फिर केवल 'मालकिन' रह गया। मुझे क्या कहकर पुकारा जायेगा ? हिश्ट···।

उदय आज भी नही आये, न···फोन। आज तो मुझे रोना आ गया। मज़ा यह कि रोते वक्त मैं बड़ी गम्भीरता से यह भी सोच रही थी कि देखो, कैसी बेवकूफी की बातें कर रही हूँ मैं आजकल। कोई देखे तो क्या कहे ? फिर बाद में देर तक सोचती रही कि इस रोने का कारण क्या उदय का न आना ही है ? नही। व्यक्ति के रूप में तो उन्होंने मुझे इतना प्रभावित और इम्प्रैस किया ही नही कि मैं बाद में दूसरी बार मिलने को ललकूँ। कही उपेक्षा की एक कसकती हुई कचोट थी जो आँखों में आँसू ले आई। मेरा लिखना क्या वाकई इस लायक़ नही है कि किसी को प्रभावित कर सके। मात्र एक 'दया' है, एक 'लड़की' होने की रियायत है कि लोग इतनी लिफ्ट देते हैं।

अक्सर यह कसक भी मैंने अपने भीतर अनुभव की है कि मुझे जो प्रशंसा और चर्चा मिल रही है, उसके पीछे मेरी प्रतिभा या कृतित्व नही, नारी होना ज्यादा है। किसी भी पत्रिका में मैंने उल्टी-सीधी रचना भेजी, दूसरे ही दिन सम्पादकजी का स्निग्ध उत्तर आ पहुँचता है। क्या-क्या आश्वासन और प्रोत्साहन उसमें नही होते। पत्रिका आती है, पारिश्रमिक मिलता है और मैं पाती हूँ कि मेरी रचना नये सिरे से लिखकर छाप डाली गई है। अक्सर लोगों को मैंने शिकायत करते सुना है कि, "साहेब क्या कहें, हमारे पाठक तो ऐसे जड हैं कि आप अच्छी-से-अच्छी चीज़ लिख डालिए, भूलकर भी अपनी पसन्द-नापसन्द लेखक तक नही पहुँचाते। सम्पादक टिकट तक खा जाते हैं।" पर मेरा अनुभव बिलकुल दूसरा है। मेरी पहली कहानी छपी कि पत्रों का ढेर लग गया था। सच कहती हूँ, बड़ा गर्व होता था, बड़ा अच्छा लगता था और सोत्साह सहेलियों में कहती, 'समझती क्या हो, एक कहानी छपी और ख़त लाते-लाते पोस्टमैन परेशान हो गया।' और पत्र पढ़-पढ़कर हम लोग मज़ा लेते। पत्र ऐसे-ऐसे मानो मैं वरमाला लिये बस उन्ही की राह में बैठी हूँ। किसी का जीवन सूना था, किसी का हाहाकार भरा···। लेकिन मैं जानती थी कि यह मेरी कहानी का नही, मेरे नाम के साथ लगे "कुमारी" शब्द का प्रताप है। मेरे घरवाले, मेरे इस नये रूप से परेशान काफी रहे हैं। जो-जो पत्र आये हैं, अगर वे सब अम्मा को बता दूँ तो दूसरे दिन से डाकिये को इधर कदम न रखने दें। सहपाठियों और "यों ही दर्शन करने" आने-जानेवालों के खर्चे में

सभी को कितनी परेशानी उठानी पड़ी है, मैं ही जानती हूँ। वह तो शुरू-शुरू का जोश था सो निभ गया। पहले पापा-अब्बा को भी प्रच्छन्न सन्तोष हुआ था कि हमारी बेटी नाम कर रही है, लेकिन फिर यह सब वक़्त की बरबादी और सिर-दर्द हो गया। वह तो भला हो उस बेचारे फूलचन्द 'फूल' का, एक दिन चार-घण्टे बैठकर 'बोर' क्या कर गया, हम लोगों ने निश्चय कर लिया कि इन दर्शनार्थियों को आगे से लिफ़्ट नहीं देनी है।

और यही मुझे अक्सर कोंचता है। ठीक है, मुझे लड़की होने का पुरस्कार मिल रहा है, लेकिन मुझसे पहले भी तो लड़कियों ने लिखा है। न जाने कितनी नारी कवयित्रियाँ और लेखिकाएँ हैं। उन लोगों ने अपने दिनों में चाहे जितना शोर मचाया हो, साहित्यिक मूल्य-महत्व उनके लिखे का कोई क्यों नहीं मानता। देखती हूँ, विवाह के बाद वे अच्छी-खासी गृहस्थिनें बन गई हैं, और उनकी "प्रथम श्रेणी की प्रतिभा" आज बच्चे के तकिये का गिलाफ़ काढ़ने में ही दिखाई देती है। लिखना तो दरकिनार, उन्हें पढ़ने तक से घृणा हो गई है। इस सबसे बचने के लिए हो सकता है मैं शादी न करूँ; लेकिन क्या ये सारे प्रोत्साहनों और प्रशंसाओं का घटाटोप केवल मेरी 'नारी' तक ही रह जायेगा? कोई भी मेरी प्रतिभा और योग्यता को जाँच नहीं पायेगा? भय का घुन जैसे मुझे हर क्षण खाता रहता है। जब भी कहीं अपनी तारीफ़ सुनती हूँ तो लगता है जैसे कोई भीतर बोल रहा हो—'देख, यह तारीफ़ तेरी नहीं, तेरे लड़की होने की है!'

लेकिन जब कोई लड़की होने की तरफ़ ध्यान नहीं देता और रचनाओं के ही बल पर उन्हें उपेक्षा या आलोचना देता है तो मैं दुहरे अपमान से क्यों तड़प उठती हूँ? यानी खुद चाहती हूँ कि रचना के बल पर जाँचो मगर यह मत भूलो कि मैं लड़की हूँ। अजब द्वन्द्व है।

ख़ैर, अब मिले तो यह उदय का बच्चा, ऐसा व्यवहार करूँ कि याद आ जाये, कोई मिली थी। बड़े आये बीस-मिनट हमारे फ़ोन को घेरकर अपनी "बहनजी" से प्रेम-वार्ता करनेवाले। मान लो, इस बीच में कोई अर्जेण्ट-केस ही पापा को बुलाना चाहे तो? उनका क्या गया, हमारा तो नुक़सान हो गया न।

रविवार : १६ जून

कुछ अजब ढंग की नींद आई आज रात। लगा जैसे कल जो-जो बातें सोची या लिखी हैं, वे लिखी या सोची नहीं बल्कि उन्हें ठीक उसी भाषा में किसी के

साथ डिस्कस करती रही हूँ और जो कुछ मुझे याद रह गया है, वह उसी वार्तालाप की भाषा है। दूसरा आदमी कौन था, यह याद नहीं है। हो सकता है रेखा हो, उदय हो या तेज हो'''। अजब बात है, जब उदय से मिलती हूँ, तभी तेज की याद आती है, वैसे आती ही नहीं।

"अक्का, मैं जरा कुलकर्णी साहब के घर तक जा रही हूँ। कोई फोन-वोन आये तो कह देना कि दो-घण्टे में आ जाऊँगी। रेखा के पास मेरी लायब्रेरी की किताब है, उसमे कुछ ड्रामे के बारे मे भी तय करना है।"

एक कॉपी को गोल-मोल मरोड़ती, चप्पल घिसटाती हुई मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर आई। धूप कुछ तीखी थी। नीचे आकर दो लड़कियों को छाते लगाये जाते देखा तो ध्यान आया कि अपना पैरासोल ले आती तो कैसा अच्छा था। दोनों लड़कियाँ अपने-अपने छाते फिरकिनियों की तरह घुमाती चली जा रही थीं। प्रबल इच्छा हुई कि दौड़कर मैं भी अपना छाता ले आऊँ और खूब घुमाऊँ। हँसी भी आई, अपनी इस इच्छा पर। यह क्या कभी-कभी बच्चों जैसी मचलन मेरे भीतर होती है? पता नहीं, कहाँ जाने के लिए निकली थी, रेखा की तरफ''' उदय की तरफ? लेकिन होंगे इस वक्त वे घर मे? जाने, क्या करते हैं? किसी अखबार वगैरा मे नाम करते होंगे, और क्या? हर्ज क्या है? ज्यादा दूर तो है नहीं, यों ही घूमती हुई देख आऊँगी। न मिलेंगे तो कम से कम जगह का अन्दाजा तो हो ही जायेगा। जिज्ञासा है, आखिर ये लोग क्या-क्या पढ़ते हैं, क्या लिखते है? फिर मन मे हुआ कि 'उँह कौन जाये, व्यर्थ ही उन्हे भी गलतफहमी हो जायेगी। चलो, रेखा के ही यहाँ, जरा देर हा हा ही-ही रहेगी। आना तो उन्हे खुद ही चाहिए था। अगर आशा करते हों कि मैं आऊँगी, तो गलती है। आखिर लड़की हूँ, इतनी-सी बात उनके दिमाग मे नही आई होगी? और आखिर ऐसे भी क्या बड़े लेखक हैं? बम्बई मे सैकड़ो बड़े लेखक भरे हैं। जरा सम्पादकजी से इशारा कर दूँ, वे सब से मेरा परिचय करा दें। वे तो मुझे 'कृतार्थ' करने को उधार खाये बैठे है।—मुझे कैथरिन मेन्सफील्ड बनाने को कहते थे'''पहले गिन्नी को मीराँ और महादेवी भी तो बना रहे थे।

इसी सब दिमागी उधेड़-बुन मे मैं लेडी जमशेदजी रोड के बस-स्टैंड पर आ खड़ी हुई। 'क्यू' लम्बा था। सामने 'कैमिस्ट-दक' का बोर्ड देखती मैं सोचती रही, कि नये आदमी इन बोर्डों को कितने ध्यान से पढ़ते होंगे। हमारे लिए तो ये बिलकुल बेजान हो चुके है। मेरे सामने कसा ब्लाउज और जीन पहने बिलकुल लड़कों जैसे सुनहले बाल कटवाये, धूप का चश्मा लगाये एक पारसी या ऐंग्लो इण्डियन लड़की खड़ी थी। एक 'बस' आई, लेकिन मुझ से तीन आदमी पहले ही .

कंडक्टर ने लाइन रोक दी। लोग घूर-घूर कर जब इसकी निकली छातियों को देखते होंगे, तो इसे थोड़ी-बहुत झेंप तो आती होगी। हो सकता है, सन्तोष और आनन्द की गुदगुदी महसूस होती हो। मान लो, अपनी कहानी की हीरोईन एक ऐसी लड़की को बना डाला जाय तो कैसा रहे? एक ऐसी लड़की जो घोर 'अनैतिक' है और शरीर को क़तई महत्त्व नहीं देती। रोज़ नये सम्बन्धों में विश्वास करती है—नित्य नये और अपरिचित लोगों को 'कृतार्थ' करती है और कभी उनका नाम-पता कुछ नहीं पूछती। एक राजा था जो रोज़ एक नई लड़की के साथ सोता था और सुबह मरवा देता था—कहाँ पढ़ी थी यह कहानी? कोई कहता था, नित्य नये पुरुष के सम्पर्क में आने में ही आनन्द और थ्रिल है, जैसे नित्य संगीत की नई-नई ट्यूनें सुनने में। संगीत सचमुच आदमी को अजब ताज़गी दे देता है। "बुद्धिमानों का समय काव्य, कला और संगीत में ही बीतता है।" "जो संगीत का रस नहीं जानता वह साक्षात् सींग-पूँछ-हीन पशु है।" तो फिर रोज़-रोज़ नई-नई संगीत की ट्यूनें सुनी जायें। हिश्ट, मैं भी बहुत बिगड़ती जा रही हूँ।

एक हॉकर आँखों के आगे से अख़बार तैराता ले गया। तभी मैं चौंक पड़ी; सामने वाले फ़ुटपाथ पर उदय जैसा ही कोई जा रहा था। हाँ, वही तो हैं। कहीं, मेरे यहाँ ही तो नहीं जा रहे? मुंह खोलकर चिल्लाते-चिल्लाते, मैं खुद नहीं जानती, कैसे रुक गई। लोगों का ख्याल न होता तो शायद चिल्ला पड़ी होती। साड़ी की अगली पटलियों को हाथ में उठाकर 'क्यू' छोड़कर उधर लपकी। सड़क पार करते-करते एक कार को गुज़र जाने देने के लिए रुकना पड़ा तो ख़याल आया कि इस तरह दौड़ना ग़लत है। उन्हें खुद ही देखना चाहिए था, मुझे क्या ज़रूरत है? बहुत घनिष्ठ परिचय होता तब भी कोई बात थी। मुलाक़ात तो वास्तव में हमारी एक ही हुई है। छोड़ो भी, जाने कितनी देर को मुसीबत लगे जान को। और मैं एकदम रुककर अपनी जगह लौट पड़ने को हुई कि लाल बस पर 'बी० ई० एस० टी०' के बड़े-बड़े अक्षर मेरे सामने से गुज़र गये। बस गई। अब जाने कब नम्बर मिलेगा। हो सकता है हमारे यहाँ ही जा रहे हों, व्यर्थ ही लौटें। सुनें तो सही, क्या राय बनाई हमारी कहानी पर? और मैंने सड़क पार कर ली।

फ़ुटपाथ पर वह और नीचे उनकी बौनी-सी परछाईं चली जा रही थी। मैं जब जल्दी-जल्दी उनके पास पहुँची तो हाँफने लगी थी। इस बीच में सोच लिया था, कहूँगी—"कवि आँखें बन्द करके चले तो ठीक है, लेकिन कथाकार को तो आँखें खुली रखनी चाहिए।" इन शब्दों को दो बार मन में दुहराया।

लेकिन जैसे ही बगल में पहुँची कि उन्होंने चौंककर मेरी ओर देखा : "अरे, *मैं तो आपकी ही ओर जा रहा था।* इधर से गुज़रा एक मित्र के यहाँ से, तो लौटते हुए सोचा, आपको भी देखता चलूँ।"

मन में आया कह दूँ : क्यों जा रहे थे मेरी ओर ? क्यों वक्त-बेवक्त जब मुँह उठाया और चल दिये ? यह तो ठीक नही है। पापा, अक्का वैसे ही मेरे 'दोस्तो' से परेशान हैं। उनमे आपकी सख्या और बढे। मैंने कहा : "इस वक्त मैं आपको कहाँ मिलती ? वह तो बाई-चांस मैंने बसस्टैण्ड से आपको देख लिया जाते हुए, सोचा कही मेरी ही ओर न जा रहे हों। आजकल हमारे कॉलिज में ड्रामा हो रहा है न ?"

"नही, मैं तो वैसे ही इस कहानी को लौटाने जा रहा था। आप न होती तो घर दे आता।" वे जैसे अपनी ग़लती महसूस करके हतप्रभ हुए।

"वाह, मैंने आपको यह सिर्फ पढने को ही थोड़े दी थी ? मैं तो इस पर आपकी राय जानना चाहती थी। मुझे समझाइए, कहाँ क्या सुधार होने हैं ?"

"अरे, इस लायक हम हैं कहाँ···?"

उनकी इस विनम्र होने की शालीनता को काटकर मैं बोली—"आप मुझे फोन कर लेते तो ज्यादा अच्छा था।"

इस पर उन्होंने चौंककर मुझे ऐसे ढग से देखा, जैसे उम्मीद कर रहे हों कि मेरी इस बात में उनकी किसी कमज़ोरी का मज़ाक उडाया गया है। उनकी इस आशंका पर सच ही मज़ाक करने की इच्छा हो आई—"आपकी बहन आगई मद्रास से ?" वे एकदम लाल पड गये। जैसे 'फोन' और 'बहन' एक ही मज़ाक के दो रूप हों। अपने को सँभालने के लिए रूमाल से मुँह और गर्दन कसकर पोछते बोले—"बम्बई की सारी नमकीन चीज़ें अच्छी लगती हैं, बस इस चिपचिपाहट-वाली नमकीन गरमाहट से ही भाग उठने का मन करता है। हमारी तरफ की कोल्डनेस इतना परेशान तो नही करती।" वे मुसकराये तो मुझे लगा कि इस 'नमकीन गरमाहट' और 'कोल्डनेस' मे मैं भी आती हूँ। अनजान बनकर मतलब की बात पूछी—"आपने कहानी देख ली ?"

"अब यह यहाँ बताऊँ ?" शायद वे आशा करते थे कि मैं कहूँ चलिए घर ही चलें। लेकिन आज रविवार है, पापा घर ही होंगे, इसलिए घर ले जाना नही चाहती थी। चुप रही तो बोले—"आइए, किसी होटल-रेस्त्राँ मे ही बैठा जाय ?" फिर अपने प्रस्ताव की प्रतिक्रिया जानने के लिए मेरी ओर देखा।

"होटल मे ?" मैंने हाथ की कॉपी से आँखो पर आनेवाली धूप बचाते हुए कहा—"वहाँ तो बडा शोर होगा न।"

"तो कहाँ चलेंगी ? चन्दनवाड़ी चला जाय ?" उन्होंने मरघट का नाम होटल के शोर की वात के जवाव में मज़ाक में लिया था; लेकिन जैसे शब्द वीच में ही टूट गये। हम दोनों के ही मन में एक साथ वात आई। मनचलों का कोई जोड़ा ज़रूर मैटिनी न जाकर वहीं कहीं मँडरा रहा होगा (ऐसे एक जोड़े पर भी मुझे कहानी लिखनी है) न भी होगा तो औरों के लिए हम लोग खुद क्या होंगे ? और सच वात है कि घर के पास ही उनके साथ देखा जाना पता नहीं क्यों वहुत अच्छा नहीं लग रहा था। कोई परिचित ही इधर आ निकले।

होठों पर तल्ख़ मुसकराहट उभर आई थी। वे कह रहे थे—"वम्वई में रहने-वालों के लिए तो होटल के वाद दूसरी जगह मरघट ही है।" फिर जैसे मेरे संकोच को समेटते हुए से लापरवाही से वोले—"आइए, आप भी किस सोच में पड़ी हैं। मुझे भी आपसे इस कहानी के वारे में कुछ कहना है। सवसे पहले तो इतनी सुन्दर कहानी के लिए अपनी वधाई दे दूँ।" और मुझे स्पष्ट लगा जैसे मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे मोड़ ले चलने के लिए उनका हाथ उठते-उठते रह गया। कभी-कभी किसी का यों अधिकारपूर्वक कुछ करने को कहना भी कैसा अच्छा लगता है। अरे, मैं तो पिछली सारी झुँझलाहट और नाराज़ी भूल गई।

"लेकिन यह ध्यान रखिए, मुझे जल्दी लौटना है। पापा खाने को वैठे रहेंगे।" मैं चलते हुए वोली। हालाँकि मुझे पता था, घर कोई काम नहीं करना और जव मैं रेखा के यहाँ को कहकर जाती हूँ तो अक्का निश्चिन्त ही हो जाती हैं। वाद में हमेशा डाँटती हैं।

मैंने चलते हुए व्यग्र-भाव से पूछा—"लेकिन आपको कहानी में कमज़ोरी क्या लगी ?"

"इतनी वेक़रारी नहीं," वे वुज़ुर्गी से मुसकराये। सामने ईरानी-रेस्त्राँ को लक्ष्य करके सिर उठाये मुसकराते देखकर रुद्ध व्यग्रता से मैंने दाँत पीसे। मन में आया कोई तीखी-सी वात कह दूँ। यह वड़प्पन का ढोंग, यह पेट्रोनाइज़िंग ढंग की मुसकराहट मुझ से सही नहीं जाती। लोग कितनी कम उम्र में कितना वनने लगते हैं !

रेस्त्राँ में ज़्यादा भीड़ नहीं थी। वैरे ने ख़ाली केविन का पर्दा खोल दिया। हमारे भीतर जाते ही छल्लेदार पर्दो को झटका देकर फैलाते हुए पूछा—"काय सेठ ?"

खुलकर आराम से वैठते हुए वे परिहास से मुसकराये—"तुझे हम लोग क्या सेठों जैसे दिखाई दे रहे हैं ?"

काग़ज़ों के टुकड़ों की गड्डी और दूसरे में नीली-गन्दी पेंसिल लिये उभरे

कल्टोवाला सांवला बैरा मजबूरी में मुसकराया। । पता नही क्यों, मुझे उनका यह बनना भी अच्छा नही लगा । यह बैरे, कुली, कबाड़ियों से दिखा-दिखाकर मिलना और फिर उन पर एक भावुकताभरी कहानी लिख डालना इन लोगों का फैशन हो गया है । 'हम कितने मनुष्य हैं', मानो यह दिखाने का यही एकमात्र तरीका हो । वे मेरी ओर देखकर पूछ रहे थे—"आप क्या लेंगी ?"

"कुछ नही । मैं तो चाय ही लूंगी । अभी खाकर आ रही हूँ ।"

"पापा शायद शाम के खाने के लिए इन्तजार करेंगे ।" मेरे झूठ पर मुझे झेंपने का अवसर दिये बिना वे जल्दी से बोले—"खैर, आप चाहे खायें या न खायें, हमें तो कहीं-न-कहीं पेट भरना ही है । आज यहीं सही ।" फिर बैरे को चाय और बटाटा-बड़ा का आर्डर दिया ।

जब बैरा चला गया तो चार कुर्सियों और एक मेजवाले घुटे छोटे-से केबिन में केवल अपने को पाकर हम दोनो ही एक विचित्र सकोच से भर उठे । "अरे, बैरा सुनो ।" जैसे उन्हें कुछ और सहसा याद आया हो, इस तरह उन्होंने ज़रा-सा उठकर पर्दे से बाहर सिर निकालकर बैरा को देखा । फिर बिना उसे बुलाये लौट आये, लेकिन पर्दे मे जान-बूझकर एक फांक छोड़ दी । लगा, जैसे पर्दे में ज़रा-सी सन्धि छोड़ने के लिए ही उन्होंने यह नाटक किया था । मानो इसके ज़रिये वे बाहर की 'दुनियाँ' के भी सम्पर्क मे रहना चाहते थे, पर जैसे वास्तव मे वे उस फांक से बाहर की दुनियाँ को गवाह बनाना चाहते थे, कि हम लोग सिर्फ चाय ही पीने आये है, इन केबिनो को जैसा कुछ अभ्यास है, वह सब नही है । बैरा आकर दो गिलास पानी रख गया और उसे अपनी असावधानी समझकर आदतन फिर पर्दे ठीक कर गया तो एक-दूसरे की ओर देखकर हमलोग बडे ही सहज-रहस्यमय ढंग से मुसकराये—मानो कह रहे हो, देखा, बैरा भी उसी का अभ्यस्त है जो हमलोगो के बीच मे कतई नही है ।

इस भावना को दूर करने के लिए मैंने गिलास उठाकर मुँह से लगा लिया और उन्होंने पास की कुर्सी पर रखी कहानी को उठाकर मेज पर ज़ोर से रखकर एकदम गम्भीर व्यस्तता से कहा : "मेरी जो भी राय होगी उसे आप गम्भीरता पूर्वक नही लेंगी—यह उस दिन आपने कहा था," फिर उसी बात को बढाकर सीधे विषय-वस्तु पर आकर बोले : "इस कहानी का प्लॉट आपका नही मोपासाँ का है ।"

"ऍऽऽ !" खट से गिलास मेरे हाथ से फिसल पड़ा और मेज़ की काँच की सतह पर जोर से गिरकर पानी फैलाता हुआ लुढ़का तो मैं हड़बड़ाकर एकदम उठ खड़ी हुई । वे गिलास पकडने को लपकें, तब तक, गिलास धरती पर गिरकर

चूर-चूर हो चुका था। मैं लज्जा से कटी-सी जाती हुई कपड़ों से पानी झाड़ने लगी। तब तक काउण्टर पर जालीदार बनियान और तहमत पहने "मनीजर" ने ऊँचे स्वर में कहा : "दो नम्बर में क्या हुआ, देखेगा।"

बैरा सीधा आकर बड़ी रहस्यवादी अनुत्सुक मुसकराहट से इस तरह बोला जैसे यह तो यहाँ रोज होता है, इन केबिनों में बैठनेवाले अपने होश में कहाँ होते हैं; बड़ी स्वाभाविक बात है : "छोकरा, गिलास झाड़ेगा।"

मैं झेंपकर पानी-पानी हुई जा रही थी। चेहरा एकदम झन्ना उठा था। मेज पुँछ गई। वे फिर बड़प्पन से मुसकराये : "अरे, आप तो बहुत कच्ची हैं।" पहले तो मुझे लगा था जैसे वे मेरे संकोच और उस स्थिति में बौखला उठने का आनन्द ले रहे हैं, पर फिर मुझे उस लज्जा से उबारते-से वे मेरी ओर न देखकर बोले—"देखिए, कला की दुनिया में कमजोर आदमी के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ तो बहुत मोटी-खाल का आदमी होना चाहिए। नक़ल और छाया का आरोप, गालियाँ, और जब कुछ न हो पाये तो उपेक्षा, यहाँ के रोज इस्तेमाल होने वाले हथियार हैं।" अपने व्यवहार की बेबसी और प्रतिरोध की प्रबल इच्छा का एक ऐसा द्वन्द्व मन में हुआ कि मुझे रोना आने लगा। घुटे गले से बोली—'लेकिन मोपासाँ की तो आज तक मैंने ऐसी कोई कहानी नहीं पढ़ी। मैं तो पढ़ती ही बहुत कम हूँ।" पता नहीं क्या चीज थी कि भीतर चुभती-पैठती चली जा रही थी और कुछ रह-रहकर तिलमिला उठता था। मैं साड़ी के पल्ले से कसकर सिर झुकाये धूप का चश्मा पोंछती रही।

वे जैसे किसी बहुत ऊँचे स्थान से नपी-तुली मुसकराहट चेहरे पर लाकर बोले—"इतनी जोर से पोंछेंगी तो चश्मे के काँच निकल आयेंगे। लीजिए, आप तो एक ही बार में रो पड़ीं। यहाँ तो यही सब सुनते-सुनते कान पक गये कि आपका उपन्यास 'स्टीनबैक' के उपन्यास की नकल है, उसकी शैली 'ग्राहमग्रीन' की और विषय-वस्तु 'काफ़्का' की है। सब मिलाकर समरसैट मॉम और सार्त्र की बुरी तरह छाया है। कहानियों के तो सारे प्लॉट ही निर्विवाद रूप से रूसी और फ्रेंच लेखकों के चुराये हुए हैं।" फिर जैसे मुझे सान्त्वना देते-से बोले—"लेखक को बड़ी क्रूरतापूर्वक अपने और दूसरों के प्रति तटस्थ रहने की जरूरत है, सुजाता जी। यह सब नारी-सुलभ कमनीयता यहाँ काम नहीं देती। फिर मेरी बात आपने पूरी सुनी कहाँ ? मैं तो कहता हूँ कि ऐसे सजीव कथोपकथन, मनोभावों का ऐसा जानदार वर्णन मैंने आज तक पढ़ा ही नहीं। और निःसंकोच भाव से आप में एक प्रथम श्रेणी की कहानी-लेखिका के गुण हैं। लेकिन प्रभावों से बचने के लिए बड़ा ही सचेत रहने की जरूरत है।"

"मैं इसके लिए तैयार नहीं थी । माफ कीजिए, बात आपने इतने अचानक ढंग से कही," मैं अबतक सुस्थ हो चुकी थी । सँभलकर बोली : "विश्वास रखिए मैं बहुत ही मजबूत हूँ । अपनी कमजोरी आपको बताऊँ, मुझे वैसे ही पढने-पढाने का ज्यादा शौक नही है । दूसरे ये विदेशी नाम कुछ ऐसे अजब होते हैं कि समझ में ही नही आता कि कौन किस से, किसके बारे मे बोल रहा है । किसी का नाम ग्रुजिस्की है तो किसी का नायेज्दा फ्योदारोव्ना । एक घण्टा तो इस नाम को समझने को चाहिए । दूसरे, सच मानिए, मुझे मोपासा की कोई कहानी याद नही है ।" मैं सफाई देती-सी बोली ।

बैरे को चाय रखने देने के बीच मे चुप रहकर वे बोले—"देखिए एक बात है । हमलोग अगर दो बातों पर एकमत हो जायें तो बड़ा अच्छा हो । एक तो यह कि मैं कुछ बदतमीज़ और मुँह-फट हूँ, दूसरे हर बात को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कहने का मुझे बहुत अभ्यास है । इसलिए इतनी छूट आपको देनी होगी कि कहने का बुरा न मानें और अगर किसी भी बात से असहमत हो तो अपना विरोध साफ शब्दों मे जाहिर करें । साथ ही मेरी बात को उचित काट-छांट के साथ ही स्वीकार करें । वे निहायत गम्भीरता से बटाटा-बडा की प्लेट बीच मे रखकर बोले—"थोड़ा-सा तो लें न ।"

"नही ।" उनकी सारी प्रशसा मुझे बिना छुए ही निकल गई । अपनी हरकत पर अब और नये सिरे से झेंप आ रही थी । देखो, मैं भी कैसी मूर्खा हूँ, कुछ नही तो गिलास ही गिरा दिया । क्या कहेंगे, बनने को ऐसी मजबूत बनती हूँ, "मैं वो हूँ, मैं यों हूँ '' एक बात कह दी, हो सकता हो, झूठ-मूठ को उत्तेजित करने को ही कह दी हो, और यों बौखला उठी । मैं चश्मे की दोनो कमानियाँ खोलती और बन्द करती उनकी बात ध्यान से सुनने की मुद्रा मे बैठी रही । वे चम्मच से खाने लगे थे ।

"मैं तो यह कह रहा था कि इस कहानी को पढकर मुझे मोपासाँ की एक कहानी याद हो आई थी । अच्छा, यह बताइए आपको कौन-सा देशी-विदेशी लेखक पसन्द है ?"

"मैंने बताया न, कि विदेशी लेखक अपनी समझ से परे हैं और देशी लेखक···" मैं अब पूरी तरह स्वस्थ हो चुकी थी । उनके पीछे केबिन की दीवार में एक बडा पतला-सा कील जैसा छेद था । शायद इस केबिन मे झांकने के लिए होगा । सचमुच ऐसा कौन-सा लेखक है, मुझे एकदम छांटने मे नही आ रहा था । इस दृष्टि से तो कभी पढा ही नही । एक-एक लेखक को मन मे तौला और नापास कर दिया । तभी याद आया कि मुझे खुद इनसे ही कु᳚ पछनी

ऐसी 'बोर' है कि पन्ने उलटे बिना नहीं रहा जाता और कुछ जगहे ऐसी है जो किसी उपन्यास में मुझे नही मिली।"

"जैसे ?" वे जेबमें कुछ टटोलते रहे।

"ऑब्जर्वेशन—अर्थात् निरीक्षण। परिस्थिति का चित्रण, वातावरण, लोगो की भंगिमाओ का चित्रण और वार्तालाप, सचमुच बांधे रखनेवाले हैं, लेकिन कुछ जगहे पढ़ना तो मज़ा काटना है।"

उन्होंने जेब में से पोस्टकार्ड और लिफाफों की एक गड्डी निकाली और मेज पर रख दी। झुककर चाय सुडकते हुए तटस्थ भाव से बोले "यह पाउडर की चाय पीते-पीते तो चाय पीने का स्वाद ही मर गया। हाँ, यह पत्र उस उपन्यास पर आपसे मिलने के बाद आये हैं।"

"सर्टिफिकेट साथ ही लिये फिरते हो ?" मुझसे मज़ाक किये बिना नही रहा गया। एकाध लिफाफे की हैण्डराइटिंग ज़नानी थी। लिफाफा एकाध बहुत ही खूबसूरत था। मन हुआ उसे निकालकर देख लूं। पर ठण्डे स्वर में बोली—"लेकिन मैं कभी भी सर्टिफिकेटो से प्रभावित नही होती।"

झेंप मिटाते-से कहा—"आपको प्रभावित नही कर रहा। लेकिन देख लीजिए, आपकी लड़कियो ने ही क्या लिखा है ? मेरे एक गुजराती लेखक मित्र कहा करते हैं कि "गर्ल्स एण्ड विमेन आर द मोस्ट इण्डिस्क्रिमिनेटिंग रीडर्स'। अर्थात् आप जिन्दगी भर उन्हे पढने को दिये जाइए, वे अपनी रुचि ही नहीं बना पायेंगी। खराब उपन्यास है तो उसकी बुराई करती जायेंगी, लेकिन पढती जायेंगी।"

"वाह, यह गुजराती लडकियोंकी बात होगी। हमें पसन्द न हो तो हमसे आगे एक लाइन नही पढी जाती।" मैं प्रतिरोध के भाव मे बोली। वे प्लेट खत्म करते रहे। मैं जानती थी वे मुझे पत्र पढने का समय दे रहे है। सभी मे उनकी तारीफ भरी थी। अपने चेहरे की प्रतिक्रियाएँ भांपनेवाली उनकी निगाहों को मैं महसूस करती रही। खूबसूरत लिफाफा हाथ मे आया ही था कि वे बोले "यह मेरी बहन का पत्र है।"

"कौन बहन ?" मैं समझ तो गई, मगर बनकर बोली।

"वही, जिन्हें उस दिन टेलीफोन किया था।" उनका चेहरा फिर लाल पड़ गया।

अथाह आश्चर्य से पूछा "एक ही शहर मे पत्र लिखती है ?"

"नही, बाहर हैं।"

लिफाफे के रंग का ही कागज निकालते हुए पता नही

कैसी एक बेचैनी देखी कि पूछा—"पढ़ लूँ ? नाम क्या है आपकी बहन का ?"

"नाम...नाम...कुछ नहीं, हाँ अपर्णा है।" वे हकला गये, फिर पत्र की ओर इशारा करके कहा—"क्या करेंगी पढ़कर ? छोड़िए।" उन्होंने लिफ़ाफ़ा लगभग हाथ से ले ही लिया। मुश्किल था कि न देती। मन में तो आया, एकदम दूसरी ओर मुँह करके जल्दी-जल्दी पढ़ डालूँ, लेकिन इतनी अधीरता दिखाना अच्छा नहीं था। सारे पत्र मैंने लौटा दिये। पत्र लेते समय उनके चेहरे पर एक सन्तुष्ट स्वाभिमान था। मगर मेरा स्वाभिमान भीतर ही भीतर फुफकार उठा था। मन के बहुत भीतर कोई धीरे से बोला—"आज ले लो, लेकिन यह पत्र एक दिन मुझे खुद पढ़ाओगे और मैं तब पढ़ूँगी नहीं।" वे मानो हर बार मेरे व्यक्तित्व को ललकार रहे थे। एक ओर तो मेरी इच्छा होती कि पीसकर चूर-चूर कर डालूँ इनके इस सारे मुखौटे और 'मास्क' को, दूसरी ओर मन एक अनजानी दया से भर उठता : छोड़ो, बेचारा नहीं जानता नारी के व्यक्तित्व को चुनौती देनेका क्या अर्थ है। बड़े-बड़े विश्वामित्र हाथ डाल गये, यह बेचारा है किस मुग़ालते में ? अपने साथ ही घटी पिछली कई घटनाएँ मुझे याद हो आईं।

"आप बुरा मान गईं ?"—जेब में वापस पत्र रखकर वे कह रहे थे।

"नहीं तो। क़तई नहीं।" मैं अतिरिक्त जोश से बोली।

"एकदम उदास और चुप हो गईं न ?"

उनकी इस बात ने मुझे रेखा के एक रिमार्क की याद दिला दी : "तू बड़ी इण्ट्रोवर्ट (अन्तर्मुखी) होती जा रही है। शादी-वादी कर-करा ले, वर्ना यह एकदम चुप हो जाना, यह बेलगाम बक-बक किये जाना, तुझे पागल बना देगा।" सच, यह अचानक बातें करते-करते मैं क्या सोचने लगती हूँ ? लेकिन दुनिया के सारे मर्जों की बस एक ही दवा है—शादी ? हुँह ! इनकी शादी हो गई ? पूछूँ ? हिश, क्या सोचेंगे ? बातों ही बातों में अपने-आप कह देंगे। जैसे इसी मानसिक स्थिति से बचने के लिए मैं बोल पड़ी : "मैं सोच रही थी कि आप अपनी बहन को बहुत ही प्यार करते हैं न ?"—फिर अपनी बात साफ़ की—"हमें तो अपने भाई से बड़ा डर लगता है। जब मिलेंगे तो लड़ेंगे।"

अरे, इसमें एकदम लाल पड़ने की क्या बात है ? जैसे किसी ने गुलाल पोत दिया हो। वे झुककर पत्रों की गड्डी को कुर्ते की बगल वाली जेब में रखने लगे। सिर झुकाये-झुकाये व्यस्तता से बोले—"आपसे मिलाने वाला था। लेकिन वह कम्बख्त चली ही गई।"

"कहाँ ? वे तो शायद मद्रास गई थीं। लेकिन लौटने वाली होंगी अब तो।"

वे हँसे—"बहुत याद रखती हैं आप तो सारी बातें। वे लौटने वाली ज़रूर

थी, लेकिन वहीं से सीधी अपने पति के पास शिमला चली गईं। कोई जरूरी काम आ गया होगा।"

मैंने बाकी चाय एक साथ खत्म की ही थी कि वही फटी जालीदार बनियान पहने काला-सा छोकरा खाली प्लेटें उठाकर कपड़े से मेज साफ़ कर गया। होटल में इसका एक खास अर्थ होता है। उन्होंने कुर्सी से पीठ टिका ली और एकटक घूमनेवाले पंखे को देखने लगे। मैंने पूछा—"यहां क्या आपके साथ नहीं ठहरीं ?"

"एक-एक कप चाय और लें।" वे सहसा सीधे होकर बोले।

"नहीं आप ले लीजिए। लेकिन यहां तो बहुत घुटन है। चलें अब।" पंखे-की हवा में गर्मी तो अब कम हो गई थी; लेकिन इतने पास अकेले उनके साथ बैठना अजब-अजब-सा लगने लगा था। नीचे के खुले हिस्से से पांव आते-जाते दीख जाते थे। जब दुबारा चाय आगई तो उन्होंने मेरी बात का जवाब दिया—"मेरे पास उसे ठहराने को जगह कहां है ? वे लोग बड़े आदमी हैं।"

"खास बहन हैं ?"

"नहीं···" आगे जैसे बड़ी कठिनाई से उन्होंने कहा—"कज़िन।"

मैं दुष्टता से मुसकराई। उनके चेहरे की घबराहट पर व्यंग्य किये बिना नहीं रहा गया—"खैर, यह शब्द तो बड़ा व्यापक है।"

"यानी ?" वे सँभले।

"यानी क्या ? अब ज्यादा कुछ नहीं कहूँगी, नहीं तो आप और लाल-पीले हो जायेंगे।" मुझे लगा हो-न-हो, जरूर कुछ दाल में काला है। कौन है वह ? कैसी है ? बिना अपनी बात पर उन्हें अधिक सोचने का अवसर दिये मैंने पूछा—"आप क्या यहां फैमिली के साथ रहते हैं ?"

"फैमिली का जो प्रचलित अर्थ है, उस अर्थ में तो अभी तक फैमिली बनाई ही नहीं। यों घर पर सब हैं। यहां तो एक मित्र के साथ रहता हूँ।"

"घर—?" मैंने मेज पर कुहनी टिका ली और कलाई मोड़कर उसके ऊपर ठोडी टेक ली। पतली-पतली उँगलियां और नाखून आँखों के सामने थे। हथेली के पीछे वाले हिस्से में "वी" की शक्ल बनाती दो पतली-पतली नसें उभर आई थीं। गोरी खाल में वे अच्छी लगती हैं, लेकिन कमज़ोरी की निशानी भी। रेखा कहती है, इस पोज में तू बड़ी मासूम और इनोसेन्ट लगती है। मेरी आँखों के सामने सिनेमा का एक सीन आ गया। उसमें ठीक इसी पोज में नलिनी जयवन्त बैठी थी। सच, कैसी भोली-भाली लगती थी वो।

"घर मेरा मेरठ में है। वहीं सब भाई-बहन हैं।" चाय का घूंट पीते

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, और फिर दूसरी ओर देखने लगे।

"अरे-ऽऽ ?" मैं चौंक पड़ी—"हम लोग बुलन्दशहर के हैं, लेकिन पढ़ी तो मैं मेरठ ही हूँ। अच्छा, तभी उस दिन लायब्रेरियन साहब कहते थे कि आप अपनी ही ओर के हैं। आप वहाँ किस सन् में थे ? कभी देखा नहीं।"

"बी० ए० के बाद इलाहाबाद चला आया था। साहित्यिक बनने का बड़ा जोश था और सुनते हैं जो इस तीर्थ का स्नान नहीं करता उसे साहित्य की वैतरणी का किनारा तक नहीं मिलता। लेकिन पाया कि तीर्थ-घरों के घटा-टोप में तीर्थ बेचारे का कहीं पता ही नहीं है। पण्डों का भयंकर जमघट है वहाँ, अकेला-दुकेला देखें तो लूट-लाटकर संगम-समाधि दिला दें और अच्छा जजमान देखें तो दोनों वक्त चन्दन घिस-घिस कर लगायें। घाट पर अपनी-अपनी छतरी लगाये बुज़ुर्ग, कमसिन-महंत और नये-नये मुर्ग़े फाँसकर लाने वाले उनके चेले-चाँटी; जो खाली वक्त में गुरुजी का जय-नाद करें। मैं शुरू से ही स्लॉव रहा हूँ, सो वहाँ भी नहीं पटी। आप मेरठ में कहाँ थीं ?"

"इण्टर रघुनाथ कॉलिज से करके यहाँ आगे पढ़ने आ गये।" और फिर मैं बड़े विस्तार से उन्हें यह बताने लगी कि यहाँ आकर क्या-क्या दिक़्क़तें उठानी पड़ीं। अपने बारे में बताते समय मैं हमेशा ही एक सहज उत्साह से भर जाती हूँ और मेरा चेहरा खिल उठता है। चाय खत्म हो गई तो अनजाने ही हमलोग उठ खड़े हुए। एक ओर मुड़कर बग़ल में लटका पर्स खोलती-खोलती मेजों के आड़े-तिरछे रास्ते से बाहर दरवाज़े के काउण्टर पर आई, तब तक वे पहले ही आ चुके थे। तरह-तरह के अमृत-बानों में बिस्किट, लैमन-ड्रॉप्स भरे मोटे-से 'मनीजर' के पास हाथ से ज़रा दूर ही दूर मुझे रोकते हुए वे बोले—"क्या कर रही हैं ? यह नहीं होगा। मैं दूंगा।" उन्होंने जेब से दो-तीन मुड़े-तुड़े कागज़ निकाले और उन्हीं में से पाँच का नोट निकालकर ऐसे प्रार्थना-भरे स्वर में हाथ से रोकते, पर साथ ही डरते हुए कि कहीं शरीर का स्पर्श न हो जाये—कहा, तो मैं रुक गई। मैनेजर के घण्टी पर हाथ मारने से पहले ही पीछे से बैरे की दबे गले से लगाई आवाज़ आई—"तीन चाय स्पेशल, एक बटाटा-बड़ा, दस्साना। एक गिलास तोड़ा छै आना—एक रुपया।"

मैंने हँसकर पैसे रख लिए—"आप लोग समझते हैं कि पैसे देने और बिल चुकाने का काम सिर्फ़ आप ही लोगों का है।"

नीचे फ़ुट-पाथ पर आये तो वे हँसकर बोले : "यहाँ की यह नीलाम की-सी बोली मुझे बड़ी बुरी लगती है। कम्बख्त इस तरह चीख़ते हैं कि चौराहे पर सुन लो।

"लेकिन यहां कौन किसी की सुनता है ?" बाहर फिर वही चुनचुनाती धूप थी, चौंधा था। एकदम आँखों के आगे काले-काले अँधेरे के रोयेदार बादल तैर गये। मैंने चश्मा चढ़ा लिया। उन्हे काउण्टर पर पैसे देते देख, एक बात जो मन मे कही छिपी बैठी थी फिर उभर आई। ये काम कहाँ करते है ? मैं उनके चुप होने की राह देखने लगी।

"आप विश्वास नही करेंगी, सुजाता जी।" सामने चलते हुए वे कह रहे थे—"हम बम्बई के बारे मे सुना करते थे, लेकिन यह ऐसा क्रूर शहर है इसका अन्दाजा पहले कभी नही था। मोटर-साइकिलवाला सड़क चलते मुसाफिर को धक्का देकर या कुचलकर बिना पीछे मुड़े ही फुल-स्पीड पर साइकिल भगाता ले जाय, यह सीन बम्बई मे जब दिन-दहाड़े देखा तो लगा जैसे मुझे ही गिराकर कोई चला गया हो। आप गिरिए, मरिए, यहाँ किसी को आपकी ओर देखने की फुर्सत नही है। कोई यहाँ आपके निकट आने की कोशिश नही करता। वर्षों साथ रहिए, जैसे एक शिष्टाचार है जो रोज खिंचता चला जाता है'''।"

जब लौटी तो सोचती आरही थी कि उफ, आज कितनी बातें की हैं हम लोगों ने। शायद ठीक नही हुआ। इतनी जल्दी इतना खुल जाना अच्छा नही है, इस बात को मैं अनुभव कर रही थी, लेकिन जाने कैसा बातों का प्रवाह था, वातावरण का प्रभाव था कि हमलोग बातें ही बातें करते रहे।

पहली मंजिल के मोड़ पर ही चप्पलों की घिसटाहट से सिर उठाकर चौंककर देखा कि रेखा चली आ रही है। झुंझलाहट साफ थी चेहरे पर। मेरा कलेजा धक् से रह गया। याद आया, मैं तो अक्का से इसी के यहाँ जाने को कहकर गई थी। इस कम्बख्त को भी आज ही मेरे यहाँ आना था। अक्का वैसे ही मेरे 'लच्छनों' से खार खाये बैठी है, जाने ऊपर क्या-क्या भिड़ा आई होगी। जाने कितनी देर का विवाद छिड़े'''।

मुझे देखते ही रेखा फूट पड़ी. "मटरगश्तियाँ कर आईं महारानी जी ? मैं कहती हूँ कि आप कभी घर मे भी टिकती हैं कि जब देखो तब लोफरी करती घूमती है।"

मैंने प्यार से उसके गले में हाथ डाल दिया और कन्धे से पकड़ कर ऊपर ले चली। दबे गले से निहोरे भरे स्वर मे कहा "अच्छा चल-चल, ऊपर लड़ेंगे। यहाँ नहीं; चल मुन्नी !" इसको ऊपर ले चलने में एक फायदा और भी था कि अक्का थोड़ा कम बड़बड़ायेंगी। इसका लिहाज करके। बाद मे तो सँभल ही जायेगा।

वह कुहनी झटककर मरखनी गाय की तरह बोली—"चल हट, हम क्या घर से फालतू है तेरी तरह ?"

"तो चीख़ क्यों रही है दादी ?" मैंने उसी तरह ख़ुशामद के स्वर में कहा—"यहाँ सीढ़ियों पर कोई सुने-सुनाये।"

"तो सुन लेने दे। हमें क्या किसी का डर पड़ा है ?" उसने इस बार हाथ नहीं झटका। अनखाकर मुझे कृतार्थ करती-सी ऊपर चलने लगी। भुनभुनाती रही—"न वक़्त देखना न मौसम। दोपहर हो या शाम, जब देखो तब लिया और मटकते हुए आँखें लड़ाने चल दिये।"

"किससे आँखें लड़ाने गई थी मैं ?" मैं हँसी रोके थी।

"अब हमें पता है, जाने कहाँ-कहाँ की धूल फाँकती फिरती है ? तुझे भी बम्बई की हवा लग गई है। आई थी तो बोल नहीं निकलता था। सीधे पल्ले की धोती पहनती थी।"

"तेरे पुरखे तो यहीं धरती फोड़कर निकले होंगे ?" जाने क्यों बड़ी थकन-सी भी महसूस हो रही थी और कुछ रेखा की सहानुभूति लेने के लिए कि मैं बड़ी थकी हुई हूँ, हर सीढ़ी पर कराहकर और घुटनों पर हाथ रखकर चढ़ती थी। उसके कान का सफ़ेद नगोंवाला फूल आज बड़ा ख़ूबसूरत लग रहा था। मैं बोली—"वह तो कह हम लोगों के साथ कपड़े पहनना तब भी सीख गई है; वर्ना तुम्हारे चन्दापुर में जैसी घुटनों तक की दुलंघी धोती पहनी जाती है, वही पहने होती अभी भी।" लेकिन इस मजाक में भी उसके 'हवा' के मुहावरे पर फिर उदय का ध्यान हो आया था। इच्छा हुई, क्यों न इसी से कुछ बातें कर डाली जायें, उस समय मैं चाह रही थी कि किसी से इस बारे में कुछ बातें की जायें, कुछ सोचा जाये। रह-रहकर लगता था, आज कुछ बहुत बड़ा हुआ है; कोई ऐसी घटना हुई है जिसने मेरी चेतना को आविष्ट कर लिया है। गम्भीर बनकर पूछा—"ऊपर कौन मिला था ?"

"अरे मिलता कौन ? अक्का तेरी हड्डी-पसली तोड़ने के लिए डण्डा लिए बैठी हैं। मैं और कह आई हूँ कि अभी तक सिर्फ़ रेडियो-वेडियो पर कुछ पढ़ आती थी, अब सबके सामने 'ध्रुव-स्वामिनी' बनेगी···"

"मैं पूछती हूँ, हॉल तय हो गया ?" मैं नाराजी-वाराजी सब भूल गई।

"अरे हो ही गया होगा साला, हमें क्या उसमें अपनी शादी करनी है ? तुम जानो और अरुण जाने।"

"आय···हाय···। यह साला, यह शादी···" मैंने उसे फिर बांहों में भरकर कमर गुदगुदा दी—"बड़ी मस्ती आ रही है। अच्छा, यह मर्दानी गालियां देने में बड़ा अच्छा लगता है।"

"मस्ती आ रही है तुझे। चल, दूर हट। सारा बदन चिपचिपा रहा है।"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और लाल हो गई। मेरे हाथों से छूटकर गरवे का एक घेर लेती हुई-सी दरवाजे की घण्टी पर हाथ रक्खे खड़ी हो गई—रखे रही; हटाया नहीं।

"बस, बस भाई, कोई कहेगा, कौन गँवार आ गया।" मैंने रोका। तभी विट्ठू ने भीतर से हड़बड़ाकर चटखनी खोली। मैंने भीतर घुसते ही पूछा—"अक्का कहाँ है ?"

"वर्मा साहब के यहाँ हैं। अभी आने को बोला था।" वह रेखा को देखकर सहम गया था। मेरी साँस में साँस आई। रेखा की दुष्टता पर क्रोध आ गया। अक्का के बारे में पूछने का अर्थ कहीं यह विट्ठू मेरे मन का डर न लगा ले, इसलिए एकदम पूछा—"इस रेखा से तुमने बैठने को भी नहीं कहा ?"

"हमने तो बाई से बहुत बोला, अभी अक्का आती होगी, सज्जी बाई आयेंगी। ये बैठा ही नहीं।" वह सकपका गया।

पापा चैम्बर गये होंगे, मैं जानती थी। इसलिए निश्चिन्तता की साँस ली। रेखा का सारा गुस्सा ठंडा हो गया था। मैंने व्यस्तता से भीतर जाते हुए कहा—"दो कप फुर्ती से चाय बना दो, और देखो, कोई आया तो नहीं था न ? किसी का फोन-वोन ?"

और फिर जो रेखा से गप्पें लड़ी हैं कि बस। जाने हम लोग कब तक बातें करते रहे थे···मैंने बता दिया कि मैं उदय पर एक कहानी लिख रही हूँ।

मंगल : १८ जून

उस दिन रेखा ने कई बार टोका : "सज्जी, तू सुन नहीं रही है। तेरा दिमाग है कहाँ आखिर ?" वह अपने को उँडेलने आई थी और मैं खुद अपने आप में इतनी भरी बैठी थी कि बीच-बीच में मन न जाने कब बह जाता था। उस दिन तो वे बातें निहायत साधारण और स्वाभाविक लगी थीं, लेकिन आज जब उन सारे चित्रों को सामने लाती हूँ तो हर तस्वीर एक नये अर्थ से जगमगाती लगती है। ओफ, उस दिन की सारी छुट्टी कैसे उदय को ही लेकर बीत गई थी।

रेस्त्राँ से बाहर निकलकर बम्बई के बारे में उन्होंने जो राय दी थी उस पर मैं गम्भीर मुँह बनाये चुप रही। कुछ देर बाद बोली—"आप क्या सिर्फ लिखते

ही हैं या किसी आफ़िस में…?" उन्हें कनखियोंसे देखते हुए अपनी बात मैंने जान-बूझकर अधूरी छोड़ दी।

"क्या ऑफ़िस ?" एक गहरी साँस लेकर वे बोले—"जिनके साथ श्रद्धेय लग गया है, उन्हें छोड़कर हिन्दुस्तान में सिर्फ़ लिखने पर कोई रहा है आज तक ? बड़ा बंगला और मराठी का शोर है; लेकिन मुझे तो एक भी लेखक नहीं दीखता जो केवल अपने मन का लिख रहा है। और भले नागरिक के ढंग से रह रहा हो। अपने वास्तविक 'कण्ट्रीब्यूशन' को सभी स्थगित करते चले जाते हैं और वह करते हैं जिसे 'मजबूरी की मजबूरी' कहा गया है। कोई अनुवाद करता है तो कोई सम्पादन, कोई टैक्स्ट बुक में लगा है तो कोई किसी प्रेस का प्रूफ़रीडर। कोई साहब किसी नेता के लिए भाषण लिख-लिखकर दे रहे हैं, तो कोई दूसरे नाम से जासूसी और 'पोण्डी साहित्य' की रचना कर रहे हैं…"

"लेकिन आप तो काफ़ी प्रसिद्ध हैं न…" उदय की इस बात से मैं डर गई। सचमुच क्या यही वह लाइन है जिसमें मैं अपने को डाल रही हूँ ?

"जी हाँ, मैं उन्हीं लोगों की बात कह रहा हूँ जिन्होंने इसे अपना जीवन बना रखा है ? वर्ना साहित्य, कला-वला ये सब लोगों के लिए मनोविनोद की ही चीज़ें हैं, या कहें कि अतिरिक्त क्वालिफ़िकेशन हैं। और जो जिस भाषा को थोड़ा-बहुत पढ़-पढ़ा लेता है या कहीं किसी प्राइमरी स्कूल या हायर सेकेण्डरी में टीचर या लेक्चरार है उसका तो कहना ही क्या है ! वह तो अपने को उस भाषा का सार्जेण्ट समझता है।" वे उत्तेजित हो उठे थे। मैंने देखा कि उत्तेजना में उनके नथुने कछुए के नथुनों की तरह फूल उठते हैं। चलते-चलते एक मकान की बाउण्ड्री से बाहर फ़ुटपाथ पर झाँकती पेड़ की फुनगी को हाथ बढ़ाकर तोड़ लिया और चबाते हुए चलने लगे।

मुझे लगा कि यह उनका दुखता फोड़ा है और उसे छूना नहीं चाहिए था। बात को हल्का मोड़ देने के लिए पूछा : "आज कल आप क्या लिख रहे हैं ?"

"फ़िल्म 'ज़माने की रफ़्तार' के सीन और डॉयलाग।" उन्होंने तल्खी से कहा—"पिछले तीन साल से एक उपन्यास लिखने की सोच रहा हूँ लेकिन कभी भी इतनी फ़ुरसत नहीं मिली कि उस पर सोच भी सकूँ, बैठकर मेहनत करने की बात दूर है।

अचानक अपने को कैडल रोड पर पाकर मुझे होश आया। सामने पतली-सी गली और बिल्डिंग के पार धूप में नीला-नीला समुद्र चिलक रहा था। किनारे की ओर का पानी अपेक्षाकृत मटमैला था और दूर सलवटोंदार सतह

पर लम्बी-लम्बी रुपहली मछलियों की तरह जगह-जगह लहरों के झाग उछल उठते थे। वातावरण में एक मधुर गरज थी। लम्बे-लम्बे ताड़ और नारियल-खजूर के पेड़ सनसना रहे थे। खारी-खारी हवा पसीना तो नहीं सुखाती थी; लेकिन धूप की चुभन को जरूर शान्त करती थी। खाकी वर्दी पहने एक बेकरी वाला साइकिल-ठेले को धकेले लिये जा रहा था। सिनेमा के नाम के अक्षरों पर खड़ी, बड़ी अदा से झुकी रंग-बिरंगी नायिका लखनवी सलाम कर रही थी। फ्लैटों पर सूखती साड़ियों और कपड़ों को देख कर ध्यान आया कि अक्का नहा चुकी होगी। हाय, जाने कितनी देर हो गई, अब चलूँ। फिर सोचा कुछ बातें ये ऐसी आ गई हैं कि एकदम बीच में से तोड कर चल देना अच्छा नहीं लगेगा। इधर ही चलेंगे, पार्क पार करके या तो मैं रेखा के यहाँ चली जाऊँगी, या सीधी घर। एक गदी-सी पान-बीड़ी की दूकान के सामने दो-तीन टैक्सी ड्राइवर बैठे ताश खेल रहे थे। हर पुरुष-निगाह द्वारा घूम कर किसी न किसी बहाने अपनी ओर देखा जाना अब कुछ ऐसे अभ्यास में आ गया है, जैसे हवा पानी। कभी कोई इस तरह देखता है जैसे मुझे नहीं; मेरे पार किसी को देख रहा हो। कोई इस तरह देखता है जैसे वह तो उधर पहले से ही देख रहा था, मैं तो बीच में अनचाहे आ गई। किसी की निगाह बड़े ड्रामाई ढंग से अचानक उठ कर मुझे देखती है। अब तो कोई न देखे, तभी थोड़ा अप्रत्याशित-सा लगता है। मन होता है कि देखें। टैक्सी-ड्राइवरों में से कोई दूसरे के कन्धे पर लद कर मुझे झांक कर घूरता-सा गा उठा—"चोरी-चोरी मेरी गली, आना है बुरा''' *आके बिना बात किये जाना है बुरा*"। पहले तो सभी के कान खड़े हुए थे कि शायद हम लोग टैक्सी लें; लेकिन हमारे ढंग-ढर्रे को देख कर वे फिर ताश फेंटने लगे थे। हम लोग पार्क की ओर चल रहे थे। बहुत दूर किसी पैट्रोल-कम्पनी के विज्ञापन का लाल-लाल बोर्ड झलक रहा था।

कॉलेज के लड़के-लड़कियों की तरह आपको भी यह सिनेमा यहाँ घसीट लाया क्या?" मैंने हल्का व्यंग्य भर कर पूछा था। एक बार कनखियों-से (काले चश्मे की आड़ बड़े काम की चीज़ है) उन्हें तोला . कहीं इन्हें भी तो हीरो बनने का मुगालता नहीं है। नाक-नक्श ऐसे कतई नहीं थे कि साइड हीरो भी बन सकें। हलका ठिगना कद, साँवला रंग और छरहरा बदन। एक सचेत असावधानी से सँवार कर बिखराये गये बाल, माथे पर घाव का निशान।

"जी नहीं, वैसा कोई शौक मुझे कभी नहीं रहा।" दृढ़ता से वे बोले—"ऐसों को देखना हो तो कभी हमारी तरफ आयें, आपको अपने कमरा-

सिंह साहब से मिला दें। वे हैं एक करैक्टर कि जिस पर कोई भी कहानी लिख सकता है। आप बी० कॉम० का इम्तहान देने गये, जब एकाउण्टैन्सी का पेपर नहीं आया, तो सीधे नरगिस के साथ हीरो बनने यहाँ भाग आये। थोड़े दिन 'ब्लू-होटल' में काटे। इसी होटल में उन जैसे बीसियों जवान आये और हीरो बन गये थे। यह होटल की परम्परा थी, सो वहीं टिके। शूटिंग देखी, और दरबानों को सिगरेट पिला-पिलाकर कारों में फर्राटे से गुजरते या कैन्टीन के बाहर चाय का प्याला हाथ में लेकर डायरेक्टर के सामने खीसें निपोरते अपने उन आराध्य देवताओं को दूर से देख-देखकर आध्यात्मिक सन्तोष पाया। इन्हीं को फ़िल्मी पर्दों पर देख-देखकर तो वे खाने, चलने, बोलने के ढंग सीखा करते थे। और जब सब जोश ठण्डा हो गया तो अब 'पाटिल ज्वैलर्स एण्ड वॉच मेकर्स' के यहाँ सेल्समैन हैं। अब यह कह-कहकर अपना बड़प्पन जताते हैं कि 'महल' में जो अँगूठी मधुबाला के हाथ में है, वह खुद मैंने बेची थी। इतना बोलकर शायद उदय को खुद लगा कि विषयान्तर बहुत हो गया, तो उन्हें अपना मूल प्रसंग याद आ गया। आधे मिनट रुककर अपने बोलने का कारण देते-से बोले : "सुजाता जी, अपने बारे में एक बात और बता दूँ। लोकाचारवश, नक़ल में या मजाक़ में चाहे कुछ भी कहता रहूँ, लेकिन सचमुच अपने बारे में आज तक मुझे क़तई मुग़ालता नहीं है। महत्त्वाकांक्षी जरूर हूँ। सो जहाँ तक समझता हूँ, कोई अपराध नहीं है। उस तरफ़ जाने वाली फ़िल्मों की कहानियों से मैं इतना ऊब गया था कि जोश में आकर इधर भाग खड़ा हुआ। सोचा, चलो इन फ़िल्म वालों को अच्छी-अच्छी कहानियाँ देंगे। आगे जाकर एक ऐसी फ़िल्म कम्पनी बनाने की इच्छा थी जहाँ अँग्रेज़ी और बंगला की तरह बहुत प्रसिद्ध उपन्यास-कहानियों को ईमानदारी से फ़िल्माया जाय। लेकिन यहाँ देखा कि न तो ये लोग पढ़ते हैं, न पढ़ाना जानते हैं। बाक़ी दुनिया में क्या होता है जैसे इन्हें इससे कोई मतलब नहीं है। वही चार डांस, सात गाने, आँसू और चीखें, पिस्तौलें और होटलों के जालसाज़ मालिक, तूफ़ान और मन्दिर—लीजिए कहानी खत्म हो गई। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि लौटना यहाँ से नहीं है। लौटूँगा तो सफल होकर ही लौटूँगा। 'लौट के बुद्धू घर को आये' वाला हिसाब नहीं होगा।" वे नीचे अपनी चप्पलों को देखते हुए चलते रहे। हमें देखते हुए लोग गुज़र रहे थे।

"क्या मतलब ?" मैं सहसा चौंक उठी।

"मतलब सीधा है।" वे उसी बुझी वाणी में कहते रहे : "पैसा कमाना है। घर वाले बोझ, बिगड़ा हुआ, निखट्टू समझें; बाहर वाले निकम्मा और बेकार

कहें. अगर खुद अच्छी जगह हुए तो हमदर्दी दिखायें, सिगरेट देकर कृतार्थ करें, हर हरकत से यह जतायें कि बेचारे को कब-कब मिलती होगी। दूसरी तरफ साहित्य में युग-प्रवर्तक का डंका बजे—यह विडम्बना अब सही नही जाती।"

"सिनेरियो और डॉयलाग मे भी सुनते हैं कि काफी मिल जाता है?" मैंने सान्त्वना देने के भाव मे कहा। हमारे दाहिनी ओर जगह-जगह पड़ती छोटी-छोटी गलियों की पीली रेत, ढँकी ढालू सड़कों के पार रेत का हाशिया और समुद्र दिखाई देते थे। बायी ओर पार्क का कोना था। यहाँ पर बने इस क्रॉस का मतलब मेरी समझ मे कभी नही आया। उस पर रोमन अक्षरों में आई० एन० आर० एम० और ऊपर से चढ़ाई हुई माला। सामने का वही खपरैल वाला बँगलेनुमा मकान पहले पड़ा, फिर हरियाली की बाढ़ और बच्चो के खेलने के झूले इत्यादि। अपना फ्लैट अभी दिखाई नही देता था। मैंने अनुमान लगाया, सामने के गैस के खम्भे से मेरी खिड़की और भीतर की ओर की बाल्कनी जरूर दीखती होगी। वहाँ से मैं भी तो सड़क का यह हिस्सा देख लेती हूँ। कही कोई देख न ले। लेकिन इतनी दूर से पहचान थोड़े ही पायेगा? फिर भी अक्का का क्या है, साड़ी के रंग या चाल से ही पहचान लें। यों ही खेलने के लिए सड़क पर पड़ा एक खाली सिगरेट का डब्बा उठाने के बहाने मैं जरा रुकी और उदय के दाहिनी ओर आड़ करके इस तरह चलने लगी कि हमारे यहाँ से कोई देखे तो वे ही दीखें। इस बार देखा, वे मुझसे दो-चार अंगुल छोटे ही है।

"मिलता होगा।" वे लापरवाही से मेरी बात के जवाब मे बोले. "डायरेक्टर, प्रोड्यूसर, स्टोरी-राइटर, प्रमुख हीरो—अर्थात् एक ही व्यक्ति और पार्टनर-डिस्ट्रीब्यूटर के बीच मे हीरोइन को लेकर कुछ झगड़ा हो गया है, सो फिल्म तीन-चार हजार फीट बनी पड़ी है। मैं पण्डित चोखेलाल के साथ सिनेरियो और डायलॉग मे सहायक हूँ, मासिक वेतन पर। वे आधी तनख्वाह दिये जा रहे हैं। कहानी किसी दूसरे प्रोड्यूसर को भिड़ा देंगे तो बाकी तनख्वाह भी दे देंगे। जायें भाड़ मे। मुझे तो मोह सिर्फ यह है कि कहानी मेरी है। चोखेलाल ने अपने साथ इसी शर्त पर मुझे छः महीने के लिए नौकर रक्खा था कि कहानी मैं दे दूँ, लेकिन जायेगी उनके नाम से। उधर प्रोड्यूसर तेज़ था। वह फिल्म मे कोई ऐसी जगह नही रखना चाहता था, जहाँ उसका नाम न जाय। सो यूँ सौदा तय हुआ। मालूम नही, चोखेलाल ने मेरी कहानी को अपने नाम से देकर और प्रोड्यूसर का नाम जाने देकर कितने लिये।" जैसे यह सचमुच कोई मजाक है, इस तरह वे खुलकर हँस पड़े—"कहिए, है न बढ़िया खेल?"

उनके हँसने के दर्द ने मुझे छुआ। आड़ से जरा-सा झाँक कर देखा। मेरी खिड़की का आधा पर्दा हवा से गुब्बारे की तरह बाहर की तरफ़ फूला था। भीतर की बाल्कनी में अलगनी पर साड़ी और तौलिया झूल रहे थे। अक्का को पापाजी वाले कमरे से निकल कर अपने में जाते मैंने स्पष्ट देखा। मैं उदय की आड़ में न होती तो देख ही लेतीं। हमारे ऊपर की बाल्कनी में कापड़िया के यहाँ छोटे-छोटे गमले लटके हैं, वहीं उनकी लड़की माला फ्रॉक पहने नंगी-नंगी टाँगे दिखाती रेलिंग पर लटकी थी। यह जब देखो, तब यहीं लटकी रहती है। इतनी बड़ी हो गई, अपने को बच्ची ही समझती है। हमेशा फ्रॉक लटकाये रहेगी। कम से कम एक दुपट्टा ही डाल ले सामने। तो, जनाब में ऐंठ चाहे जितनी हो, हैं काफ़ी कष्ट में ! मैंने इस दुःखद प्रसंग को मोड़ देने के किए कहा : "आपकी बहन तो काफ़ी खाती-पीती लगती···"

उन्होंने फिर एक गहरी साँस ली : "बहन से ही माँगना होता तो घर ही क्या बुरे थे ? रूखी-सूखी खाते ही थे। वह बेचारी तो बुला-बुला कर रह जाती है। अब उससे सम्बन्ध सिर्फ़ फ़ोन का ही रखता हूँ—वह भी जब कभी इधर आ जाती है तो।" मुझे लगा; जैसे वे अपने फ़ोन करने की सफ़ाई दे रहे हैं। पास लम्बी-सी चमकती लाल-सफ़ेद गाड़ी तैरती चली गई और वे उसे देर तक गौर से देखते रहे। *एक बात की ओर ध्यान गया : वे हर गाड़ी को बड़ी ही* हसरत भरी निगाहों से देखते थे, और पीछे से आने वाली हर गाड़ी पर चौंक उठते थे जैसे उनकी परिचित गाड़ी गई हो। मुझसे मज़ाक किये बिना नहीं रहा गया : "बहन की गाड़ी पहचान रहे हैं क्या ?"

"नहीं, देख रहा हूँ कि कौन-सा मॉडल लूँ !" वे जान-बूझकर इतनी देर का अवसाद हटाने के लिए खिलखिला पड़े। फिर एकदम सुस्त हो गए और दूर सागर के पास उड़ती चीलों को देखकर बोले—"हमलोग भी सच कैसे खयाली पुलाव पकाने लगते हैं कभी-कभी। जब बम्बई आया था तो पता है, क्या सोचा करता था ?"

"क्या ?" अब इधर हवा चलने लगी थी। पल्ले को कमर में खोंसते हुए मैंने पूछा—(माला को देखकर मुझे अपने कपड़े ठीक करने की याद होआई)।

"ऊँची-ऊँची शानदार बिल्डिगें देखकर मैं सोचा करता था कि यहाँ ज़रूर कुछ ऐसा नाटकीय हो जाएगा कि थोड़े दिनों में एक बिल्डिग मेरे भी पास होगी। हो सकता है, किसी करोड़पति की इकलौती बेटी की गाड़ी से टकरा जाऊँ, वह मुझे हस्पताल में ले जाए, सेवा शुश्रूषा करे और फिर मुग्ध हो जाए, या

हो सकता है उसे किन्हीं गुण्डों के चंगुल से बचाकर उसके बाप से मेरा परिचय हो जाय। कुछ नही, तो किसी दिन मेरे नाम कोई लॉटरी ही खुल जाय। आप कुछ कहिए, ये बातें सोचने मे आता बड़ा मजा है। लेकिन यहां आकर स्टेशन पर जब सामान ढोया तो सारे सपने हवा हो गए।"

"सामान ढोया ?" मैं सचमुच इस तरह चौकी जैसे मेरे पाँव के नीचे अँगारा आ गया हो। मैंने उन्हें फिर गौर से देखा।

"जी हां, और करता क्या ?" वे फिर अपने मे खोई-खोई उसी विपाक्त मुस्कान मे डूबी मुद्रा में बोले। फिर अचानक जैसे सचेत हो गए। "खैर, छोड़िए ये सब बातें। हम लोग भी क्या ले बैठे ? असल मे तब तक आप से परिचय नहीं हुआ था न, वर्ना आप से जाकर भिक्षा माँग लेते—'भिक्षा देहि'...' उस सुजाता ने खीर खिलाई थी, आप एकाध कप चाय तो पिला ही देती'..."

दोनो ओर से खिलखिलाकर हँस पडे। मैंने भी साथ दिया, लेकिन मन सहानुभूति से भर उठा। बुद्ध और सुजाता की कल्पना के रोमांस मे अवचेतन मन गुदगुदा उठा। मैंने अपनत्व भरकर कहा—"नहीं, ऐसा नही है। मैं तो बहुत ही शुरू से आपकी प्रशंसिका रही हूँ।"

"प्रशंसक बहुत लोग हैं। और इस दिशा मे मैं अपने साथियो की अपेक्षा शायद कुछ अधिक ही सौभाग्यशाली रहा हूँ। लेकिन अपने देश मे तो प्रशंसा और पूजा करने वाले देवता को लोग पत्थर का मानकर चलते हैं। उनके खयाल से न तो उसके हृदय मे कोई भाव उठते हैं और न उसे खाने-कपडे की जरूरत महसूस होती है।" सामने दौडती मोटर-साइकिल के नम्बर पर निगाह गडाकर उन्होंने कहा—"कभी-कभी तो सचमुच, मन मे आता है कि एक लम्बा-सा गेरुआ चोगा सिलवाकर साधु हो जाऊँ। धार्मिक लोग मूर्ख होते हैं और उन्हें बहकाने लायक लटके मुझे आते है। थोडे श्लोक और चौपाइयाँ और याद कर लूँगा। जरूरत गैर-जरूरत कोट कर दिया। कम-से-कम कुछ चेले बनेंगे, खाने-पीने और सेवा का आराम हो गया, समझिए। और कही कोई पति-रुष्टा सेठानी आ गई, तब तो कहना ही क्या है। दो-चार साहित्यिको को वैसे ही पाल लूँगा। कहूँगा—लो बच्चा, खाओ, और दण्ड पेलो। क्यों साहित्य-वाहित्य मे जिन्दगी खराब करते हो ? यहाँ किसी को इसकी जरूरत नही है। न तुम्हारा साहित्य बिगडी तकदीर सुधारता है, न पुत्र होने का आश्वासन देता है, ब्लैक-मार्केटियर का परलोक सुधारने का भी कोई नुस्खा तुम्हारे पास नहीं है। फिर आखिर करता क्या है यह ?" अपनी इस कल्पना पर उन्हे बच्चो की तरह खूब हँसी आई।

रही। फिर बोले—"और अभी सिर का शनीचर गया थोड़े ही है। हो सकता है किसी दिन कमण्डलु लेकर द्वार आ खड़ा होऊँ। आ जाऊँ न ?" उन्होंने सीधे मेरे चेहरे को देखा।

"जब मन हो शौकसे आइए।" मैंने कहा। लेकिन भावलोक के इस रोमानी स्तरपर यह बात दिमाग़ में टकराये बिना न रही कि मोके-बेमौके के लिए यह मुझे 'पटा' रहे हैं। कहीं सचमुच ही किसी दिन आ खड़े हुए तो मैं क्या करूँगी? बड़े तेज होते हैं ये लोग भी। लाख भावुकता की बातें करेंगे, लेकिन निगाहें वहीं रखेंगे। पर फिर अपनी क्षुद्रता पर खीझ हुई। हो सकता है इनका उद्देश्य यह न हो और बात शुद्ध तत्काल परिहास के लिए ही कही जा रही हो। मैंने और भी निकटता लाने के लिए पूछा—"अच्छा, एक बात बताइये। बहुत देर से मन में थी कि पूछूंगी, पूछूंगी, लेकिन इतना सीधा प्रश्न पूछने का साहस नहीं हो रहा था। पूछूं ?"

"पूछिए। लेकिन मेरा खयाल है कि मैं उस प्रश्न को जानता हूँ।" वे अन्तर्यामी के अन्दाज से मुस्कराए। मुझे और भी अधिक इम्प्रैस करने को बोले—"और जवाब मैं बता दूं कि वैसी कोई बात नहीं है।"

"क्या ? कैसी कोई बात नहीं है ?" मैंने साश्चर्य पूछा—"मैं क्या पूछना चाहती हूँ ?" एक बार तो सिहर उठी, क्या सचमुच यह मन की बात जान गए हैं ? हो सकता है, इस वक्त कोई खास बात न हो, लेकिन अगर इतनी तेज़ निगाह है तब तो आदमी खतरनाक लगता है।

वे निहायत ही इत्मीनान के स्वर में बोले—"आप यही तो पूछ रही हैं न कि मैं जिन्हें बहन कहता हूँ वे क्या हैं ? या मेरा उनसे वास्तविक सम्बन्ध क्या है ?"

मैं वाक़ई चौंक पड़ी। अरे, यह इनके दिमाग़ में क्या फितूर है ? बहन ! बहन ! बहन ! क्या सचमुच जिसे ये बहन कहते हैं वह कुछ और है ? खैर इस बात की जाँच बाद में करूँगी। मैंने दृढ़ता से कहा—"नहीं जी, यह बात नहीं है। एक उपन्यास लिख लिया तो समझने लगे कि संसार में हरेक के मन की बात ही जान लेंगे। इस गुमान में भी मत रहिए। हम लोग लड़कियाँ हैं, जिनके मन की थाह आपके ऋषि-मुनि भी नहीं पा सके।"

वे इस तरह हत-प्रभ हो गए जैसे अपने मन की कमज़ोरी उन्होंने जान-बूझकर प्रकट कर दी हो। खिसियाकर बोले—"अच्छा, बताइए क्या है ?"

"सच-सच बतायें तो पूछूं। वर्ना बात भी पूछें और सच बात का पता भी न चले।" मैंने जरा भौंहें चलाकर नाटकीय ढंग से कहा।

"अच्छा कहिए ।" उन्होंने आत्म-सम्पर्ण के भाव से कहा, मानो नासमझ बच्चे की ज़िद के आगे झुके हों।

"यह आपके उपन्यास की रश्मि कौन है ?" मैंने कनखियों से निगाहें उसके चेहरे पर जमाए हुए पूछा ताकि चेहरे की कोई प्रतिक्रिया छूटे नहीं। "मैं और रेखा उस दिन इस बात पर दो-तीन घण्टे बहस करते रहे। इतना तो साफ है कि यह कोई काल्पनिक पात्र नहीं है। यह बहुत ही सजीव है।" फिर बच्चों जैसे साग्रह अनुरोध से कहा: "कौन है यह ?"

"इतनी अच्छी कहानीकार होते हुए भी आप सचमुच बच्ची ही हैं। पहले मैं विश्वास नहीं करता था लेकिन अब मानने लगा हूँ कि बड़ी-से-बड़ी नारी में भी एक दस वर्ष की बालिका होती है।" वे जैसे और पाँच छ हाथ ऊँचे उठ गए। इसे उन्होंने अपनी प्रशसा मे लिया है, यह उनके चेहरे का सन्तोष बताता था: "वह पात्र सच मे, काल्पनिक ही है।"

'फूल!' पता नहीं क्यों मन-ही-मन मैंने अंग्रेज़ी में कहा। उसी का पर्याय 'बेवकूफ' या 'मूर्ख' क्यों उस समय मन मे नहीं आया, नहीं कह सकती। मन की कुछ स्थितियों में हमें ऐसा लगता है जैसे विदेशी भाषा मे वह गम्भीर्य या अर्थ की सचाई नहीं है जो अपनी भाषा में है। इसलिए 'लव' पर हम खुलकर बातें कर सकते हैं लेकिन 'मुहब्बत' शब्द होठों तक आकर अटक जाता है। आवेश मे ठीक इसका उल्टा होता है। हम समझते है कि हमारे आवेश को अपनी भाषा उतना व्यक्त नहीं करती इसलिए क्रोध मे अंग्रेज़ी मे भाषण देते हैं, बगाली लोग हिन्दी में गालियाँ देते हैं। मन-ही-मन मैंने कहा. मुझे बच्ची समझता है! जब कि दस साल की बच्ची के सामने बीस साल का पुरुष निरा भोंदू होता है। यह पुरुष नाम का जानवर भी कितना मूर्ख है, मन मे जाने क्या-क्या खिचड़ी पकाया करता है। मैंने ज़ोर से कहा "देखिए, नहीं बताना हो तो मत बताइए, पर मुझे यों बुद्धू मत बनाइए। आखिर कहानियाँ मैं भी लिखती हूँ।"

"ओ हो, आप तो एक ही गाठ पर पसारी बन गई।" वे हँस पड़े—"दो कहानियों पर ऐसा गर्व ? यह रास्ता इतना आसान नहीं, छुरे की धार है। खैर भाई, मैं मानता हूँ कि आपकी कहानियों मे सारे पात्र अपने जीवन में आये हुए लोग होंगे।"

इस गर्वोक्ति और परिहास से मैं खुद बुरी तरह कट गई। चेहरा झनझना आया। जैसे-तैसे वाणी को सँभाले रखकर बोली—"आप बताना नहीं चाहते, बना रहे हैं।"

और हम दोनों चुप हो गये। सामने लैटर बॉक्स खड़ा था। ईरानी रेस्त्राँ के कोने पर खड़े कोई साहब टेलीफोन कर रहे थे। चौराहे से दाहिने ओर की पतली सड़क महीम श्मशान को गई थी—दो-तीन दूकानों और होटलों के बाद ही तो फाटक दिखाई दे रहा था। अपने आप ही उस ओर मुड़े तो अनजाने ही दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा और हँसती निगाहें आपस में टकराकर बिखर गईं। उसी जगह को लेकर तो उन्होंने मजाक किया था और यहाँ ही आ गये। हाथों में 'कोका कोला' लिए सुनहरे बालों वाली खूबसूरत लड़की बोर्ड में मुसकरा रही थी। रेस्त्राँ के भीतर दो-चार कुर्सियाँ दिखाई दे रही थीं। अब हवा सामने की थी, सो कुछ बाल विद्रोह करते उड़ रहे थे। मैंने उन्हें यों ही उड़ने दिया। वे मेरे मुख-मंडल पर अच्छे लग रहे होंगे—यह मैं जानती थी। एक लापरवाही का भाव देते हैं। मन में आया कि अब लौटना चाहिए। वे पता नहीं क्या सोच रहे थे। मैंने चाल धीमी की।

अपने-आप सोचते-से वे बोले—"तो आप सचमुच रश्मि के बारे में जानने को उत्सुक हैं?" ऊपर के होंठ पर हल्की-सी मुसकराहट का आभास था। जब भी वे गम्भीरतापूर्वक कोई ऐसी बात कहते हैं जिसमें तन्मयता या आत्म-प्रकाशन होता, तो उनका सारा चेहरा तो गम्भीर ही रहता है; लेकिन अपलक निगाहों के नीचे एक हल्की-सी लकीर और ऊपर के होंठ के कोने पर मुसकराहट की फड़कन जैसे याद दिला देती कि वे बाहरी दुनिया की ओर से भी सचेत हैं—व्यंग्य, तल्खी और चुनौती, न जाने क्या वह भाव है जिसे वह प्रगट होने देना चाहते हैं उस समय। वे कह रहे थे: "तो सुनिए, जिस लड़की का नाम, इसमें रश्मि है उसे मैं पिछले दस साल से जानता हूँ। जानता हूँ शब्द इसलिए प्रयुक्त कर रहा हूँ कि प्यार, मुहब्बत के जो शास्त्रीय लक्षण बताए गए हैं, वे सब हम लोगों के बीच कभी भी नहीं रहे। शायद वे वलवले और वैसी आवेशपूर्ण गर्मी—वॉर्म्थ— भी हम लोगों ने एक दूसरे के प्रति कभी महसूस नहीं की। फिर भी, चाहें तो कहा जा सकता है कि उसे बहुत घनिष्टता से जानता हूँ और परेल स्टेशन की ठण्डी बेंचों पर उसके सपने देखते हुए, कई रातें काटी हैं कि एक दिन उसके साथ फ्लैट लेकर यहीं-कहीं रहूँगा। शान से गाड़ी पर घुमाऊँगा। उसके लायक़ अपने आप को बना सकूँ, इसलिए मैं यहाँ आया भी था। क्योंकि 'फुटपाथ पर भी तुम्हारे साथ पड़ जाऊँगी' जैसी प्रतिज्ञा न उसने कभी की; और न इसलिए मैं उसे लाना ही चाहता था। पता नहीं क्यों, हो सकता है यह हमारे ज़माने का ही अभिशाप हो, जिस तरह के प्रेमों की बातें हम पढ़ते हैं, उनमें जैसे एकान्त-समर्पण और जान तक देने का उत्कट

आवेश पाते हैं, वह आज कही भी नही मिलता। सम्भव नही शायद। आज का प्रेम बहुत अधिक व्यापारी हो गया है। उसमे हमेशा एक द्विविधा, एक धर्म-संकट, ऊपर से दिखावटी और भीतर से निहायत ही हिसाबीपना, साथ ही अपनी ही इस मनोवृत्ति पर ग्लानि—सब कुछ मिलाकर शायद यह आज के प्रेम की तस्वीर है। इसे देखकर तो जो कुछ हम पढ़ते-सुनते हैं, उस पर घोर अविश्वास होने लगता है। खैर, ये दिन संघर्ष और संक्रान्ति के है और इन्हे मैं इसी आशा मे अकेला काट सकता हूँ कि आगे उसके साथ जो दिन बीतेंगे वे ऐसे नहीं होंगे। अब उसे क्यों फुटपाथ पर घसीटूं? बेकार रोयेगी कि किसका साथ पकडा…"

"लेकिन आपके प्रति उसकी जिम्मेदारी क्या आपके साथ सिर्फ सुख उठाने की ही है—इसके बाद खत्म हो जाती है?" मैंने गम्भीरता से पूछा। कहूँ, कहे बिना नही रह गया।

"हाँ, यही बहन कहती है कि 'उदय, वह लडकी तुम्हें धोखा दे रही है। वह देख रही है कि जब तुम कुछ बन जाओ तो वह भी आकर अपना प्रेम सार्थक कर ले, वर्ना घाटे का सौदा क्यो करे? प्रेम मे कहीं ऐसे बनियापने के हिसाब-किताब होते होंगे?'—यों सुनने मे बात मुझे भी बहन की ठीक लगती है; लेकिन मैं कहता हूँ कि प्रेम की जो सिनेमा-उपन्यासो वाली घिसी-पिटी अन्धे जोश की तस्वीर है, उन्ही लाइनो पर हम भी अपनी जिन्दगी क्यो घटायें? जब आज हर चीज़ मे एक व्यावसायिकता है, तो उसके यह सोचने मे ही क्या गलती है कि अगर मैं अच्छा संरक्षण दे सकूँ तभी वह आये। वर्ना भावुकता मे आकर क्यों मेरे साथ अपना जीवन बर्बाद करे?" कुछ देर उन्होंने मेरे उत्तर की राह देखी, फिर जैसे व्यथा से हँसे—"लेकिन फिर दिमाग मे आता है कि वह सब अपने आपको धोखा देना है। ग्लानि भी होती है कि वह मुझे धोखा दे, मैं अपने आपको दूँ और मेरा 'आप' किसी और को दे—आखिर यह क्रम कब तक चला जायेगा? क्यो नही मैं इसे जड से तोड़ डालता? लेकिन अब आप इसे दस साल का मोह कहिए या कुछ और कि मैं अपनी ओर से इन सबको समाप्त नही कर सकता। तीन-चार साल से तो हमारा केवल पत्र-व्यवहार का ही सम्बन्ध रह गया है। उन पत्रो मे तरह-तरह के सम्बोधन है, स्नेह है, प्यार है, इसलिए नही कि वह सचमुच महसूस करती है, बल्कि वह सब अब एक अभ्यास मे आ गया है, जिसका कोई अर्थ नही है। मैं जानता हूँ, हालत अब शायद यह है कि अगर आज उससे सम्बन्ध टूट भी जाय तो किसी को कोई दुःख और अफसोस नही होगा। लेकिन मेरी ही कमजोरी है कि झटके

से तोड़ नहीं पाता, घसीटे लिए जा रहा हूँ। हर क्षण राह देखता हूँ कि अब टूटा। अब टूटा। सोचता हूँ अच्छा हो इसे वही तोड़ दे और यह 'पाप' मेरे मत्थे न पड़े।"

मैंने एक वात और देखी है कि जव वे कहीं गहरे से कोई वात कहते हैं तो उनके हाथ इस तरह चलते हैं जैसे कुछ कहना चाहते हों और नहीं कह पा रहे हों—कोई अदृश्य चीज है जिसे आकार दे रहे हों। अव हम लोग अपने आप रुककर खड़े हो गए थे। फट्-फट् करती पेट्रोल जैसे लम्वे-से लेटे पीपेवाली किसी अक्सीजन कम्पनी की गाड़ी गोखले रोड की ओर से गुज़री तो जैसे जाग कर वे होश में आ गए "वस, अव तो खुश ?" उन्होंने वड़े दयापूर्वक मुझे देखा मानो कह रहे हों कि देखो यह सव मत पूछो, मैं पहले ही कहता था। यह प्रसंग सुखद नहीं है।

मैं वड़ी आविष्ट और आच्छन्न-सी उन्हें देखती रही। सुनती रही। उनसे सहानुभूति थी। वात में कहीं कुछ ऐसा दर्द था कि मेरा दिल भी उमड़ा-उमड़ा आ रहा था; लेकिन अपनी भावुकता और श्रद्धा के कुहरे के पार भी यह वात उभर कर सामने आ रही थी कि 'अरे, ऊपर से चाहे जैसा आल-जाल इसने चारों तरफ़ लपेट रखा हो, यह तो विलकुल साधारण आदमी है ? इसकी आखिर ख़ासियत क्या है ?—वही मुहव्वत, वही सम्पन्न वनने के सपने, वही संघर्ष, जैसे वम्वई के लाखों लोगों की हालत है, वही मूलतः इसकी भी है। झूठ नहीं वोलूँगी, मुझे लगा कि मैं व्यर्थ ही इसे लेकर उलटी-सीधी वातें सोचा करती थी। यह तो वहुत ही साधारण और निर्वल आदमी है। लेखकों-वेखकों के जो प्रिटेन्शन्स होते है, वे सव इसमें कुछ भी नहीं हैं ! और जाने किस लहर में उस क्षण मेरे मन में आया कि इस निर्वल व्यक्ति को वाँहों में भरकर प्यार से इसका माथा चूम लूँ और कहूँ : 'तुम वहुत भटके हो, वहुत थके हो। आओ, तुम्हारी भटकन और थकन को एक समर्थ दिशा दे दूँ।' उस समय मैं सच भूल गई कि मैं कहानी-लेखिका हूँ, और उदय मेरी विषय-सामग्री। उस समय शुद्ध नारी रह गई।

लेकिन उनके पिछले वाक्य और उस दया भरी दृष्टि ने मुझे कोंचकर जगा दिया और मेरे प्राणों में अभी-अभी जो एक हल्की-सी पिघलन तैर आई थी वह एकदम ग़ायव हो गई। जैसे किसी ने एकदम सारा जादू समेट लिया हो। मैंने उनकी ओर देखा। उनकी निगाहों में मैंने साफ़ देखा जैसे विवश और मजबूर लेकिन अथाह करुणा भरी दृष्टि से मुझे देख कर कह रहे हों कि 'हे, प्रणय-याचिके, सॉरी, आई'म एंगेज्ड।' और यह कहते हुए उन्हें मेरे दिल को दुखाने का

अफसोस भी है। 'फूल' मैंने फिर मन-ही-मन दुहराया। हाँ, हाँ, मैंने साफ देखा कि उदय की आँखों में यही लिखा था। यह कल्पना करके मैं तडप उठी कि यह व्यक्ति आज रात को डायरी में लिखेगा · 'भोली सुजाता, मैं जानता हूँ कि तुम मुझे प्यार करती हो; लेकिन मैं बदले मे तुम्हे प्यार नहीं दे पाऊँगा क्योकि मेरा मन मेरा मस्तिष्क अभी भी रश्मि के हैं···' लेकिन···लेकिन इन महाशय को यह भ्रम कैसे हो गया कि मैं चाहती हूँ···? नही, यह भ्रम किसी भी तरह नहीं पनपने देना···। मेरा तो जो भी था, सो तेज के साथ था, अब वह नही है तो कुछ भी नही···। और मन महसा एकदम उखड़ गया।

मैंने कहा—"अच्छा उदय जी, आज आपका बहुत वक्त लिया मैंने। अब चलूँगी।" घडी देखी तो मुँह खुला-का-खुला रह गया—साढे तीन बज गये थे—हाय, कहीं अक्काने विट्टू को रेखा के यहां न भेज दिया हो।

"अच्छी बात है।" बिना आग्रह या किसी झिझक के उन्होंने भी हाथ जोड़ दिये। उनकी इस तटस्थता से जैसे मेरी ऊपर वाली भावना को धक्का लगा। बुरा लगा कि कम-से-कम चौंकते ही सही। आगे मिलने को पूछते या रुकने का आग्रह करते, जैसे लापरवाही से गले में हाथ डालकर तेज कहा करता था—'अरे होगा भी, चलो, पहले यह करो। फिर घर-वर जाने की जल्दी मचाओ।' कल्पना मे उदय का हाथ अपने गले मे महसूस करके बडा चिपचिपा-चिपचिपा-सा लगा। इस निगाह से मैंने उनके हाथ को देखा। उन्हें महसा ध्यान आ गया था। "अरे, आपकी कहानी को लेकर ही ये सारी बातें थी और कहानी पर ही बाते नहीं कर पाये, दुनिया-भर मे भटकते फिरे।" वे झेंप रहे थे।

"छोडिए भी, अब की बार दूसरी लिखूंगी, तब उस पर बातें करेंगे।"

"भई सुजाता जी, एक काम आपको करना होगा। पूछिए, क्या ?" उन्होने खुद ही आत्मीयता भरे स्वर मे कहा।

"हाँऽऽ" मैं आगे सुनने की उत्सुकता मे बोली।

"हाँ, नही, पूछिए 'क्या' ?" वे हठ से बोले।

"क्या ?" मैंने कठिनाई से दुहराया और इस बच्चो या अनपढो जैसी जिद पर खिलखिला कर हँस पडी।

"वह, यह कि मैं जब भी बहकूँ, तो आप मुझे रोक देंगी। अपने बारे में बोलते हुए मुझे अनुपात का ज्ञान नही रहता। आप मेरी यह आदत छुडा दें तो वाकई मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूंगा। जहाँ नही खुलता, वहाँ वर्षो शिष्टता चलती रहती है और जहाँ खुले वहाँ आपके सामने सारी बातें कह डाली जो बम्बई में किसी के सामने कभी नही कहीं। अच्छा, अगली बार से सिर्फ़ आपकी

कहानी के बारे में ही बातें करेंगे।"

और बिना कुछ बोले या उनकी बात का कुछ जवाब दिये मैं 'अच्छा अब चलूँ।' कहकर पलट पड़ी। अचानक तबीयत बहुत बेचैन हो गई थी।

सिर झुकाये चप्पलों की ओर देखती दो क़दम चली कि फिर मुड़कर पुकारा "अरे, सुनिए ज़रा।"

इस सहसा मुड़ने में एक अर्थ था। मैं देखना चाहती थी कि वे मुझे जाते हुए देखते हैं या नहीं। वे ऐसे झुककर चलने लगे थे जैसे बिलकुल अकेले जा रहे हों—व्यस्त और आत्मलीन। आवाज सुनकर मुड़े और वहीं खड़े हो गये। हारकर मैं ही आगे बढ़ी: सचमुच मैनर्स की कमी है। अब हम ही चलकर उधर जायें, आप नहीं खिसक सकते। हवा अब सामने की थी। उड़ते पल्ले को छाती पर मुड़े पंजे से गर्दन के ऊपर दबाये मैंने कहा: "हमारे यहाँ ड्रामा है। आ सकेंगे आप?"

"नहीं" फटाक् से वे बोले।

मन में हुआ कि 'अच्छी बात है।' कहकर मैं भी चल पड़ूँ। लेकिन फिर जिज्ञासा के मारे पूछा—"क्यों, कोई काम है क्या?" मन की कचोट को अनजाने ही मजाक में निकाला—"बहन के साथ कहीं का एपाइण्टमेण्ट है क्या?"

"जी नहीं, यह बात है ही नहीं।" जबर्दस्ती स्वर को कड़ा करके वे बोले—"अरे, आप लड़कियों का ड्रामा है, कॉलेज का। हम वहाँ किस नाते पहुँचेंगे? न ऑनरेबुल गेस्ट, न मिनिस्टर, न सी० आई० डी०। आपके दोस्त लोग कहेंगे, कैसे-कैसे लोगों से दोस्ती है जॉइण्ट-सेक्रेटरी की।" फिर कोई बात याद करके खुद ही हँस पड़े—"हमारे एक शुभेच्छु ने बड़ी गम्भीरता से एक दिन कहा था कि तुम सूरत से निहायत ही घुटे हुए गुण्डे लगते हो।"

"जी हाँ, इसमें झूठ तो कुछ नहीं है।" मैंने देखा कि बहन वाली बात को किस सफ़ाई से उन्होंने उड़ाया है—मुँह पर आई बात कह दी—"योर लुक्स आर डीसेण्टली डेशिंग।"

उन्होंने अचानक बहुत ही सुस्त और भोले भाव से पूछा: "इस मजाक-का अर्थ भी बता दीजिए। इतनी अंग्रेजी आती नहीं है। 'लुक्स' का अर्थ शकल-सूरत है तो उसे बदलना तो मेरे बस का नहीं है; लेकिन अगर आपका मतलब निगाहों से है तो उन्हें मैं बदल सकता हूँ।" बात कहकर वे सीधे मेरे चेहरे की ओर देखते रहे।

उस समय धूप के चश्मे ने मेरी रक्षा की। गौर से मैंने उनकी आँखों में देखा और महीन व्यंग्य को पकड़ा तो मुहावरे का जवाब मुहावरे से देने का

लोभ रोका नही जा सका। उनके पीछे एक बिल्डिङ्ग की दूसरी मंजिल से झांकते, बुशर्ट के बटन लगाते एक साहब की टकटकी को दरगुज़र करते हुए स्वर में तटस्थ गम्भीरता लाकर कहा—"अरे हमारा क्या है, आप खूब निगाहें बदलिए, तेवर बदलिए, पैंतरे बदलिए। हमें तो हमदर्दी उस बेचारी से है जिसकी ओर से आप निगाहे पलटे ले रहे है।"

और हम दोनो ही ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़े। वे बोले—"आप भी बहुत तेज है। बुलंदशहर में होती तो अब तक तीन बार रो चुकी होती। बम्बई की हवा है।"

"अच्छा तो आप उन हवाओ मे मत रहिए। बताइए कि आ रहे हैं न ?" अपनी बात पर आते हुए मैंने फिर से मुहावरा कसा। सचमुच एक-के-बाद-एक मुहावरे कैसे मेरे दिमाग से उछले चले आ रहे थे कि मुझे ख़ुद आचर्य हो रहा था।

"देखिए, कोशिश करूँगा। शायद पब्लिक तो नही है···?"

"रहेगा तो पब्लिक ही। प्राइम-मिनिस्टर-फ्लड-रिलीफ़-फण्ड के लिए कुछ देना है। दो-तीन कॉलिज मिलकर साथ करेंगे। शायद कोई बड़ा सिनेमा-हॉल ठीक कर लेंगे हम लोग।"

मानो मेरे इतने आग्रह के जवाब मे उन्होंने पूछा—"आप भी ऐक्टिंग कर रही है क्या ?"

"बाकी और लोग भी हैं। यह तो आपके सामने 'ध्रुव-स्वामिनी' खड़ी है।"

उन्होंने मज़ाक में मुझे ऊपर से नीचे तक देखा—तु···तु···आप ?" फिर गहरी सांस ली—"बेचारी ध्रुवस्वामिनी ! हाय, ध्रुवस्वामिनी तेरी यह दशा ?"

"आपको पता नहीं है, फ़ैन्सी ड्रेस-शो की ऐक्टिंगो मे मैंने कई इनाम जीते हैं।" उनकी पहली झिझक और परिहास पर ध्यान न देकर मैंने बताया।

"तब तो ख़तरा है इन बहुरूपियो से।"

"बहुत बड़ा। सँभलकर रहिए। आप लेखकपने मे ही रह जायें और कोई ठग ले जाय।" फिर मैं सहसा मुड़ पड़ी। ज्यादा विदाई की भूमिका मे देर होगी बेकार, और मुझे जल्दी पहुँचना था। एक बात और ध्यान मे आ गई—"अरे हाँ, एक नई कहानी लिखी है। कहाँ भेज दूं ?"

"देखकर बता दूंगा।"

"अच्छी बात है।" मैंने स्वीकृति मे सिर हिला दिया और आज्ञाकारी बच्ची की तरह जल्दी-जल्दी चली आई। उफ, कितनी बातें की हैं हम लोगों ने भी। जाने कहाँ-कहाँ की। दुनिया-भर के विषय घसीट डाले। तो क्या जब-जब हम

मिलेंगे, मुलाक़ातें हमेशा ही ऐसी लम्बी होंगी ? तब तो थोड़े ही दिनों में
रियत' हो जायेगी । फिर मैं अपने में ही डूबी अपनी और उनकी सारी बातों
टुकड़े दुहराती रही । अँधेरे में चमकते नियोन-लाइट के विज्ञापनों की तरह
भी कोई टुकड़ा चमक जाता कभी कोई । मुहावरों का जवाब मुहावरों में मैंने
व दिया । कुछ आ ही गया, वर्ना मुझे ऐन मौके पर कोई चुटीली बात ही याद
हीं आती । हमेशा बाद में लगता है कि उस बात की जगह अगर यह कह दिया
होता तो कैसा मज़ा आता । 'निगाहों का पलटना' भी यों काफ़ी ठीक था; लेकिन
अगर उस जगह 'निगाहें चुराना' कहती तो और भी अच्छा होता । उसमें उस
लड़की रश्मि की वकालत भी हो जाती । लेकिन क्या सचमुच उसकी वकालत की
जरूरत है ? वह कम्बख्त इन्हें इस प्रकार लटकाए क्यों हुए है ? यह प्यार है ?
यह तो वाक़ई बनिये-बाज़ी हुई कि जहाँ अच्छा देखा वहीं चले गये । लेकिन यह
भी तो ऐसे बँटे हुए हैं । मुझे तो यह बहन-वहन का मामला भी कुछ ऐसा ही
लगा । कौन है यह इनकी बहन ? कभी शिमला जाती है कभी मद्रास ? और ये
हैं कि अनोखे लाल—या चोखे लाल क्या नाम था राम जाने उसका—उसके
लिए सिनेरियो लिख रहे हैं । आधी तनख्वाह दे देता है । क्या दे देता होगा ?
यही, ज्यादा-से-ज्यादा डेढ़-सौ······कहीं ऐसा तो नहीं है······ऐसा तो नहीं
है······और अगली बात सोचकर मुस्करा पड़ी । गुनगुनाने लगी:······चोखे-
लाल,······अनोखेलाल,······मोखेलाल······झरोखेलाल······।

सामने से दो-तीन मजदूर सिर पर मुड़ासे बाँधे, नंगे बदन गैंती औ
कुदालियाँ लिये चले जा रहे थे । कुछ गा रहे थे । जब एक ने दूसरे को कुह
मारकर कुछ इशारा किया तो मुझे सहसा होश आया कि शायद वे मेरे मुस्क
का ग़लत अर्थ तो नहीं लगा रहे । कटकर रह गई और तमतमाये मुँह से दू
ओर देखती हुई एकदम पार्क के बीच से ही मुड़ पड़ी । यह शार्ट-कट भी
सामने के मकान के पीछे ही तो मकान था फिर अचानक तबीयत बड़ी उदास
सुस्त हो गई । मन होता था कि कोई कुछ न बोले, घर जाते ही लेट जाउ
आज की बातों पर खूब सोचूँ······खूब सोचूँ । अजीब भोंदू क़िस्म का
है, एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा ! नहीं, देखा तो ज़रूर होगा । ऐसा
सकता । इन पुरुषों की यह भी तो आदत होती है न, कि जब भीतर-
बुरी तरह खिचते रहेंगे तो ऊपर से ऐसा दिखायेंगे जैसे इन्हें दुनिया
मतलब ही नहीं है । एक तल्खी और झुंझलाहट महसूस हो रही थी ।
मेरी कहानी पर तो कुछ नहीं बोले, बस अपनी-ही-अपनी धांगे गये···
लोग भी बड़े आत्म-निष्ठ होते हैं······अपनी किताबें, अपने वि

जीवन..........बस, सब कुछ अपना ही अपना..........।

संध्या : १६ जून

आज एक बडी मज़ेदार बात हुई। नहा-धोकर बाथ-रूम से निकली तो देखा कि बिट्ठू साहब ने मेरी सबसे प्यारी तेल की शीशी तोड डाली है। यह शीशी मुझे इतनी प्यारी थी कि तेल खत्म हो जाने पर भी मैं उसे रखे हुए थी। दिमाग मे आग ही तो लग गई। भन्नाई हुई बाहर गई। देखा कि नौकर साहब बाजार गये हैं। मुझसे कन्नी काट रहा है, यह मैं जान गई। अक्का के सामने खूब भुनभुनाई। कह दिया कि आते ही अगर मेरे पास नही भेजा तो गदर कर दूँगी। सोचा ; आज उसे अच्छी तरह झाडना है। अगर तुझे कमरा साफ करने की तमीज नही है तो मत साफ किया कर, हम खुद कर लेंगे। किसी काम मे मन नहीं लगा। जैसे यही एक काम था जो दिमाग पर छाया था कि पहले इसे पूरा कर लूँ तो फिर कुछ करूँ। मैं कुर्सी पर तनी उसकी प्रतीक्षा करती रही, भुनती रही। हर बार कुछ-न-कुछ करता रहता है। रहे या जाय, लेकिन इस बार तो ऐसी खबर लूँगी कि सारे होश दुरुस्त हो जायेंगे। सहसा एक बडी अजीब कल्पना मन में आई : मान लो परदे पर किसी की छाया देखकर मैं समझूँ कि बिट्ठू आया है, फौरन डाँटना शुरू कर दूँ; लेकिन पर्दा हटते ही देखूँ कि बिट्ठू नही, यह तो उदय है। झेंपकर जीभ काट लेती हूँ, सारा चेहरा सुर्ख टमाटर की तरह झलझला आता है। फिर दोनों खिलखिलाकर हँस पडते हैं। उस समय की कल्पना पर मैं मुसकरा पड़ी, तभी देखा कि पर्दा हटाकर बिट्ठू आ गया है। बडी अनिश्चित-सी उसे यों ही देखती रही--कहीं सचमुच भूल ही तो नही कर रही ? गुस्सा जाने कहाँ गया। हँसकर बोली—"क्यो रे, तूने मेरी शीशी तोड दी, अब मुँह छिपाता फिर रहा है ?"

अपनी इस हरकत पर खुद आश्चर्य हो रहा था कि देखा, रेखा आ धमकी है। बिट्ठू बेचारा डाँट खाने के लिए डरता, थरथराता आया था। "आगे से नई होयेंगा बाई।" कहकर भौंचक्का-सा चला गया।

"बड़ा रौब कर रखा है नौकरों पर ? बेचारा वहाँ काँप रहा था। अक्का कहती थी अभी उधर मत जाओ, सज्जीबाई का भेजा खराब हो रहा है।" रेखा बोली और सामने के पल्ले से हवा करने लगी। "बडी गर्मी है।"

"देख लो। अरे, रोबीले आदमी है तो रोब होगा ही। तेरे जैसे मिमियाते लोगों का क्या रोब ?" और मैंने बड़ी अदा से काल्पनिक मूँछों पर

फिर ज़ोर से रैगुलेटर का कान उमेठकर कहा—"जब इसका दिमाग़ खराब होता है तो अक्का तक से अकड़ जाता है; लेकिन क्या मजाल जो मेरे सामने आँख तक उठा जाय।"

"क्य ब्बात है। कुछ ऐसा-वैसा मामला तो नहीं है?" दुष्टता से मेरे चेहरे को ताकती वह मुसकराई—"बम्बई में यह सब भी चलता है।"

"मामला है तेरा सिर। हाँ, नहीं तो।" क्षण के एक अविभाज्य-खण्ड में मैंने विट्ठू की उस रूप में कल्पना की तो मन जाने कैसा-कैसा हो उठा। ज़ोर से पलंग पर जा पड़ी और झटके से लटके पाँवों से स्लीपर उतार दिये। एक उछल कर बीच कमरे में जा पड़ा। "आज तो मन करता है, कहीं न जायें बस लेटे रहें।"

"आजकल बड़ी मस्ती आ रही है। क्या बात है? बता न? हमसे तो सब पूछ लेती है, अपनी कोई बात नहीं बताती। उस दिन उदय के साथ बड़ी गप्पें लड़ाई थीं न?" पलंग पर मुझ से सटकर ही रेखा बैठ गई। जब मेरे ऊपर लदी तो खुली खिड़की के आधे पर्दे के ऊपर से झाँकती बोली—"देख तेरे पड़ौसी साहब खड़े-खड़े बाल्कनी से झाँक रहे हैं। ला, खिड़की बन्द कर दूँ।"

"तू उधर देखती ही क्यों है? अरे, झाँक भी लेने दे बेचारे को, अपना क्या जाता है? उन्हें यों सन्तोष मिलता है तो यों ही सही।" मैं थकी-थकी अधमुँदी आँखों से देखती बोली। "ये कह ना, कि उन्हें झाँकते तो बाहर से ही देख लिया था अब जूड़े का पोज़ देकर लटकाये हुए है ग़रीब को। ऐसी बेशर्मी से लदी पड़ी है और कोई देख रहा है यह भी उसी का दोष है?"

मेरे रोकते-रोकते भी उसने एक किवाड़ भेड़ ही दिया और अपनी दोनों हथेलियों में मेरी कनपटियाँ दबाकर झट मेरे होंठ चूम लिये: "तो ले!"

"बस?" मैंने उसी नशीले ढंग से आधी-आधी आँखों से उसे देखकर बेशर्मी से कहा और अपनी निगाहें किसी तरह एकटक साधे रही, लेकिन बेबस खुद ही लजा गई। गाल गरम हो आये। उसी के पल्ले से गाल और ओंठ पोंछकर कहा—"जाने किस-किस की जूठन लगा दी आकर?" उसने ज़ोर से मुझे भींच कर कुहनी पसली में गड़ा दी तो गुदगुदी से मैं तिलमिला कर रह गई।

लेकिन तभी डाँट न खाने की खुशी में विट्ठू साहब दो प्लेटों में नाश्ता लगाये खुद ही ले आये। हम लोग सीधी बैठ गईं। एक अस्वाभाविक क़िस्म की गम्भीरता वातावरण पर लद गई। थोड़ी देर चुप-चुप खाकर उसने पूछा—"बता न, उस दिन कहाँ गई थी?"

"भई, आ तो तेरी ही तरफ़ रही थी। लेकिन रास्ते में वो मिल गये उदय जी।"

मैंने अत्यन्त ही तुच्छ घटना की तरह कहा।

"बहुत उदय जी से मिलने-जुलने लगी है। ज़रा सँभल कर रहना। इन साहित्यिक, कलाकार लोगों से ज़रा बच कर ही रहना ठीक है। बड़े ख़तरनाक होते है" भौंहे उठाकर ऊपर मेरी ओर देखती वह खाने के लिए प्लेट की ओर झुकी—"सारी बातें ही बातें होती हैं, इन लोगो की।"

उसकी बात ने मुझे भीतर से एकदम सुन्न कर दिया। अपने पिछले दो-तीन अनुभव एक साथ सामने आ गये। सच पूछो तो अन्तर्तम में यही भय कहीं मुझे भी था। फिर जैसे मन में समाई उस सचाई को दबाती-सी बोली—"नहीं, ये बेचारे तो ऐसे नहीं लगते।"

"देखने में तो सब बेचारे ही लगते है चिपक जाते है तो जान छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। मंदा के साथ हुआ न? मौत और मुहब्बत का रोना रोने वाले कविजी उसे नया जीवन देने पहुँच गये। दुनिया भर की ज़लालत और बदनामी उठानी पड़ी और अब सुनते हैं कि अपने दोस्तों मे बैठकर वे उस 'बेवकूफ लड़की' के खत पढ़ते हैं और ठहाके लगाते हैं।" वह कहीं दूर देखती रही और निचला होंठ झटक कर बोली। साँझ की किरणें बाल्कनी पार करके पर्दे की आड़ से सर्चलाइट की धारी की तरह हमारे पीछे की दीवार तक आ रही थीं। उसमें नीले, गुलाबी सैंकड़ो रेशे चमकते दिखाई दे रहे थे।

"नहीं भाई, देखो, उसमें गलती मंदा की भी थी। या तो फिर आदमी अपने सम्बन्धों के बारे में बहुत ही साफ़ हो कि यहाँ तक रहना है, इससे आगे नहीं बढ़ना, बढने देना। अब मंदा तो 'कविजी' की 'प्रेरणा' भी बनने लगी न। मैं माने लेती हूँ कि जाल उसी ने डाला, लेकिन तुम खुद क्यों 'मेरे कवि' 'मेरी कल्पना के नीड़' टाँक-टाँककर लम्बे-लम्बे खर्रे लिखती हो? और जब लिखती हो तो, भुगतो।" मैंने प्लेट एक ओर सरका दी।—"जब कि उसे यह भी पता था कि कवि जी विवाहित भी हैं।"

"अरे, उसे भी तो सोचना चाहिए था कि उसका ज़रा-सा ढीलापन किसी की ज़िन्दगी भी बिगाड सकता है। बनने को तो 'नये युग के अग्रदूत', ये और वो जाने क्या-क्या बनते हैं। अब बेचारी पता नहीं जाने कहाँ चली गई। पहले तो पंचगनी थी।" उसने भी झुक कर पलग के नीचे खाली प्लेट रखते हुए कहा—"अच्छा छोड, हाँ तो क्या-क्या प्रेम-वार्ता हुई अपने उदय जी से?"

मंदा के प्रसंग ने मुझे भीतर तक सिहरा दिया। मान लो, यह हालत किसी दिन मेरी हो जाये तो? नहीं, नहीं! आत्महत्या करके मर जाऊँगी। लेकिन नहीं, उदय को इतनी लिफ्ट नहीं देनी। उसकी बात न सुनकर मैं मानो अपने,

भीतर के भय और सवाल को जवाब देती बोली—"लेकिन एक बात तो तू मानेगी कि इन लोगों में जो गद्य-लेखक हैं वे कवियों के मुक़ाबिले ज्यादा प्रैक्टिकल होते हैं। उन्हें बहुत सोचना और दुनिया देखनी पड़ती है न।"

"यह माना। लेकिन वे क्या पुरुष नहीं हैं?" हारकर या ऊबकर वह बोली।

"तो ठीक है। उनसे बचा भी कहाँ तक जा सकता है? उस वक्त जब क़िले जैसे बड़े-बड़े महलों में औरतों को कैद कर दिया जाता था, तब भी यह सब होता था। मान लो, कवि और लेखक न भी रहें तो पुरुष ही नहीं रहेंगे? प्रोफ़ेसरों में कम हैं? और तो और, जो सारी नैतिकता और आदर्शों का ठेका लेकर बैठे रहते हैं, उन धार्मिक महन्तों में ऐसे लोग नहीं हैं? ये कहो कि एक वर्ग ज्यादा बदनाम हो गया है, लेकिन होता सभी जगह यही है, किसी भी वेश में हो। मुझे एक भी जगह बता दो जहाँ स्त्री-पुरुष मिलते हों और यह न होता हो? कला और कविता छोड़ दो तो मुझे बता, साइंस के लोगों में, दर्शन के विद्यार्थियों में यह सब नहीं होता?" मैंने मुँह को गंभीर बनाकर कहा—"मुझे लगता है रेखा, कि हम लोगों के सोचने में कहीं बहुत भारी ग़लती है। या तो यह मान लिया जाय कि स्त्री-पुरुष का मिलना और उनमें इस तरह के सम्बन्ध पनपने देना ही ग़लत है, चलो छुट्टी हुई। दुनिया के हिन्दुस्तान-पाकिस्तान जैसे दो विभाजन बना दिये जायें और स्त्रियाँ अपने राज्य में किसी को आने ही न दें। या फिर हमें अपनी अच्छाई-बुराई की परिभाषाएँ बदलनी पड़ेंगी। नर्सों और डाक्टरों के लिए तो शारीरिक आकर्षण कोई रहस्य नहीं रह जाता; लेकिन क्या उन लोगों के बीच में यह सब नहीं होता?"

"अच्छा बाबा, हम हारे।" उसने झट माथे तक हाथ जोड़ दिये। "क्या-क्या बातें हुईं यह बताना हो तो बता, ये उपदेश तो दे मत।"

"बातें क्या? कोई एक बात हुई हो तो बतलाऊँ भी। दुनिया भर की बातें हुईं, जाने कहाँ-कहाँ की।" मैं फिर उनकी बातें मन-ही मन दुहराती रही। ईरानी होटल से चन्दनवाड़ी तक उनके साथ जाते हुए अपने को देखती रही। फिर खुद ही हँसकर बोली—"तेरी बात ठीक न भी हो तो भी यह कैरेक्टर बड़ा अजीब है। मैं तो सोचती हूँ, होगा सो देखा जायेगा, इस पर कुछ लिख डाला जाय।"

"कैसे?" वह पीछे दोनों हाथ टेककर उन पर झुक गई।

"कैसे क्या। अब देख, हमारी दूसरी या तीसरी मुलाक़ात है। मैं आ तो तेरी ही तरफ़ रही थी कि मिल गये रास्ते में। इधर ही आ रहे थे। बहाना बनाया कि इधर से जा रहा था सोचा कि ये कहानियाँ ही देता जाऊँ। झूठ

बात। घर से ही मेरे यहाँ आने की सोचकर निकला होगा। एक तो यह कि मैं इतना महत्त्वपूर्ण हूँ, मैं इतना लोक प्रिय हूँ, मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ। यह सब 'शो' करने की बड़ी आदत है। यह तो ख़ैर, लेखक की कमज़ोरी होती है और इन बातों की तरफ़ मैं ध्यान नहीं देती। उनकी बातों से यह सब माइनस करके सुनती हूँ। गट्ठर भर चिट्ठियाँ लिये रहते हैं कि यह पिछले हफ्ते मेरे उपन्यास पर आई हैं। कोई है जिसे ये अपनी बहन बताते है। पता नहीं कौन है। जब देखो, बस उसी की बातें करते हैं। बहन के हस्बैण्ड शायद किसी बहुत ऊँची जगह है, सो वह कभी रेस देखने मद्रास जाती है कभी शिमला। अच्छा, दूसरी तरफ़ उनके उपन्यास की जो रश्मि है, वह सच्चा करैक्टर है···"

"स···1 च ?" रेखा उठकर सीधी बैठ गई। आश्चर्य और पुलक से उसका मुँह खुला रह गया। "कुछ कहो, वो चरित्र तो सचमुच बड़ा ही सजीव उतरा है। पढ़कर ही लगता है कि वह सच्चा है। है कहाँ वह ? उसे तो देखना चाहिए।"

"उसी किसी तरफ का है। बड़ी देर तक बताते रहे कि कैसे उनके दिमाग का वह एक ऐसा द्वन्द्व है जो पिछले आठ-दस वर्षों से साथ लगा है। यहाँ आकर रहने की समस्या अलग है ही। बम्बई में रहना कोई आसान है ?" मैं सहानु-भूति से बोली: "बेचारा दुःखी है।"

"अरे, कोई जनम-पत्री में लिखा है कि बम्बई ही रहना चाहिए। अपने घर जाएँ। एक तरफ तो ऐसे तटस्थ लेखक और विचारक बनते और दूसरी तरफ ऐसी भावुकता की बातें करते हैं।"

"तो आख़िर वहाँ भी तो कुछ करना ही होगा न ? दूसरे शायद अर्थाभाव से उन्हें अलग-अलग रूप में ऐसा नीचा दिखाया है कि वह दिखा देना चाहते हैं कि मैं हरेक के सामने हाथ फैलाने वाला भिखारी नहीं हूँ। यह मेरा ख़याल है, हो सकता है गलत हो।"

"और लिखना ?"

"लिखना बाद में होगा शान्ति से बैठकर।"

"बस, हो गया।" रेखा ने मुँह बिचका दिया और ऊपर एरियल की तरह, उस दीवार से इस दीवार तक तनी तारों की जालीदार पट्टी को ताकती रही। "उन्हें कह देना, मेरी तरफ़ से कि ऐक्सपोर्ट-इम्पोर्ट की दलाली करें फ़र्म में, और भूल जाएँ कि लेखक हैं।"

"तू कुछ कह।" मैं कहती रही: "पहले यह आदमी मुझे भी बड़ा उद्दण्ड और किसी हद तक बदतमीज लगा था, लेकिन अब कुछ-कुछ दया आने लगी,

है। मुझे लगता है इसके और रश्मि के सम्बन्धों के बीच में कहीं वह अपर्णा भी है। दोनों को लेकर ही यह द्वन्द्व है। मान लो, अगर उनके कहने को ही सच माना जाय तो अपर्णा तो विवाहिता है।" मैं परेशान-सी हो उठी।

"और मैं क्या रो रही हूँ कि इन लेखकों के लिए विवाहित होने का तो जैसे प्रश्न ही नहीं है। किसी के घर आग लगे, इन्हें तो अपने 'दिल फेंकने से' मतलब है।" वह फिर उत्साह में भर गई और सहसा उठकर हैंगर पर टँगी साड़ी की ओर लपकी। साड़ी के नीचे से ब्लाउज़ निकाल लिया : फिर उसे हाथ में लिए-लिए मेरी ओर मुड़कर बोली : "सबसे झमेले की बात तो यह है कि बहन जब ऐसी खाती-पीती है तो क्यों नहीं उससे कुछ ले लेता ?"

"अजब बात करती है।" मैं झुँझला उठी—"यों लेना हो तो और लोग कम होंगे ? फिर असली बहन तो नहीं है, न।"

"अच्छा कुछ सही, बहन न सही दोस्त सही। लेकिन उसे खुद खयाल नहीं है ? आखिर किस बात की 'बहन' या दोस्त है फिर ? यों तो 'उदय जी' 'उदय जी' करती होगी, वैसे यह भी नहीं कि तुम रहते, खाते कहाँ, कैसे हो ?" वह मेरी ओर पंजा फैला कर उतने ही तेज़ स्वर में बोली।

मुझे एकदम गुस्सा आ गया। अजीब चर्खा लड़की है। अभी उदय की बुराई कर रही थी और अब उनका पक्ष लेकर लड़ने लगी। "तुझे मालूम है उन लोगों के आपस में सम्बन्ध कैसे हैं ? हो सकता है, यह सब इनका अपना ही फ़ितूर हो और उधर से ऐसा कुछ न हो।"

"अच्छा हाँ, हमें नहीं मालूम बस। हम तो यों ही ऊल-जलूल बकते हैं। तू भैया, उनसे खूब मिल-जुल, वहीं जाकर रहने लग। कहे तो अक्का से कह दूँ ? पहले उसके पास दो थीं, अब तीसरी तू और हो जाएगी।" वह रुँआसी-सी हो आई, लेकिन अपनी बात पर अड़ी रही—"तुझ से कोई बात कहो, हमेशा-हमेशा ग़लत मतलब लगायेगी। इसी तरह उस दिन ड्रामे की बात पर मिस भागवत के सामने ऐसी बातें करने लगी।"

"अजब लड़की है री, तू" आश्चर्य से मेरा मुँह खुला रह गया—"यह तुझे क्या हो गया ? खुरदरी खाट पर सोकर चली आ रही है क्या ?" मैं चाहती तो बात आगे बढ़ सकती थी, लेकिन उसके बार-बार विरोध करने पर भी मैं झट उससे लिपट गई। उसे बहलाने और इधर-उधर की बातें करने में काफ़ी समय लग गया। उसने कई बार कहा—"चल, ज़रा समुद्र की तरफ़ चलें न। यहाँ क्या घुसी बैठी है ?" लेकिन मैंने बार-बार रोक दिया। मन नहीं कर रहा था। बातों में पता चला कि उसके भावी पतिदेव के पिता ने कुछ ऐसी उलझनें

पैदा कर दी हैं कि शायद शादी न हो पाए। रास्ता सिर्फ यही बचा है कि ये आपस में चुपचाप सिविल मैरेज कर डालें। फिर घर वालों को बता दें। सो उसी सब का ढंग पूछने वह आई थी, कि क्या मैं एक गवाह बन जाऊँगी ? और मैं ले बैठी उदय-पुराण। बार-बार अपनी बातें सुनाते हुए उसे कहना पड़ा था कि 'तू सुन रही है ध्यान से।' तब मैं चौंककर कह उठती—'हाँ, हाँ, मैं सुन रही हूँ, तू कहती जा।' मैं पलंग के सिरहाने अधलेटी उठी, अपनी एक टांग को दूसरी पर रखकर धीरे-धीरे हिलाती, पाँव के अँगूठे पर निगाहें जमाए अपनी बातें सोचती रही या उसकी सुनती रही, कह नहीं सकती! ऐसी समस्या, हो सकता है मेरे सामने आ जाय, तो ? मैं क्या करूँ ? फिर पता नहीं, वह क्या बता रही थी कि मुझ से अपनी बात कहे बिना नहीं रहा गया। मैंने बात काटकर एकदम से कहा : "एक बात मेरे दिमाग मे बार-बार अक्सर आती है।"

"क्या ?" वह आशा-भरी आँखो से मुझे देखती बोली।

"तूने वो कहानी पढ़ी है जिसमें एक नौकरानी निहायत कुरूप और भद्दी है। शायद ही दुनिया मे उसे कोई प्यार करता हो। लेकिन वह हमेशा ही ऐसा जताती रहती है मानो, आज उसके पति ने उसे मारा है, आज उसका पति उस पर खुश है। वह हमेशा पति को ही लेकर डूबी-डूबी रहती है, और उसी पर खुश है। बाद मे पता चलता है कि उसका न कोई पति है न आदमी। बिलकुल अकेली है। अपनी कुरूपता के कारण जो कुछ वह अपने जीवन में नहीं पा सकी, काल्पनिक रूप में हमेशा अपने को उसमें डुबाए रखकर वह आस-पास ऐसा माहौल बनाए रखती थी। कहीं यह भी तो ऐसा नहीं कर रहे ?"

"कौन ?" रेखा कुछ हत-प्रभ हो गई।

"यही उदय।" मैं जल्दी से बोली—"हो सकता है यह सब कुछ न हो, और अपनी आर्थिक-सामाजिक-परिस्थितियो वश वह जो कुछ न पा सके, उसे ही उपन्यास-कहानियों जैसे काल्पनिक पात्रों में बहलाए रखना चाहते हो—लोग कभी-कभी वह सब दिखाकर दूसरो को प्रभावित करना चाहते है जो वे खुद नहीं होते। हम एक के यहाँ गए, तो मालिक साहब ने छूटते ही पाँच नौकर को आवाज़ दी—'अटरू, मटरू, कालू, भोलू' और जब चार-पाँच दहाड़ें सुनकर भी कोई नहीं आया, तो उन्हें गालियाँ देते खुद ही जाकर हमारे लिए पानी लाए। ये मुझ पर यही सब कह कर तो सिक्का नहीं जमाना चाहते कि इनकी जान-पहचान कितनी लड़कियों से है···"

मैं अपने प्रवाह में बात कहती ही जाती अगर हतप्रभ होकर बुझ जाने के बाद रेखा बैठे-बैठे ही पाँव ऊँचे करके सैण्डिल के फीते न बाँधने लगती। वह

सहसा उठ खड़ी हुई : "अच्छा अब चलें। तेरा तो दिमाग़ आजकल ठीक नहीं है। उसमें तो उदय भरा है।" मैंने देखा कि उसने दाँत पीसे।

मैंने उसके खिंचते हाथ को न छोड़कर कहा : "अच्छा, मान लो मैं इस पर एक कहानी लिख डालूँ तो कैसा रहे? सचमुच बड़ा अद्भुत चरित्र है यह। कहानी ऐसी ज़ोरदार बनेगी कि लोग चकित हो जाएँगे फिर उन्हें ही दे दूँगी कि पढ़कर अपनी राय दें।"

"तू गई हाथ से।" वह अथाह दया का भाव दिखाकर बोली—"तेरी तो हालत ही ख़राब है।"

ताली बजाकर मैं एकदम उछल पड़ी। आँखों के आगे ऐसा अद्भुत प्लॉट नाच रहा था कि मैं ख़ुद चमत्कृत हो उठी। "रेखा, मजा आ गया। ऐसी कहानी लिखूँगी कि तहलक़ा मच जाएगा। ये उपन्यासकार दुनिया भर को अपने उपन्यास में घसीटते हैं, ज़रा इनकी भी तो खबर ली जाय।" यह मेरी पुरानी आदत है। जब भी कोई प्लॉट दिमाग़ में आता है तो ऐसी तेज़ी से उसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण आता चला जाता है कि मैं ख़ुद ही चकित-विमूढ़ रह जाती हूँ। जैसे कोई फुलझड़ी की चर्ख़ी घूम रही हो। उसी में मैं ऐसी डूबी थी कि रेखा नाराज़ होकर जा रही है, यह मुझे भीतर पता था, लेकिन सोच लिया कि बाद में मना लूँगी—"एक तुम कहानी लेखिका, दूसरा उपन्यासकार आपस में एक दूसरे पर निशाने साधो। हम चले बाबा।"

और वह चली गई। लेकिन दरवाज़े से फिर लौट आई, बोली—"सुजाता मान जा, यों भटकने में कुछ नहीं रक्खा। तू शादी-वादी कर ले।"

वह फिर लौट गई। 'हुँह।' मैंने सुनी-अनसुनी करके मुँह बिचकाया। जैसी ख़ुद है, वैसा ही दूसरों को समझती है। मेरे और इसके सम्पर्क में आने में अन्तर है। रह-रहकर मुझे एक उन्मद उल्लास का आवेगमय उच्छ्वास ऊपर से नीचे तक सिहरा जाता। सारी दुनिया का ख़ाका खींचने वाला उपन्यासकार, मेरे उपन्यास या कहानी में अपने सही रूप में आयेगा। और नारी से अधिक गहराई से, अधिक आत्मीय सच्चाई से पुरुष को चित्रित कौन कर सकता है? एक ऐसा कल्पनाजीवी पुरुष, जिसके आस-पास के अभावों ने उसे कल्पना को ही सत्य समझने को मजबूर कर दिया है, और ख़ुद उसे भी ऐसा ही लगने लगा है कि हाँ, ये चरित्र तो सचमुच के हैं। मुझे लगा, जैसे लाइब्रेरी में जब मैंने पहले ही पहल इन्हें देखा था और जाना था कि ये किसी लड़की को टेलीफोन कर रहे हैं, तभी यह प्लॉट अनकांशस रूप से मेरे मस्तिष्क में टकराया था, और जैसे मैं अनजाने ही तभी से उनका उसी दृष्टि से अध्ययन करती रही थी। 'बहुत दिनों

बाद फँसे हो बच्चू। बहुत तुमने हमें अपनी हरकतों से परेशान किया है। जैसा मन हुआ चित्रित कर डाला। अब देखना ज़रा अपनी मूरत। तिलमिला उठोगे।' जब मैंने अपने भीतर की इस आवाज़ को सुना तो अपने बच्चो-जैसे पागल उल्लास पर खुद ही बुद्धिमानी से मुसकरा उठी। मैंने साफ महसूस किया कि यह कहानी इसलिए भी मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी होने जा रही है कि आज तक एक भी कहानी का प्लॉट मैंने ऐसी अद्भुत तीव्रता और चकाचौंध से महसूस नहीं किया। इस कहानी के सामने तो जैसे मैं मजबूर हुई जा रही हूँ। जैसे कोई मुझे कलम लेकर बैठने को धकेल रहा हो और मैं टाल रही हूँ। मन में एकदम प्रकाश-सा भर गया है।

नहीं, आवेश मे आकर मैं अपनी कहानी को बिगाड़ूँगी नहीं। इतना अच्छा प्लॉट यों खराब करने को नहीं है। मैं बड़ी गम्भीरता और सावधानी से उनकी एक-एक हरकत का अध्ययन करूँगी। आज मुझे बैठकर अपनी कार्य-प्रणाली तय कर लेनी है। कैसे मेरा अध्ययन प्रारम्भ होगा? मैंने उनसे मिलने के कई प्रोग्राम बनाये, ऐसे भी जहाँ कुछ समय बातचीत का अवसर मिले···थोड़ी-बहुत छूट भी तो देनी होगी।···बिना चारा डाले कबूतर पास कैसे आयेगा······? अपने पर कैसे गिनने देगा?···पहले तो उसे थोड़ा विश्वास मे लाना होगा न···! मूर्ति बनाने के लिए मिट्टी मे थोड़े हाथ भी तो सानने पड़ते हैं।···लेकिन ···लेकिन है खतरनाक ही···ज़रा-से में कुछ हो-हवा जाय? इस समय अपने औरत होने पर बड़ा क्रोध आया···। एक बड़ी असम्भव-सी कल्पना दिमाग मे आई। ऐसा नहीं हो सकता कि औरत होते हुए भी न रहूँ; किसी डाक्टरी विधि से? अगर ऐसा हो जाय तो वे खटके पुरुषों के ऐसे-ऐसे गूढ चरित्रों का उद्घाटन करूँ कि शायद ही दुनिया मे किसी ने किये हों···। फिर अपनी इस असम्भव कल्पना पर खुद ही हँसी आई। खैर, जो भी हो, अध्ययन तो करना ही है। ड्रामे के बाद ही मिलूँगी,—हो सकता है साथ ही जाऊँ···। उस समय रात भी रहेगी···। लेकिन कहीं पापा ने कह दिया कि चैम्बर से लौटते वक़्त मैं ही लेता आऊँगा, तो? देखेंगे।

और पहले उदय को पुरुष और अपने को नारी मानकर जो सकोच मन में भरा था, वह जैसे एकदम गायब हो गया। मैं अध्येयता हूँ, वह मेरे अध्ययन का विषय। संकोच और झिझक से कैसे काम चलेगा? नहीं, बिलकुल ही तटस्थ और भावनाहीन होकर मुझे अपने विषयों का अध्ययन करना है। अपने को भी उन्हीं मे एक मान लूँगी तो कैसे होगा!—और इस निश्चय के बाद जैसे मेरे दिल-दिमाग़ का एक बोझ अपने आप उतर गया। एक निश्चिन्तता आ गई है।

चलो, यह एक बेकार का दिमाग़ी बोझ और द्वन्द्व भी समाप्त हो गया···।

लेकिन कहीं इस बहाने मैं अपने और उनके मिलने को लेकर मन को ही तो नहीं समझा रही ?···कहीं रेखा की बात ही तो ठीक नहीं है कि यह सब भटकन ही हो···? नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है। हम हत्यारे का अध्ययन करते हैं तो न तो खुद हत्या-पात्र होने के लिए, न खुद हत्या करने के लिए···। तो फिर इस विषय में मुझे अपने अध्ययन के सारे नोट्स ले लेने चाहिए···कहीं दिमाग़ से उतर-उतरा जायँ···लेकिन है यह खूब। सेर को सवा सेर मिला है।

अपनी इस बात पर मैं सन्तोष से मुसकराई। और तब जैसे चौंककर देखा कि मैं अंधेरे में खिड़की के सहारे खड़ी हूँ और बाहर रोशनियों की दीवाली झिलझिला उठी है···

बृहस्पतिवार : २० जून

दिमाग़ पर नाटक छाया है। हर वक़्त 'ध्रुवस्वामिनी' मन के आगे तैरती रहती है। कॉपी लेकर डॉयलॉग रटते-रटते अक्सर ऐसा लगता है कि मेरा यह विशेष वाक्य सुनकर उदय को कैसा लगेगा ? हर वक़्त ऐसा महसूस होता रहता है जैसे मैं स्टेज पर अभिनय कर रही हूँ और उनकी आँखें मुझे देख रही हैं। मेरी कहानी को मोपासाँ की नक़ल बताते थे। हुँह:, अभिनय को जैनीफ़र जोन्स से प्रभावित बतायेंगे। ज़रा इस नाटक से छुट्टी मिल जाय, फिर देखूँगी कितनी गहराई है···। न एक-एक रेशा उधेड़ कर रख दिया।···ऐसा विश्लेषण करूँगी कि दंग रह जायँ···एक-एक लाइन पढ़ेंगे और अपनी तस्वीर देख-देखकर दाँतों तले उँगली दबायेंगे···। लेकिन बेचारा दयनीय प्राणी···।

उस दिन की बात पर हँसी आती है, जब मैंने पर्दे से विट्ठु की जगह उदय के निकलने की कल्पना की थी।

रविवार : २३ जून

रिहर्सल ! रिहर्सल···रिहर्सल।···प्राण निकल गये। आज ड्रामा है और मेरे तो हाथ-पांव फूले जा रहे हैं। कैसे करूँगी···? कहीं नर्वस हो गई तो बड़ी बदनामी होगी। उदय क्या कहेंगे···? कहेंगे, वैसे तो बड़ी बहादुर बनती थी···

वहाँ ऐसे हथियार डाले कि रो पड़ी···। अभी-अभी गलती से अपने की जगह रामगुप्त के डॉयलॉग का पूरा पैरा रट डाला तो दिल और बैठ गया···हाय, संध्या को क्या होगा ? अगर सब संभल जाय तो महालक्ष्मी पर जाकर सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाऊँगी···। किसी धार्मिक भावना से नहीं, यों ही संकल्प के लिए। इन चीजों का चाहे धार्मिक महत्त्व न हो, तब भी ये सब मन को मजबूत करने में बहुत मदद देती है ! मैं क्यों नहीं सोच पाती कि मैं उसी युग में जी रही हूँ, कि मैं सचमुच की 'ध्रुवस्वामिनी' हूँ ? और तो कोई बात नहीं है, उदय के ऊपर पड़ा हुआ सारा इम्प्रेशन बिगड़ जायेगा।···हे भगवान् !···मैं क्या करूँ ?

सोमवार : २४ जून

उन्हें देखते ही मैं भड़क उठी · "ये क्या हरकत है ? आपको कल······" फिर 'हरकत' शब्द पर खुद ही जीभ काट ली। यह शब्द मेरे न चाहने पर भी मुँह से निकल गया था। कहीं बुरा न मान जायें। लेकिन खिला चेहरा देखकर लगा कि या तो मेरी बात सुनकर वह खुश ही हुए या इस ओर ध्यान नहीं दिया। सारे मुँह पर हजामत का साबुन लगा था।

मेरे अटक जाने पर भी वे अगली बात सुनने की आशा में मुसकराते रहे। चेहरे पर लगे साबुन को देखकर मैं खिलखिलाकर हंस पड़ने को हुई। जैसे बिलकुल सफेद दाढ़ी को सरदारों की तरह पट्टी से बाँध लिया हो। वे शायद अपनी इस हालत और मेरी इस उपस्थिति से अचकचा उठे। उन्हें खयाल भी नहीं होगा कि मैं यों अचानक उनके यहाँ जा टपक सकती हूँ। मुँह से निकला "अरे, आप ? मैं······तो खुद ही किसी तरह आपसे मिलकर माफी माँगने की सोच रहा था। आइए, आइए······।"

"अभी तक तो आपका सोचा हुआ कुछ हुआ नहीं है।" हँफनी को रोककर किसी तरह मैंने साधिकार कहा और भीतर कदम रखा। झिझक और सकोच किस बात का ? मैं तो अपने विषय (ऑब्जेक्ट) का अध्ययन करने आई हूँ। मेरे लिए तो वे एक निर्जीव पत्थर हैं, जिससे मुझे मॉडल बनाना है। दूर तक चला जाता, लम्बा-सा टीन पड़ा हुआ गलियारा था। उसी के तीसरे नम्बर पर पुराने काले-काले किवाड़ पर चॉक से बड़े सुन्दर से अक्षरों में बना-बनाकर उनका नाम लिखा था—बस 'उदय'। आगे-पीछे कुछ नहीं, मानो 'नेमप्लेट'

की कमी को अक्षरों की कलापूर्ण वनावट में समय लगाकर पूरा करने की कोशिश की गई हो। नीचे वाली मंज़िलों की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते हाँफकर रुकते हुए जाने कितनी वार मन में आया : जाने किस आसमान में रहते हैं। इतने ऊँचे मकान वालों को लिफ्ट लगानी चाहिए।

वेंत की हल्की-सी कुर्सी पर ज़रा अतिरिक्त वेतक़ल्लुफी से वैठते हुए (ताकि वह मन में वहुत रईस समझकर संकोच न करें) कहा—"आपसे लड़ने आई हूँ। उधर कालवा देवी, या धोवी तलाव की तरफ़ किसी दोस्त रिश्तेदार के यहाँ जाना होता है तो भले ही इतना सब ऊँचा चढ़ना पड़े। मैं तो भैया, इसी डर के मारे उधर जाती तक नहीं हूँ। कौन छः-छः मंज़िल चढ़े। आपने यहाँ भी ऐसा ही मकान खोज निकाला।"

उदय जल्दी से चेहरे का सावुन वचाते हुए वनियान के ऊपर कुर्त्ता डालते वोले : "अरे भाई सभी कोई शिवाजी पार्क में तो नहीं रहते। और जव यहाँ के लोग वहाँ चले जायेंगे तो वहाँ भी यही हालत हो जायेगी। आप ही लोगों को तकलीफ़ होगी। इसलिये हमें यहीं रहने दीजिए। आप लोगों को भी शान्ति है।" फिर हँसकर परिहास किया : "उठकर थोड़ा ऊँचा आने में कष्ट होता ही है।" उन्होंने सामने के किवाड़ वन्द कर दिये।

"हाँ, यही तो मैंने सोचा कि देखें तो सही आखिर कितनी ऊँचाई पर रहते हैं।" मैं अव सुस्थ हो आई थी।

"आपने वह चर्चिल की मूछों और राजनीति वाला मज़ाक तो सुना ही होगा। वहुत-वहुत लोग एक साँस में ही इस ऊँचाई को नापने आये। कुछ दूर सीढ़ियाँ गिनीं, और फिर खुद हाँफ गये। आखिर हमें ही उनकी सेवा करनी पड़ी।" वे अपनी वात में गूढ़-सूत्र देने के अन्दाज से वोले। मुझे लगा यही वात उनके दिमाग़ में कहीं एक्टिंग करने को लेकर भी थी। उस वक़्त तो जवाव दे नहीं पाये थे, अव दे रहे हैं। वे कह रहे थे : "पानी-वानी दिखाऊँ थोड़ा-सा ? चाय तो मिलेगी ही; लेकिन पहले ज़रा थकान उतार लीजिए। मैं ज़रा इस लालटेन को साफ़ कर लूँ ताकि आत्मा की ज्योति साफ चमकने लगे। इतनी देर और वदतमीज़ी की माफ़ी चाहता हूँ।" उन्होंने कनपटियों पर लगे सावुन की ओर इशारा किया।

"नहीं, नहीं, कोई वात नहीं है।" मैंने कहा। उदय ने दो-तीन पत्रिकाएँ मेरे सामने ला रखीं—मैं भी उन्हें सँभल जाने का अवसर देने के लिए मुँह के सामने एक खोलकर पढ़ने लगी।

मुझे ऐसा लगा, मानो अपने इस अतिरिक्त उत्साह और परिहास से वे यहाँ

के वातावरण की ओर से मेरा ध्यान पलट रहे हैं। गले में पसीना आ रहा था, सो मैंने बगल से पीठ की ओर लटका पल्ला निकालकर थोड़ी ऊँची करके कसकर गर्दन पोंछी और फिर कोयला झोंकने की तरह ही उसे फैलाकर हवा करने लगी। पखे के लिए इधर-उधर निगाहें घुमाई तो देखा कि कमरे मे एक और कोई साहब भी बैठे हैं। मैं चौंक उठी।

अँधेरे-से कोने मे लम्बी-चौडी खजूर की चटाई के ऊपर बिस्तर बिछा था, उसका एक तकिया सिराहने की तरफ था और एक पायताने की तरफ़। तकिये की अनेक-कोण रूप-रेखा और बीच मे बने गड्ढे से साफ था कि इसे बड़े प्यार से आलिंगन-बद्ध किया गया है और इस पर कुहनी गड़ाकर बैठा गया है। कुहनी गड़ाने की बात का ध्यान आते ही अपनी निरीक्षण-शक्ति की याद आई। हाँ, सारे कमरे को मुझे मन में भर लेना है, ताकि आगे चित्रण करने मे कोई चीज़ छूट न जाय।

उदय बिस्तर के पास ही जमीन पर रक्खे शीशे इत्यादि हजामत के सामान के सामने आलथी-पालथी मारकर तनकर जा बैठे और फुर्ती जताने के लिए ज़ोर-ज़ोर से ब्रश चलाने लगे थे मानो रन्दा चला रहे हो। पता नही वे पतले-दुबले साहब कौन थे। सैण्डो बनियान और पतलून पहने झुके बैठे थे। जाँघ पर कुहनी टेके हुए उन्होंने मेरी ओर ज़रा तिरछी-सी पीठ करके हाथ पर अपनी ठोड़ी लाद रक्खी थी, वही उंगलियों मे सिगरेट धुँआँ दे रही थी। इससे उनकी कनपटी का थोड़ा-सा हिस्सा, मोटी-सी चश्मे की कमानी लदा एक कान और बिखरे खुरदरे लम्बे बालो वाला सिर दिखाई दे रहा था। गौर से देखा तो चौंक गई। अरे, ये तो समाधि लगाये शतरंज के सामने बैठे हैं। रोशनी से आते ही एकदम दिखायी नहीं दिया। किसी चाल पर विचार हो रहा था शायद। वही सामने के आसन पर उदय हजामत बना रहे थे। उन साहब के पास ही नगी ज़मीन पर एक क़लई की गोल-सी ऐश-ट्रे रक्खी थी। उसमें दियासलाई की सीकें और सिगरेटों के ऊपर तक ठुँसे ठोगे बता रहे थे कि काफी मानसिक योगाभ्यास यहाँ हुआ है। चारों ओर देखा, पीछे की ओर बिना पर्दे की दो खिडकियाँ थी। छत पक्की थी। सामने के सायबान की तरह लहरदार टीन की नहीं। यह सबसे ऊपर की मंज़िल थी। यहाँ सिर्फ इसी तरह के कमरो की क़तार बनी होगी, यह मैंने आते समय दूर तक जाते सायबान, लोगो और सामने झूलती साडियो से देख लिया। चॉल थी। पूरी बिल्डिंग की अपेक्षा ऊपर का हिस्सा नया बना लगता था। सफ़ेदी ताज़ी थी। मैंने यों ही दीवार से उँगली छुलाकर देखी—पोर सफ़ेद हो गई। मैं जिस कुर्सी पर बैठी थी, सामने बिना पल्लो की चौड़ी-सी

आलमारी में किताबें, कागज़ और पत्रिकाएँ भरी थीं। एक में तेल शीशा-कंघा जैसा लगता था पास ही एक छोटी-सी मेज़ और कुर्सी रखी थी और उस पर पहले फ़ाइलें, फिर कागज़-किताबें लदे थे। यहाँ लिखाई होती होगी। आलमारी की एक चीज़ देखकर मैं चौंक उठी। ऊपर के खाने में चाय का पुड़ा और जैम की शीशियों के बीच में रवीन्द्र नाथ और लेनिन की तस्वीरें लगी थीं; लेकिन नीचे जो कुछ था वह एकदम अप्रत्याशित था। छोटी-सी हनुमान जी की एक पत्थर की मूर्ति और उस पर पड़ा घी-सिन्दूर दूर से ही ध्यान खींचता था। मुसकराकर मुझसे कहे बिना नहीं रहा गया : "अरे, ये हनुमान जी आपके हैं ?"

क़लम काटने के लिए रेज़र को कुल्हाड़ी की तरह उठाये, शीशे में निगाहें गड़ाये, उदय ने बिना गर्दन मोड़े तिरछी निगाहों से उधर देखा और मेरी बात का जवाब न देकर अचानक खाली हाथ से शतरंज की बिसात खींचकर पलट दी, तो सारे मुहरे बिखर गये। बोले : "देख बे सिंह, या तो आप अपने हनुमानजी को उधर बाहर रखिए, ताकि आते-जाते निर्विघ्न दर्शन कर सको; वर्ना मैं आखिरी बार कहे देता हूँ कि कल से मैं इससे कोयले और बादाम फोड़ा करूँगा।" फिर मुझसे बोले—"ये साहब, इन्हीं के इष्टदेव हैं। इन्हीं की आराधना करते-करते आप बम्बई में अभिनेता बनने आये थे और अभी तक पीछा नहीं छोड़ रहे। माथे पर सिन्दूर लगाकर जाते हैं कि पटेल-ज्वैलर्स में किसी डायरेक्टर-फ़ाईनैन्सर की बिटिया पर ही शायद वशीकरण चल जाय तो ऐक्टर बन जायँ।"

मेरा ख़याल था कि उनकी इस बदतमीज़ी और इष्टदेव के प्रति यह रिमार्क सुनकर वे साहब बौखला उठेंगे; लेकिन या तो वे हार रहे थे या शायद कोई चाल टेढ़ी आ गई थी और या फिर उन्हें इसका अभ्यास था। 'चलो पीछा छूटा' के भाव से उन्होंने कमर सीधी की और बिना मेरी ओर मुँह फेरे दोनों हाथ आसमान में तानकर अँगड़ाई लेते हुए अजब से स्वर में कहा—"क्या बज गया यार ?"

"बजता क्या ? साढ़े आठ बज गये और तुम अपनी एक चाल ही लिए बैठे रहे।" उदय ने जवाब दिया।

"हैं ऽ ऽ ?" सिंह इस तरह उछलकर पलट पड़ा मानो किसी ने पीठ पर हंटर मारा हो—"साऽच, मजाक नहीं ? पार्टनर, आज तो देर हो जायेगी।"

"ला, तेरा परिचय करा दें।" उन्होंने बिना उनकी बात की चिन्ता किए कहा : "ये हैं सुजाता जी, जिनका मैंने जिक्र किया था। इनकी तीन-चार कहानियों ने इधर हम लोगों का अस्तित्व ख़तरे में डाल दिया है।" फिर ये मेरी ओर देखकर बोले : "और आप हैं मिस्टर एम० सिंह।" दुष्टता से उधर

देखकर बोले—"अगर आज्ञा हो तो पूरा नाम बता दूँ ? श्री मुलायम सिंह। बैंजों बड़े ग़जब का बजाते हैं और आजकल शतरंज की चालों का गहरा अध्ययन कर रहे हैं, क्योंकि हर बार हारते हैं। बदला चुकाने के लिए वॉयलिन सीख रहे है। बस बेर और केले का साथ है।" मुँह बनाकर बताया—"हम अपने चिन्तन में डूबे है कि पास ही सुनाई दिया, कँऽऽऽ' लीजिए साहब, इनका अभ्यास शुरू—'सुनो गजर क्या गाये, समय गुजरता जाए।' कलम रखकर हम इनकी सात पीढ़ियों का तर्पण करते हैं। असल में एक्टर को यह सब आना चाहिए न।" बीच गाल पर छूटी हजामत को उदय ने फिर सँभाला और गाल फुलाकर रेजर चलाने लगे, मानो अपनी दुष्टता छिपा रहे हैं।

उदय की बात पर ध्यान न देकर नम्रता से सिंह ने फ़ौरन ही सिगरेट ट्रे में ठूँसी। और हाथ जोड़े : "आप कब आ गईं, पता ही नही चला। आपकी तो तारीफ अक्सर ही सुननी पडती है। हमारे उदय साहब की जबान पर जो न चढ़ जाय। आजकल बस, सुजाता जी; सुजाता जी ही रहती है। 'क्या कहानियाँ हैं कि गजब हैं। मैं तो कह देता हूँ कि 'बेट्टा, गजब हैं तो उसी से सीखो। तुम से तो वह भी नहीं लिखी जाती। दो पन्ने लिखोगे, उसमें भी उपदेश, विश्लेषण और फ़लसफ़ा भर दोगे। पाठक यह सब पडेगा या कहानी ? बड़े भारी इण्टलैक्चुल की दुम आए हैं। आप सिनेमा जगत् में क्रान्ति करेंगे। —मेरा सिर ?" सिंह ने आधा मुँह टेढा करके उदय की नकल उतारी और फिर शिष्टता से बोले : "माफ कीजिए, मैंने समझा कि पड़ोस का देश पाण्डे अखबार पढने आया है। जाने कौन-कौन तो पाल रक्खे हैं जनाब ने। कोई अखबार पढने आते हैं, एक सिनेमा की कहानी लिखना सीखने आते हैं। बोलो, खुद तो सीख लो पहले। चले है—दूसरे को सिखाने। ये भी कोई उपन्यास है कि लिया और बैठकर घसीट डाला।"

जवाब मे एक बार हाथ जोडे। फिर अखबार पर आँखें गड़ाये मैं मुसकराती रही। इन दोनो में भी यह खूब चोंचें चलती हैं। उदय ने ही तो बताया था कि कालेज के साथी है। मैंने सिंह के चेहरे की ओर देखा। खाकी पतलून, गन्दी-सी सैण्डो बनियान, खुलता रंग, मरियल सूखा शरीर, लम्बे चेहरे के कट अच्छे थे; लेकिन उस पर रूखेपन की वह छाप थी जो बम्बई की अपनी देन है। कल्ले उभरे दिखाई देते थे, होठ पतले और सुन्दर, तलवारकट पतली-पतली मूँछें। असुन्दर नहीं; लेकिन इन्हें भी ऐक्टर बन जाने का मुगालता है इस बात से तरस ज्यादा आता था।

"इस बदतमीज़ी के लिए माफ कीजिए। एकदम सो कर उठा हूँ सो हुलिया

विगड़ी हुई है। अव काम पर जाने की तैयारी है।" वे परिचय के वाद कुछ इस तरह कन्धे लटकाए सामने झूलते हाथ लिए खड़े रहे जैसे इतनी-सी वात कहने के साथ ही भाग खड़े होंगे। "इस कम्वख्त ने सुवह-ही-सुवह शतरंज रख दी, सो वैठना पड़ा।" उन्होंने भारी चश्मे को पीछे खिसकाया।

उदय वोले—"वर्ना नहा-धोकर ही आप कौन-से ख़ूवसूरत लगते हैं? अच्छा, अव सुजाता जी, आप ही फैसला कीजिए। वताइए मैं क्या करूँ? जव तक सिंह साहव ऑफ़िस न चले जाएँ, मजाल क्या जो आदमी खत तक लिख ले। ऐसी घुड़दौड़ मचाते हैं कि खुदा की पनाह। पतलून प्रेस कर रहे हैं और लैक्चर चल रहा है कि किस शूटिंग का कौन सैट ठीक नहीं वना, किस सैट पर क्या गड़वड़ हो गई, किसके साथ किसकी साँठ-गाँठ है। किस ऐक्ट्रेस के पास कौन गाड़ी है। हरेक की जनम-पत्री। वम्वई का कोई भी फ़िल्मी अखवार नहीं है जो आप न खरीदते हों। अपने आप आयेगा देशपाण्डे। कहता है, शान्ताराम उसका कोई दूर का रिश्तेदार है सो आप उसको मस्का मारते हैं।" नहाने की तौलिया से चेहरा-कान पोंछते हुए उदय ने सिंह को कोंचा—नये आदमी के सामने अपने को यों खींचा जाता देखकर वे कुछ वुरा न मान जायें इसलिए ज़रा तारीफ़ के स्वर में वोले—"लेकिन सिंह साहव शतरंज के परम-शौक़ीन हैं। और मज़ा यह कि आज तक कभी जीते नहीं। जव खाई तव पैदली-मात। लेकिन सा'व शौक़ है। मुझे जव इनका मुँह वन्द करना होता है तो सामने शतरंज विछा देता हूँ। एक-एक चालको घण्टों सोचते हैं, उठ कर, वैठ कर, लेट कर, सिगरेट पीकर, चाय चढ़ाकर। कभी-कभी तो यों ही विसात रक्खी छोड़कर वाथरूम चले जाएँगे और वहीं से दहाड़ेंगे—'ढाई घर को ऊँट की वग़ल में रख दो।' या तौलिया लपेटे सारा फ़र्श गीला करते हुए चले आ रहे हैं। मैं तो इन्हें चाल चलने की फ़ुरसत देकर अपनी चिट्ठियाँ लिखने लगता हूँ, अखवार पढ़ लेता हूँ। अव आप जव आई थीं तो मैं हजामत वना रहा था और आप शीर्षासन करके चाल सोच रहे थे।"

"चुप वे। अच्छा सुजाता जी, अव देखिए, क्या करें नामुराद शहर में? कोई तो शग़ल हो न?" वेवसी के खिसियाने अन्दाज़ से हँसकर वे वोले, और उसी गन्दी वनियान से चश्मा पोंछने लगे। मुझे हँसी आ गई, दोनों जैसे मेरे सामने अदालत में खड़े हों, शैतान वच्चों की तरह।

"अच्छा, सिंह साहव, एक काम करो।" सहसा गंभीर होकर उदय वोले—"उस छोकरे को तो आपने लौंड्री भेज दिया है सो वह भी ग्रांडवे और हिन्द माता के सारे पोस्टर देखकर आयेगा। तुम से किस वात से कम है। अव तुम

दो-चार कप चाय बना दो।"

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले सिंह साहब बड़ी नम्रता से बोले—"यार, मुझे देर हो रही है, वर्ना बना देता।" फिर उन्होंने इस तरह सिर झटका कि बालों का झब्बा, तार पर बैठे मथने के लिए पर फड़फड़ाते कबूतर के पंखों की तरह उछलकर वहीं आ पड़ा। "अच्छा खैर बनाए देते हैं, क्योंकि कपड़े वह नहीं लायेगा तो जायेंगे कैसे ? लेकिन याद रखना, यह सुजाता जी की खातिर है, तेरे लिए इसमें कुछ नहीं हैं।" वे खुले दरवाज़े की ओर चले जो सूरत से 'किचिन' लगता था।

उनकी बातों में आनन्द ज़रूर आ रहा था, लेकिन मुझे जाने क्यों लगा कि मैं बेकार आई। अचकचाकर उठ खड़ी हुई—"देखिए, मैं तो चाय पीकर आई हूँ। मैं नहीं पियूँगी। मुझे कुछ जल्दी भी है। वह तो एक तो आपसे लड़ना था और दूसरे अपनी कहानी लेनी थी। अब बताइए कि आप कल आए क्यों नहीं ?"

झेंपी और संकुचित-सी मुद्रा बनाकर उदय ने मुझे देखा और उनके दोनों हाथ मुझे बैठाने के लिए मेरे कन्धों तक आए; लेकिन जैसे छः इन्च की दूरी पर ही सहमकर रुक गए, अत सिम्फनी डायरेक्ट करने के अन्दाज़ मे हाथ हिलाकर बोले—"बैठिए, बैठिए। अब तो सिंह साहब के हाथ की चाय पीकर ही जाना होगा, वर्ना मुझे मारकर फेंक देगा।"

उनके हाथो के रोकने और मनोभावना को लक्ष्य करके मैं मुसकराई—"आप लोग भी खूब हैं। अब बेचारे को क्यों कष्ट दे रहे हैं ? चाय तो मैं पीकर ही आई थी। मना कर दीजिये न, अच्छा नहीं लगता।" मैं हारकर बैठ गई।

उदय ज़ोर से बोले—"सुना सिंह साहब, क्या कह रही हैं ये सुजाता जी ? अरे, जब इनके मिलने वाले आते हैं और हम नीचे चार मंज़िल भागकर सिगरेट और कोकाकोला लाते हैं, तब कुछ नहीं। और ये कोई हमारे ऊपर अहसान थोड़े ही कर रहे है, इन्हे ख़ुद भी तो पीनी है। नार्या तो इनके कपड़े और पाव-रोटी लेकर नौ से पहले आने वाला नहीं है।" फिर धीरे से बोले—'आदमी बड़ा भला है बिचारा।"

मैं हँस पड़ी—"भला तो होगा ही बिचारा, आपको चाय बना-बनाकर जो पिलाता है। और आप हैं कि उसके शतरंज खेलने तक का मज़ाक उड़ाते हैं।"

उदय संतुष्ट भाव से मुसकराये और छाती पर लटकी तौलिया पर ब्रश मार-मारकर सुखाते रहे। इसे उन्होंने मग में ही धो लिया था। पूछा—"आपको आती है शतरंज ?"

मुझे एक बात पर भीतर ही भीतर हल्की चिनचिनाहट-सी महसूस हो रही थी। पहले तो इन्होंने मेरे आने को कुछ 'विशेष' रूप में लिया था, लेकिन इसके बाद जैसे कुछ महत्त्व ही नहीं। सब कुछ ऐसे स्वाभाविक ढंग से होने लगा था, जैसे मैं तो रोज ही आती हूँ। मैंने अर्थ-पूर्ण ढंग से कहा—"जी नहीं, ये चालों वाले खेल मुझे नहीं आते। अपनी कोई दिलचस्पी भी नहीं है।" फिर मुझे याद आ गया कि मैं जो इनका 'अध्ययन' कर रही हूँ, यह क्या 'चाल' नहीं है?

"लड़की और चालों वाले खेल न जाने?" उदय ने खुद ही उत्तर देकर कहा—"नामुमकिन!" आलमारी के पास जाकर मेरी ओर पीठ करके बोले—"सुना है इस खेल को मन्दोदरी ने ईजाद किया था?"

"अच्छा, आपको क्या अपने खेल पर बहुत गर्व है!" मैंने यों ही पूछ डाला। भीतर स्टोव जल गया है, यह मैं आवाज से ही जान गई। हल्की बेचैनी-सी हुई कि व्यर्थ ही मेरे लिए यह कष्ट हो रहा है।

"गर्व तो नहीं है, पर मात खाने की आदत कुछ कम ही है। जल्दी मुहरे नहीं छोड़ता।"

पता नहीं उदय की इस बात में मुझे ऐसा क्या गूढ़ लगा कि मेरे भीतर एक फुरहरी-सी दौड़ गई। जैसे मेरे मन की हर बात को वे पढ़ और भाँप रहे हैं और ऐसे-ऐसे जवाब देकर मुझे सावधान कर रहे हैं—हो सकता है ललकार रहे हों। वे कह रहे थे—"मात खाई जाय तो किसी अच्छे हाथों से खाई जाय। यों हर ऐरे-गैरे से मात खाने में मजा नहीं है।"

उहूँ, मैं बेकार ही डर गई थी। यह तो शब्दों को लपेटकर वही बात कह रहे हैं जो हर लड़का किन्हीं मौक़ों पर लड़की से कहता है। लेखक हैं, इसलिए शब्दों में चतुराई है। मेज़ पर रक्खी पत्रिका के कवर पर बने लड़की के चेहरे की रेखाओं पर नाखून से गहरी लकीर खींचती बोली: "अच्छे हाथों से क्या मतलब?" अनजाने ही अपने हाथों पर निगाह गई। काली चूड़ी होती तो और खिलते, अब तो केवल घड़ी की रेशमी डोरियाँ थीं।

वे नाखून से बनती रेखाओं को देख रहे थे या मेरे हाथ को—नहीं कह सकती, कुछ पल चुप रहकर जैसे हल्की गहरी साँस लेकर बोले: "यह बताना तो ज़रा मुश्किल है।"

"नहीं पड़ी न हिम्मत।" मैं मन-ही-मन हँसी। कहा—"मुश्किल क्या है? रश्मि जी ने अच्छे हाथ दिखाये तो थे कि सारी चौकड़ी भूल गये, पैदली खानी पड़ी?"

"रश्मि बेचारी क्या खाकर देगी?" मैंने स्पष्ट देखा कि वे सुस्त हो गये।

यों ही खोये-खोये-से बोले : "रश्मि उपन्यास की नायिका है, वह नहीं है जिसकी ओर आपका इशारा है। और हार-जीत तो चलती ही रहती है। खैयाम की लाइनें आपने सुनी हैं ?

टिज़ थ चेकर बोर्ड ऑव नाइट्स एण्ड डेज़
ह्वियर डेस्टिनी विद् मेन फ़ॉर पीसेज़ प्लेज़
हिदर एण्ड थिदर मूव्स, एण्ड मेट्स एण्ड स्लेज़
एण्ड वन वाई वन बैक इन द क्लोज़ेट लेज़ !

"ये अंग्रेजी कविताएँ अपने पल्ले नहीं पड़ती !" मैंने टाल दिया।

लेकिन उन्हें उपन्यास से शायद अपने कुछ पत्रों का ध्यान आ गया। मेज़ की ओर जाकर बोले—"देखिए, कुछ और अजब से खत आए हैं।" वहाँ उन्होंने पाँच-छः खतों में से दो-तीन निकाले।

मैंने अनुत्सुक भाव से कहा . "ये तो सब हैं ही। लेकिन, सच पूछिए तो मैं रश्मि जी का ही खत देखने को उत्सुक हूँ। उन्होंने कोई लिखा हो तो बताइए…" मैंने उनके अपनी ओर बढे हाथ से खत लेते हुए कहा। अगर वे एकदम झिझककर हाथ न हटा लेते तो शायद मुझे ध्यान भी न आता कि हमारी अँगुलियाँ आपस में छू गई हैं।

"उन्हें देखकर क्या करेंगी ? यो ही बड़ी बेवकूफी की बाते लिखती रहती है…" वे झेंपकर बोले।

फिर वही लड़कियो जैसी झेंप ! यह वाकई लज्जा है या लज्जा का नाट्य ? न कहीं कोई रश्मि है न अपर्णा। जब से बहकाये जा रहे हैं। मैंने अपनी कहानी के प्लॉट को फिर से दुहराया। अगर कोई होती तो इनसे छिपाया जाता ? बीस बार उसकी चिट्ठियाँ दिखाते। ज़रा-सा पोस्टकार्ड लिखकर कोई भेज देता है तो उसे चार बार मुझे ही दिखाते हैं। अपर्णा…अपर्णा "दो बार जैसे किसी ने मन में दुहराया……और मैंने फिर कमरे में एक बार चारों ओर तोलती निगाह घुमाई।

बात यहीं टूट गई। एक छोटी-सी ट्रे में तीन प्याले चाय, कन्धे पर मैला-सा तौलिया रखे बैरे के अन्दाज़ में सिंह साहब प्रकट हुए। मैं एकदम उठ पड़ी—"अरे रे, देखिए आपको कितनी तकलीफ करनी पड़ी है। आप भी उदय जी, कमाल करते हैं।" मैंने पत्रिकाएँ एक ओर खाली कुर्सी पर डाल दी और 'ट्रे' उनके हाथ से लेकर मेज़ पर रख दी।

"नवाबज़ादे साहब, अब उठाकर तो खुद पी लो या वह भी हम ही करें ?" एक कप उठाकर मुझे देते वह बोले।

"नवाव तो आप हैं, हम क्या खाकर होंगे।" उदय ने सिंह का चेहरा पढ़कर कहा—"इनकी 'नवावजनी' सुनी है सुजाता जी ?—क्या मजाल जो कभी आप क्लास में ठीक समय से पहले आए हों या तो प्रौक्सी से काम चलाया नहीं तो जब रोल-काल हो जाए, तब देखिए कि सिंह साहब इस तरह झूमते चले आ रहे हैं जैसे सुबह मॉनिंग वॉक पर निकले हों। एक दिन देखा, सिंह साहब रजाई लपेटे वाथरूम-स्लीपर पहने झूमते-झामते चले आ रहे हैं—वढ़िया साटन के अस्तर वाली मखमली रजाई। आते ही वड़ी गम्भीरता से अगली सीट पर एक लड़के को सरकाकर वैठ गए, और लगे प्रोफ़ेसर का चेहरा अपलक ताकने। सारा क्लास आपकी इस हरकत पर हँस रहा है, लेकिन सिंह साहव के मुँह पर हँसी का नामो-निशान नहीं। वस, भकुए-जैसे देखे जा रहे हैं। लड़कियों ने मुँहों पर दुपट्टे और रुमाल लगा लिए। आखिर वेचैन होकर प्रोफ़ेसर ने पूछा—'आप इस तरह मेरे चेहरे को क्या देख रहे हैं ?' तो चौंककर आपने अपने आस-पास देखा कि क्या मुझ से ही कहा जा रहा है। फिर निहायत ही मासूमियत से वोले—'कुछ नहीं साहब, वैसे तो सब ठीक है। ज़रा-सी दारू पी आया हूँ, इसीलिए ऐसा लग रहा होगा।' वस, आप अव क्लास की हालत सोच लीजिए।" सिंह साहव झेंपे-झेंपे 'मैं किस लायक़ हूँ !' के अन्दाज में मुसकराते रहे और उदय मज़ा ले-लेकर हँसते रहे। मुझे सिंह से हमदर्दी थी। हँस चुकने के वाद वोले—"सचमुच सिंह साहव, आपको मेरी वजह से क़ाफी कष्ट होता है न ? जवसे आया हूँ चैन नहीं लेने देता।" अपनी वात के अन्तिम हिस्से तक आकर उनके स्वर में अन्तर आ गया। प्याला उठाकर खड़े-खड़े ही कहा।

उनके स्वर में व्यथा थी या क्या कि सिंह गद्‌गद् होकर महान् हो गए। कान के पास मक्खी-सी उड़ाने के अन्दाज में हाथ झटककर मानो अरुचिपूर्वक वोले : "छोड़, छोड़ अब वहुत शब्द-जाल मत फैला।" और तश्तरी में चाय उँडेल-उँडेल कर पीने लगे।

"लेकिन मैं भी कहता हूँ कि अपनी कहानी का हीरो तुम्हें ही वनाऊँगा। अड़ जाऊँगा डायरेक्टर से कि कहानी तभी जाएगी जव सिंह साहव हीरो वनेंगे। तब दोनों जने रोज़ ताज में डिनर लिया करेंगे। फ़िकर मत करो, वह दिन भी जल्दी आने वाला है।" उदय ने एक वार मेरी ओर देखा और एक वार सिंह की ओर।

मानो यही सिंह का भी मधुर-स्वप्न हो। उनकी निगाहें कहीं दूर खोती-सी लगीं। फिर इसे एकदम झुठलाते-से वोले—"जा, जा, वहुत उड़ मत। 'पुरोहित' और 'चेतना' में क्या खिला दिया, हवा में ही उड़ने लगे। ताज में रोज डिनर

लेंगे। हुँह !"

"अरे, तब तुम खुद ही हमें लिफ्ट नहीं दोगे। तब तो बड़े-बड़े एक्टर-ऐक्ट्रेस चारों ओर होंगे।" हम तीनों ही खड़े-खड़े चाय पी रहे थे। उदय खुद दूसरी बेंत की कुर्सी पर बैठ गए। "अब भी तो आप बैठेंगी। तकल्लुफ मे क्या रखा है ?" झुककर कुर्सी पर रखी पत्रिकाएँ उन्होंने नीचे ज़मीन पर रख दी।

लगा यह उनका स्थायी मजाक है। सिंह ने जैसे किसी जवाब की तलाश में इधर-उधर देखा और बोले। "सुजाता जी, आपके यहाँ टेलीफोन है ?"

इस अप्रत्याशित प्रश्न से मैं एकदम चौंक पड़ी—"जी हाँ, है तो। क्यों ?" इन दोनों के आपसी पैंतरे देख-देखकर मज़ा भी आ रहा था और भीतर-ही-भीतर कहीं यह भी लग रहा था कि बुरे फँसे। वक्त बरबाद हो रहा है। जिस लिए आई थी वह तो घपले में ही पड़ गया।

"जी बस, बस अब मैं समझ गया।" 'अब पड़ाव मारा के' भाव से सिंह सिर के ऊपर हाथ उठाकर प्रसन्न हो उठे।

"क्या ?" मुझे यह आदमी विचित्र रूप से दिलचस्प लगा; इसीलिए मैं डायरी मे इसके बारे में लिखे चली जा रही हूँ।

"अपने उदय साहब आजकल बम्बई मे आदमियों से दोस्ती नहीं करते, टेलीफोन से दोस्ती करते हैं, यानी उसी से जिसके यहाँ टेलीफोन हो।" उदय को चिढ़ाकर वे बोले—"पब्लिक टेलीफोन वाले तो पैंतालीस मिनट फोन करने नहीं देते न। पीछेवाला शोर मचाता है और किसी की दूकान पर हुआ तो वह क्यों बेकार दो आने में भीड़ बढ़ाएगा ?"

मैं भौंचक्की-सी होकर मुँह फाड़े देख रही थी कि उदय ने बरजने वाले स्वर मे कहा—"एऽऽऽ मुलायम सिंह, तुम्हे देर हो रही है : जाओ नहाओ-धोओ, हमें कुछ काम है। आखिर दूकान पर तो पहुँचोगे कि नहीं ?"

इस जगह सिंह साहब का पूरा नाम लेने का राज़ मेरे लिए साफ था। मानो वह कहना चाहते थे कि 'तुम्हारा नाम मुलायम सिंह है, भूलो मत। अपने स्तर से बातें करो। तुम ऑफिस मे नहीं, दूकान पर नौकरी करते हो।'

"चला, चला···यार, गुर्रा क्यों रहा है ?" ज़िद्दी बच्चे की तरह सिंह मन-ही मन अपनी बात पर खुश होते हुए डटे रहे। ज़मीन पर रक्खी पत्रिकाओं और पत्रों पर निगाह डालते बोले—"प्रशंसकों के खत दिखा रहे हो न ? लेकिन, यार, सुजाता जी को अपनी 'उनके' भी तो खत दिखाओ न···? क्या नाम है भला-सा···अन्नपूर्णा···या क्या ? जाने कौन-कौन तो है। अब मुझे

मानवीय रागात्मक भावनाएँ हमेशा 'किसी' को लेकर ही होती है और धीरे-धीरे वह 'कोई' हमारे अपने नजदीक होने लगता है, दूरियाँ सिमटने लगती हैं, औपचारिकता और फॉर्मेलिटी के पर्दे उठते चले जाते हैं और हम पाते हैं कि कि यह सम्बन्ध केवल जड़ लेन-देन का ही नहीं है। किसी को हमदर्दी, करुणा देना भिखारियों को पैसा देना नहीं है कि दिया और आगे बढ़ते ही भूल गए, वह अपने 'श्रेष्ठतम' का कुछ भाग देना है। वह 'अपनापन' देना है—और 'अपनापन' देकर कैसे कोई किसी को बहुत दूर रख सकता है ; 'अपनेपन' और 'परायेपन' की दूरियाँ क्या साथ-साथ निभाई जा सकती हैं ? लेकिन जब बदले मे दूसरा अपनी कृतज्ञता देता है—जो उसका श्रेष्ठतम है—तो हम चौंकते क्यो है ? और जब नही देता तो यह क्यो समझते हैं कि वह अहसान-फरामोश है, वह कृतघ्न है, और हमारे इतने 'अपनेपन' को एक तकल्लुफी 'धन्यवाद' मे समाप्त कर देना चाहता है ? तो यह आशका और आशा करना क्या एक ही मनोभाव के दो नाम हैं ?

"लगता है आप तो किसी बहुत भारी सोच मे पड गई हैं।" दूर कही धुन्ध के पार से उदय की आवाज सुनाई दी। सचेत होकर देखा, सचमुच पत्रिकाओ के ऊपर रखे खतो को पढने के लिए दोनों कुहनियाँ बेंत की मेज पर टिकाकर, दोनों हथेलियो पर ठोड़ी टिकाए कनपटियाँ थामे उन्हें देखती मैं न जाने कहाँ खो गई थी। इसी तरह के हँसी-मजाक के बीच नहाकर कपडे पहन सज-सँवर कर सिह ऑफिस चला गया था।

जाते-जाते जो कुछ कहा गया था, उसी ने मुझे भिगो दिया · "माफ कीजिए सुजाता जी, कुछ बदतमीजी हो गई हो तो। ऐसी कुछ नहूसियत, घुटन और पस्ती इस आपकी नगरी में छाई रहती है कि अगर हम लोग इतना बात-बेबात हँसें-बोलें नही, तो दूसरे दिन नसें फट जायें। इसलिए शिष्टता की कीमत देकर भी यह सब करना पड़ता है। ग़लत न समझें। आप लोग साफ-सुथरे मुहल्लो मे रहने वाले लोग है, आपके लायक खातिरखातिर कुछ भी नही कर पाये।" फिर अपने कमरे की तरफ इशारा करके कहा। "इस घूरे मे आपको क्या लगा होगा ? लेकिन हम अकेले लोग हैं, जैसे भी पडे हैं, ठीक है।" इसके बाद उदय को खुश करने के लिए बोले—"जब से यह उदय आया है तब से कुछ मन-बन भी लग जाता है, वर्ना वही शाम-सुबह भटको और कुढो। कभी-कभी यह भी हारी-हारी बात करता है तो बडा दु.ख होता है। आप इसे समझाइए, दिन हैं—निकल जायेंगे—दु.ख मे या सुख मे। ऊपर से बड़ा शेर बनता है, भीतर से बड़ा कमज़ोर है। असली मुलायम सिंह तो यही है। बस, लगन

पक्का है और इसकी इसी वात को मैं पूजता हूँ। सारी वम्वई इसके खिलाफ़ है, इसके आने से किसी की अपनी रोज़ी छिनती है तो किसी का आचार्यत्व और 'महंती' लेकिन सवको जूते की नोक पर रखता है। मैं कहता हूँ कि जव तक सिंह साहव हैं, वेटे मस्त रहो और किसी को मत गिनो। रूखी तू खा, रूखी हम खायें और खोजें इस तिलस्म की ताली! हम ही क्या; हम से भी वुरी हालत में हैं लाखों यहाँ। कितने लाख हैं, जिन्हें यहाँ फ़ुटपाथ तक नसीव नहीं है···।"

०

मेरा जी भर आया···वेचारे ये जद्दोजहद और संघर्ष करते लोग···। पहले जितना क्षोभ और ग्लानि थी, वह सव अव एक उदात्त करुणा में वदलने लगी! जैसे एक वहुत ऊँचा सपाट पहाड़ है, और हज़ारों लोग उस पर चढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। कोई कहीं तक पहुँचा है, कोई कहीं तक···। किसी के हाथ एक सीधी-सी पगडण्डी पड़ गई है और वढ़ा चला जा रहा है, और कोई हाथों के वल किसी चट्टान पर लटका है···वार-वार पाँव ज़माना चाहता है, लेकिन फिसल-फिसल जाते हैं···धीरे-धीरे हाथों की पकड़ भी छूटती जा रही है···लेकिन —जिजीविषा, जीने की प्रवल लालसा—वार-वार प्रयत्न करने को मजवूर करती है···नीचे है अथाह गहराई···। पता नहीं कल्पना के चित्र पर मन यों ही रोने-रोने को होने लगा···

उदय की वात से चौंककर अपने वेवकूफ़ विचारों पर विना हिले-डुले उनकी ओर आँखें उठाईं तो व्यथा से मुसकरा पड़ी···। शायद वे समझ रहे थे कि सिंह की वातों ने मुझे छू और छा लिया है, या वे स्वयं भी आविष्ट हो आये थे, और मुझे इसी भाव-स्थिति में रहने देने के लिए खिड़की के पास खड़े-खड़े वाहर देखते दाँतों में व्रश करते रहे। जव सिंह चला गया तो मुँह-हाथ धोकर मेरे सामने आ वैठे। मेरे मन का एक भाग जैसे उनके साथ-साथ उन्हें देखता घूम रहा था। मुझे खुद लगा कि उनकी वात के जवाव में मुसकराती मेरी आँखों में एक ऐसी मजवूरी का अहसास और स्वीकृति थी मानो मैं कहना चाहती हूँ, 'मैं क्या करूँ, ऐसी वातें मुझे छू जाती हैं।'

उदय ने सीधे वेझिझक मेरी आँखों में देखा और वोले—"वड़ा भला आदमी है वेचारा।" मैं यह जानती थी कि वे अपलक मुझे देख रहे हैं, लेकिन मैं यों ही अवसाद भरी मुसकराहट वाले होठों और खोई-खोई निगाहों को अनवरोध सहज भाव-से उनके सामने किये रही [शव्द वहुत अधिक भारी न हो जायें तो कहूँ कि 'परोसे' रही···] वे उसे पीते रहे। उनकी वात की स्वीकृति में धीरे से सिर हिला दिया, वस।

"म तो इसे अपनी किस्मत ही मानता हूँ कि मुझे हमेशा भले आदमी ही मिले।" वे खिड़की से बाहर मकानों, छतों की टकियों, एरियल के पोलों, और चिमनियों या दूर दीखती लोकल की लाइनों को देखे जा रहे थे। और मैं उनके चेहरे पर निगाहें टिकाये थी। सचमुच, उनके चेहरे की रेखाएँ बड़ी सौम्य थीं, ऐसी कि उन्हें देखकर भीतर हल्की-सी कसक होती थी और दुलार उमड़ता था। उनकी बात मेरे कानों मे जाकर बता रही थी कि यह वाक्य सिर्फ तेरे लिए हैं। वे कहते रहे—"यह सही है कि उनमें से बहुत-से आज अपने आपको मेरा दुश्मन बताते हैं, मैं भी उन्हें अपना हितैषी नही मानता। कुछ कारण रहे, या कहें, बातें रहीं जिन पर हम लोग आज असहमत हो गये हैं; लेकिन इतना मैं बेझिझक कहूँगा कि वे बेचारे जब भी मेरे साथ थे, निहायत निष्कपट, निष्कलुष और अत्यन्त स्नेह-भाव से मेरे साथ थे।···"

अरे, मैं अपनी बात तो इन बहावों मे भूल ही गई थी। कुछ देर इसी स्थिति मे रहकर ऐसी स्वाभाविकता से बोली जैसे यह बात भी उसी भाव-स्थिति का ही एक क्रम हो: "मैं आपसे लड़ने आई थी।"

"अरे हाँ, वह किस हरकत की बात पूछती थी तुम?" और वे एकदम गला फाड़कर हँस पड़े।

और जैसे उस वातावरण के नीले-नीले अदृश्य रेशों का मकड़ी-जाल क्षण से बिखर गया। एक दबी-दबी गहरी साँस लेकर मैं सीधी हो गई···इस दुनिया में लौट आई। *मैंने उन्हें 'आप' से 'तुम' पर उतरते हुए मार्क किया। इसी समय* यह सम्बोधन क्यों आया? तो क्या मेरी मन.स्थिति को उदय ने पढ लिया है? खुद उनके भीतर क्या है, इसे मैंने भी तो अपने भीतर कहीं बहुत गहरे मे शब्दातीत रूप में महसूस किया है।

"अब क्या बतायें? आप कल हमारे ड्रामे मे नहीं आये, अच्छा नहीं किया। इतनी बढ़िया चीज़ 'मिस' कर दी। अब तो पौने दस बज गये। अब क्या हमे जाना नही है?" मैं शिकायत से बोली।

"जाना। जल्दी क्या है ऐसी?" स्नेह से दुलारते-से वे बोले।

और तब मेरी चेतना जैसे ऊपर की सतह पर लौट आई। मेरा ध्यान गया कि अरे, कमरे में हम दोनों ही अकेले हैं। इस बात को मैं भीतर ही भीतर शायद आने के क्षण से ही महसूस कर रही थी, दो नवयुवक कुमारों के अस्त-व्यस्त कमरे में एक अपरिचिता नवयुवती आकर कैसा महसूस करेगी। और चूंकि टीन के उस लम्बे सायवान मे इसी तरह के बहुत-से एक-एक कमरे के 'सूट' (नाम देते हँसी आती है) थे और वह सायबान एक चलते रास्ते का काम

भी देता था, इसलिए सभी लोग सामने से गुज़रते थे—इनका नम्बर तीसरा था। इस ख़याल से शायद उधर के दरवाज़े को अक्सर बन्द रक्खा जाता था। इस समय तो किचिन और बाथरूम के दो खुले और बन्द दरवाजे, पीछे की दीवार के दो जंगले, उनके पार धूप में चौंधती बम्बई की छतें, लोकल की पटरियाँ, छड़ें और ऊपर चकमक करता तार···विहंगम दृश्य और नीचे से उमड़ता शोर···ऐसा तेज़ और एकरस कि कमरे में एक अजब-सी चुप्पी का भान हो। इस जगह एक अपराध-भावना थी जो मन को कचोट रही थी और लगता था कि यहाँ से चले जाना चाहिए—यों 'घर-बार-हीन' दो नौजवानों के कमरे में अकेले बैठना ठीक नहीं है। बाहर वालों ने देखा होगा तो क्या सोचेंगे ? रेखा की एक-एक बात याद आ रही थी। देखने में लाख भले और सीधे हों, लेकिन क्या ठीक है ? ज़रासे में हाथ-बाथ पकड़ लें। कहीं, एकदम भूखे भेड़िये की तरह ऊपर ही झपट पड़ें तो मैं क्या करूँगी ? उस स्थिति के लिए मैंने आस-पास देखा; मेज़ और कुर्सी से बीच में इतनी जगह है कि मैं फुर्ती से उछल कर हट जाऊँ···। फिर कुछ नहीं मिलेगा तो सैण्डिल ही उठा लूँगी···? कैसा तो एकान्त है। आस-पास के लोग भी तो अब तक सब दफ्तर चले गये होंगे···। भीतर से चटखनी लगी है···अभी अक्का या पापा देख लें तो मारकर खा जायें—अकेली बैठी है यहाँ ? यह पता होता तो मैं रेखा को भी साथ घसीट ही लाती कम-से-कम। लेकिन भीतर एक अजब-सी प्रसन्नता भी थी। सचमुच, क्या मुझे पता नहीं था कि ये अकेले ही तो रहते हैं ? तो क्या जान-बूझकर···? नहीं-नहीं···! हुँह, क्या हुआ अकेले बैठने में ? कोई खा तो जायेंगे ही नहीं···। अक्का और पापा यहाँ आ ही कैसे सकते हैं···? लेकिन कोई परिचित ? इस भीतरी बेचैनी से मेरी सारी चेतनाएँ प्रबुद्ध हो उठीं। मानो मेरा रोम-रोम आशंका कर रहा था कि कुछ होगा ज़रूर···कुछ होगा···कुछ हो न जाय···कुछ होना तो चाहिए···काश, हो···हिश्।

फिर भी मैं अपने को भरसक बिलकुल स्वाभाविक बनाए हुए थी···। उनके पाँव का पंजा हिल रहा था···उनकी हर ज़रा-सी बात पर मेरा ध्यान था। गला साफ़ करके मैंने शिकायत के स्वर में कहा : "आपको हमारा निमन्त्रण नहीं मिला ? आप जनाब आये क्यों नहीं ?"

"अब क्या बताऊँ ?" कुर्सी के हत्थे पर कुहनी टिकाए वे अपने दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी को माथे पर, ऐसे सोच में डूबे फिराते रहे जैसे बाम मल रहे हों। जब अँगूठी और अँगुली की दूरी कम होती तो बीच में खाल की मोटी-सी सलवट उभर आती···उनकी भौंहें मुझे फिर अपने भीतर कसकती

लगती थी। नहीं, इस वक्त तेज की बात याद करने का अवसर नहीं है—धूप से बचने की तरह आँखो के ऊपर लगाए गए हाथ के नीचे से देखते हुए गहरी आवाज़ मे उन्होंने पूछा : "आपको बहुत बुरा लगा ?"

"बुरा लगने की बात ही है। एक तो वैसे ही 'पास-वास' का झगड़ा कि मेवा का काम है। इसमे सभी को कुछ देना ही चाहिए। वो तो कहिए कि हम ध्रुव-स्वामिनी थे।" नाटक की बात याद आते ही मैं सब कुछ भूल-भाल गई और एक अजब से उत्साह से भर उठी। ज़मीन पर कुर्सी से टिके वेनिटी-पर्स को अनजाने ही गोद में उठाकर उसकी घुण्डी घुमाकर खोलने लगी। एक साथ जाने कितनी बातें उमड़ आ रही थी।

"अच्छा खैर, कैसा रहा ?"

"कैसा रहा ?" मैंने मुँह बिचका दिया : "कभी अखबार-वख़बार भी पढ़ते हैं या नही ? सारे शहर मे शोर हो रहा है, और नवाब साहब हैं कि अपनी कुठरिया मे बैठे पूछते हैं 'कैसा रहा ?' आपको अपनी कलम पर बड़ा गर्व है, लीजिए देखिए और कुढ़िए···" मैंने एकदम पर्स से एक चौकोर-सा नीला मखमली डिब्बा निकालकर उनकी ओर बढा दिया। मेज़ पर रख देने का ध्यान आया; लेकिन रक्खा नही।

उन्होंने डिब्बा लेकर खोला तो गहरे गुलाबी साटन के बीच मैडल चमक रहा था। मैडल हाथ मे लेकर देखते रहे—फिर बोले—"बड़ा खूबसूरत है। रोल्ड-गोल्ड है न ?"

मैं खिलखिला पड़ी। हाथ बढ़ाकर वापस मांगने के अन्दाज़ मे बोली—"दीजिए दीजिए, बड़े आये रोल्ड-गोल्ड का है! यह शुद्ध गिन्नी गोल्ड है, हुजूर। पढ़कर देखिए तो पता चले, अपने को बड़ा तीस-मारखाँ लगाते हैं। अभी असली जीनियस देखे नहीं है। जिस लाइन मे निकल जायें वहीं शोर हो जाये।"

"अरे अरे···बहुत खुश हो···" वे हँसकर बोले और छोटी-सी जंज़ीर के साथ पिन मे लटके कुछ-कुछ पान के आकार के मैडल को सीधा करके पढ़ने लगे—'कहानीकार सुजाता की अभिनय-प्रतिभा की प्रतीक ध्रुव-स्वामिनी को। —प्रिंसेस अपर्णा, वीचि-विलास, बम्बई।' फिर अथाह आश्चर्य से आँखें फैलाकर, स्वर खीचकर बोले : "हूँ ऽ ऽ ऽ, यह क्या ?"

"जी।" मैंने नम्रता का नाटच करके दृढ़ स्वर मे जवाब दिया।

"यह अपर्णा और कौन है भाई ?" आश्चर्य और परेशानी से वे लगे—"हमारी बहन का नाम भी तो अपर्णा ही है न।"

"देख लीजिए, शायद वे ही न हों।" इस बार मेरे स्वर में निश्चिन्त ललकार थी।

"लेकिन ये तो प्रिंसेस हैं!" वे जैसे अपने आप से बोले—"वह बेचारी तो ढाई-तीन हजार रुपए पाने वाले मैनेजर की पत्नी है। फिर वह इस वक्त शिमला में है।" कुर्ते की जेब से एक खूबसूरत नीला-सा लिफ़ाफ़ा निकाल कर दिखाते उन्होंने कहा—"कल शाम को ही खत आया है कि दो-तीन महीने आने का अब कोई इरादा नहीं है। अब तो स्नो-फ़ॉल देखकर ही आएगी।

हाँ, यही तो मैं भी सोचती थी कि वे नहीं होंगी। मुझे भी पहले आपकी बहन का स्ट्राइक हुआ था।" आश्वस्त होकर मैंने अब एकदम बोलना शुरू कर दिया। जब से जाने कैसे जब्त किए बैठी थी। अब तो बिना ब्रेक की गाड़ी की तरह चल पड़ी—"सुनिए, उस दिन बड़ा मजा हुआ। आप रहते तो और भी मजा रहता। सुबह से ही मेरी तबियत खराब थी। जी घबरा रहा था। अब्बा सुबह से ही सन्नाटा खींचे थीं। सो घर में बड़ा घुटा-घुटा-सा था। जैसे-जैसे वक्त बीतता जा रहा था, मेरे प्राण कण्ठ तक आए जा रहे थे। आखिरी वक्त तो जैसे अब दम निकला तब दम निकला की हालत थी। जाने कैसा होगा। अपने बुलन्दशहर-मेरठ में तो स्टेज पर रंग-बिरंगे कपड़े पहन कर उतर आना ही बड़ा भारी कमाल था। लड़की का सामने आना ही वहाँ के लिए एक तूफ़ानी बात थी। अभिनय वग़ैरा से क्या मतलब? बम्बई की बात ही और है। सो वह भी कई कॉलेजों का मिलाकर इस तरह पब्लिक हॉल में। बार-बार सिर घूम जाता था। आँखों के आगे अँधेरा छा जाता। ख़ैर सा'ब जैसे-तैसे स्टेज पर क़दम रक्खा, और बस, तब जाने क्या जादू हुआ कि सारी घबराहट, सारी बेचैनी सब गायब हो गई। फिर तो हर सीन के बाद जो तालियाँ पिटी हैं कि बस, यों समझ लीजिए कि अभी तक कानों के पर्दे भन्ना रहे हैं। ग्रीन रूम में लड़कियों ने मार आफ़त कर डाली, कोई चूम रही है तो कोई गोदी में भर रही है। अपना होश नहीं रहा, कहाँ हैं, किस की बाँहों में हैं, किसके ऊपर हैं। एक हो तो बचा भी जाय, भीड़ की भीड़ थी। बधाइयाँ, तारीफ़ें।"

उदय के चेहरे पर अजीब-सी मुस्कराहट थी जिसे वे स्पष्ट ही दबा रहे थे। उसे देख कर लगा: खुद अपनी तारीफ़ बहुत हुई जा रही है। कोई ध्यान न देकर बोली—"और तभी सुना कि हॉल में एनाउन्स किया जा रहा है—"ध्रुवस्वामिनी के अभिनय पर कुमारी सुजाता को प्रिंसेस अपर्णा की ओर से··· बस तब तो मुझे लगा जैसे बेहोश हो जाऊँगी···। तभी मेरे आस-पास ग्रीन रूम

में जो बधाइयों और कांग्रेचुलेशनों का जो शोर मचा था वह जैसे एक दम रुक गया, और एक फांक-सी बन गई तो देखा सामने प्रिंसेस अपर्णा खड़ी थी : अट्ठाइस-उन्तीस की उम्र, गोल चेहरा, गेहुंआ रंग और भरा हुआ शरीर, सुन्दर फ़िगर। आसमानी शेड की कीमती शिफ़ॉन की साड़ी और ब्लाउज़। हाथ मे चूड़ियाँ और घड़ी। दोनों हाथों के बीच में लटकता, कपड़े से ही मैच करता मखमली पाउच लेकर उन्होने ठोड़ी तक जुड़े हुए हाथ उठाकर नमस्कार किया। बिना इधर-उधर देखे बड़े नपे-तुले शब्दों में बोली—"मैं अपर्णा हूँ, आपको बधाई देने आई हूँ।' चेहरे पर एक बड़ी हल्की-सधी हुई नियन्त्रित और तटस्थ सी मुसकराहट थी। पहली बार तो मुझे बड़ी बनावटी-सी लगी। उस वक़्त मुझे याद ही नही रहा कि मैं खुद ओजस्विनी महारानी 'ध्रुवस्वामिनी' के मेकअप मे हूँ। मैंने नम्रता से हाथ जोड़ दिए। वे उसी उतार-चढ़ाव हीन स्वर में बोली—'आपने सच, बहुत ही सुन्दर ऐक्टिंग की है।' अब इसका क्या जवाब देती ? शरमाकर सिर झुका लिया। वे आगे कह रही थी : 'आप आइए न, किसी दिन। अपना पता दीजिए, मैं गाड़ी भेज दूंगी।' इसके बाद शायद सचमुच, मुसकराकर बोली—'आपको मैडल भी तो देना है।···'

छत की ओर मुंह करके उदय ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़े तो मेरी बात अधूरी रह गई। इसमे हँसने की क्या बात है ? मैं इतने उत्साह से अपनी बात बता रही थी, अब एकदम हत-प्रभ हो गई। उसी झटके मे वे उठे और मेज की किताबों और कागजो मे कुछ खोजते-से बोले—"बड़ी दिलचस्प कहानी है। अभी नई लिखी है क्या ?"

"जी हाँ, कहानी तो है ही। और जो यह मैडल रखा है वह भी मैं खुद ही बनवा लाई हूँ ?" मैं बुरा मान गई ; फिर भी उत्साह कायम रखने की कोशिश करते हुए बोली—"अब सुनेंगे या बीच मे ये ऊल-जलूल बातें पूछेंगे ··? जाइए, हम नही बताते···हाँ ऽऽ, तो नही।"

"अरे क्या सुनें ? मुझे तो बम्बइया सिनेमाओ की याद आ रही है तुम्हारी इस कहानी से। ग्रैगरी पैक और आड्रे-हैवर्न की कौन-सी फिल्म थी···रोमन हॉलीडे" फिर खोजना छोड़कर माथे पर उंगली ठोकते बोले—"ऐसा ही कौन-सा दूसरा सिनेमा देखा था अभी जिसमें किसी बड़ी मशहूर ऐक्ट्रेस और उस मुण्डित 'युल ब्रिनर' ने काम किया है—हाँ, हाँ याद आया 'अनैस्टैसिया' शायद इन्ग्रिड बर्गमैन थी···" एक कुटी-पिसी-सी सिगरेट खोजकर मुंह मे लगाते बोले—"राजकपूर का 'चार-सौ बीस' देखा है ?" फिर खुद ही हँसे—"प्रिंसेस ! अरे, कोई ऐक्ट्रेस-वैक्ट्रेस आ गई होगी। बम्बई मे कमी है ? उसने सोचा

चलो, लड़की को एक सबक़ ही दे दो। वर्ना गुमान हो जाएगा कि बड़ा अच्छा एक्टिंग करती है।"

"जी हाँ, ऐक्ट्रैस तो थी ही!" झुंझलाकर उन्हें चिढ़ाकर मैं बोली—"यहाँ की ऐक्ट्रैसों को हम पहचानते थोड़े ही हैं? वो तो सन्दूक़ में बन्द रहती हैं न?" मैं रूठ गई—"सुनते हैं नहीं, और बीच-बीच में अपनी-अपनी लगाए जाते हैं। आपसे दूसरे की तारीफ़ ही नहीं सही जाती। बस, हर वक्त अपनी-अपनी तारीफ़। इतनी भी आत्म-प्रशंसा क्या?" मैंने उंगलियाँ नचाकर कहा।

वे बिना मेरे गुस्से पर ध्यान दिए रसोई में चले गए थे। एक हाथ में सिगरेट और दूसरे में मैली तेल लगी-सी दियासलाई लिए निकले। कुर्सी पर बैठते हुए पूछा—"सिगरेट पी लूं?" बिना मेरे कुछ कहे ही एक सींक जलाई और शान से सिगरेट लगाकर साँस खींचने लगे। गीली थी शायद, दियासलाई बुझ गई तो मैं चुभते व्यंग से बोली—"और लीजिए, बड़ी शान दिखा रहे हैं कि लाट साहबों की तरह हम भी दियासलाई जलाकर सिगरेट पी सकते हैं। अरे, क्लर्कों की तरह घोंसला बनाकर हैसियत से जलाइए।" मुझे अपने इस व्यर्थ के गुस्से पर खुद ही हँसी आने लगी।

अब तक दूसरी दियासलाई से सिगरेट जलाई जा चुकी थी। ज़ोर का कश खींचकर उदय बड़प्पन और समझदारी से मुसकराये। बोले—"अच्छा जी?" फिर जैसे क्लर्क और हैसियत के जवाब में मुँह के धुंए से ही दियासलाई बुझाकर बोले—"हाँ तो फिर क्या हुआ आपकी प्रिंसेस साहिबा का?"

"जाइए, हम नहीं बताते।" मैंने झटके से मैंडल का डिब्बा बन्द करके पर्स में रख लिया। फिर पर्स की घुण्डी घुमाते हुए मन में आया, यह क्या बचपना मैं कर रही हूँ? लगा; अपनी बात पूरी नहीं करूँगी तो रो पड़ूंगी। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरी इस झुंझलाहट पर वे रीझ भरे स्वर में कह उठेंगे; 'एक बार और!' और अपनी इस सारी हरकत और उनके इस तरह कहने की कल्पना पर खुद ही हँसी आने लगी। लेकिन टूटी कहानी का प्रवाह ऐसा ज़ोर मार रहा था कि मैं सब कुछ भूलकर एकदम फिर बताने लगी। वे कभी मेरी ओर और कभी बाहर खिड़की से देखते हुए सिगरेट पीते रहे—अवचेतन मन में उनकी भौंहें मुझे चुभती रहीं और तेज का ध्यान आता रहा। अपने पर आश्चर्य भी हो रहा था कि इन दिनों तो मन को उलझाए रखने लायक़ कोई काम भी ऐसा नहीं था फिर भी तेज को तो जैसे एकबारगी भूल ही गई थी। कहीं यह भी ध्यान था कि मेरे सामने वे पहली बार सिगरेट पी रहे हैं। हाँ, तो मैं बता रही थी; "यहाँ तक तो मुझे खुद भी उनका व्यवहार बड़ा अस्वाभाविक और नक़ली-

नकली-सा लगा, लेकिन जब उन्होंने कहा कि—'अभी तक तो आपकी कहानियों की प्रशंसिका रही हूँ अब अपनी ऐक्टिंग से भी आपने मोह लिया है।' तो मुझे लगा कि इसमें तो कुछ भी बनावट नहीं है। मैंने भी फिर बड़ी शिष्टता से बातें कीं। वे बोलीं—'गाड़ी खड़ी है, अभी चल सकेंगी ?' मैंने चारों ओर देखा—'अभी ?' बहुत नम्रता से कहा—'अभी तो सम्भव नहीं होगा। मेकअप वगैरा उतारते घण्टा-आध घण्टा लग ही जाएगा। मैं आपको फोन कर दूँगी।' उन्होंने फ़ौरन पर्स खोलकर एक छोटी-सी खूबसूरत डायरी के पन्ने पर मेरा नम्बर लिखकर कहा—'सुजाता' नाम काफी है न ?'—'जी' मैं बोली। वे उसी तरह चली गईं। जब विश्वास हो गया कि चली ही गईं, तो सारी लड़कियाँ काँव-काँव करती चारों ओर से लद आईं। मुझे खुद भी मन ही मन गर्व हुआ। हँसी भी आई—'राजकुमारी जी ! ···बाहर गाड़ी खड़ी है !"

एकदम बीच में बात रोककर मैं देखने के लिए रुकी कि वे अविश्वास तो नहीं कर रहे। वे उसी तरह सिगरेट पी रहे थे। "खैर साहब, दूसरे दिन फोन पर बातचीत हुई और दो-घण्टे में ही लम्बी-चौड़ी सैवॉय घर के सामने आ खड़ी हुई। सारे आस-पास वाले झाँक-झाँककर देखने लगे। अपनी बेटी के रौब देखकर अक्का भी बहुत खुश। और जब मैं गाड़ी में बैठने जाने लगी तो अक्का ने टोककर कहा—'अरी पूछ तो ले, किसकी है ? कोई और ही चला आया हो। हाँ भैया, यह बम्बई है।' तो मैंने अविश्वास और निश्चयात्मकता से हाथ हिला दिया—'क्या अक्का ! तुम्हारे दिमाग़ में भी एकदम अनहोनी बातें आती हैं' खैर, जब नीचे बैठकर ऊपर अक्का से 'टा-टा' किया तो कहना ही क्या। उनका चेहरा चमकने लगा था; जैसे गाड़ी मेरी ही हो और उसे मैंने इनाम में पाया हो। बालकनी में खड़े होकर पड़ोसियों को, जो सबके सब कोई भी साधारण-सी बात होने पर बाहर निकल-निकल खड़े हो जाते हैं, सुनाकर बोली—'कोई राजकुमारी मज्जी की दोस्त है, उसी के यहाँ गई है। बहुत बड़े-बड़े लोग उसके दोस्त हैं।' और हम थे कि एक साथ पाँच-बोतल शराब के नशे में उड़े चले जा रहे थे। बीच में जब होश आया तो एकदम घबरा गई, लगा जैसे बिलकुल नई जगह गाड़ी चली जा रही हो। होश उड़ गये। हाय राम, कहीं मेरे साथ कोई धोखा तो नहीं हो गया ! जाने कहाँ लिये चला जा रहा है ? किसी उल्टी-सीधी जगह ले गया तो मैं क्या करूँगी ? सच, मैंने अकेले आकर बड़ी गलती की। मेरे पास तो कुछ ऐसा भी नहीं है कि वक्त पर अपना बचाव कर सकूँ। कई बम्बइया-फिल्मों के दृश्य आँखों के सामने घूम गये। उस वक्त बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि आप कहीं किसी फुटपाथ पर जाते दीख जायें,

बुलाकर बैठा लूं। और जब यह डर दिमाग़ में घुसा तो मैं ही जानती हूं, किस तरह मैंने सारा रास्ता साँस रोककर काटा है। अचानक जब मैंने पाया कि मैं तो चौपाटी से मैरीन ड्राइव की कमान जैसी सड़क हर चली जा रही हूँ तो ज़रा कुछ हिम्मत बँधी! अपने ऊपर क्रोध और हँसी दोनों आये। मेरी भी कैसी गंदी आदत है इतनी जल्दी घबराने की। खैर, मैरीन-ड्राइव के ठीक बीच में एक बिल्डिंग के पोर्च में गाड़ी खड़ी करके जब टिप-टॉप वर्दी धारी ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला तो पता चला, अब उतरना है। छः-सात मंज़िल की ऊँची बिल्डिंग पर गुजराती में लिखा था—'बीचि-विलास।' बुश्शर्ट और पेण्ट पहने एक साहब ने कहा—'आइए'! तो उनके अदब के लहजे से चौंककर मैंने उधर देखा। गोरे रंग पर महाराणा प्रताप जैसी लम्बी-लम्बी मूछें, मानो ऊपर से चिपका ली हों, हाथ में एक हाथ-भर का डण्डा। उनके साथ लिफ्ट के सहारे पाँचवीं मंज़िल पर जा पहुँचे। एकदम नये ढंग की लिफ्ट, खट्-खट् नम्बर आते चले जा रहे थे। पाँच नम्बर पर लिफ्ट अपने आप रुकी और खुल गई। चमड़े के पट्टों पर ब्रिचिस और बटनदार कमीज़ के कन्धे पर चमकदार गोलियों की पेटी चढ़ाये दो सिपाही बन्दूक लिए खड़े थे। मेरा दिल फिर धाड़-धाड़ बजने लगा : भगवान्, कहाँ फँसी मैं? आये दिन यहाँ जाने कितनी इस तरह की घटनाएँ होती रहती हैं। कहीं कुछ ऐसा वैसा न हो जाये। घर पता भी लग जायेगा या नहीं। अक्का यहाँ का ठिकाना भी तो नहीं जानती। कम-से-कम मुझे यहाँ का टेलीफोन नम्बर तो लिख ही आना चाहिए था। इन्क्वायरी में पूछकर ही वे लोग नाम-पता जान लेते।

"मगर इस डर के ऊपर कहानी-लेखिका की जिज्ञासा थी, एक आत्म-विश्वास था कि मैं खिंची चली गई। मेरे साथवाले वे साहब मुझे रास्ता-सा दिखाते चले जा रहे थे। बड़ा भारी दरवाज़ा खुला तो शानदार ड्रॉइंग-रूम सामने था। दुनिया भर के कौच, कुर्सियाँ, मेज़ें, सजावट की चीज़ें, दीवारों पर लगे पथराई-पथराई निस्तेज आँखों से घूरते शेर, बारहसिंघा और हिरनों के सिर, सुनहरे चौखटों वाले आदमक़द पेण्टिंग। भीतर क़दम रक्खा तो पाँव क़ालीन में टखनों तक धुस गया। मेरे सामने तो चकाचौंध छा गया, जैसे सपने में किसी अतीन्द्रिय-लोक में चली जा रही हूँ। खैर, उस कमरे को पार किया। सामने की पूरी दीवार पर भारी-भारी पर्दे लटके थे—बिलकुल जैसे किसी अंग्रेज़ी फ़िल्म में आ गये हों। पर्दे हटे। देखा कि बड़े-बड़े लकड़ी के फ़्रेमों की, इधर-उधर सरकने वाली शीशे की दीवार थी। इस दीवार के एक छोटे-से दरार जैसे दरवाज़े से निकले तो बन्द बरामदेनुमा हल्के-हल्के हरे दूधिया शेड वाला लम्बा-

सा कमरा था। इसकी सड़क की ओर खुलने वाली दो-एक खिड़कियों को छोड़कर बाकी सब बन्द थी...."

मैं ज़रा देर को फिर रुकी। उदय ने सिगरेट समाप्त कर दी थी और कुर्सी की दोनो बाँहों पर कुहनियाँ टेके इस तरह बैठे थे कि दोनों हाथ साँप के फनों की तरह इधर-उधर उठ आये थे। वे एकटक धरती की ओर देखते मेरी बात चुपचाप सुन रहे थे। यह जानने के लिए कि वे मेरी बात सुन भी रहे हैं या अपने में ही डूबे हैं, मैं एकदम चुप हो गई। जब कुछ देर वे कुछ नहीं बोले तो बड़ी झल्लाहट हुई : अजब भोंदू हैं, मैं तो इतनी रोचक बात बता रही हूँ, और आप हैं कि इस समय जाने कहाँ खोये हैं। पूछा : "सो गये क्या ?"

"नही तो। मैंने समझा कि तुम खुद अगली बात सोच रही हो।" उन्होने दोनों पंजे आपस में फँसाकर मुट्ठी बना ली और दोनो अँगूठो को नाक के नीचे होठों पर रखकर हिलाते गम्भीरता से सोचते रहे, जैसे जाड़े मे ठिठुरे बैठे हों।

उत्साह से मैं आगे बताने लगी (क्या मैंने उस दिन की डायरी इसीलिए नही लिखी अलग से, कि उन्हें बताऊँगी ?) "वहाँ पर इसी रंग के मलाया-केन का फर्नीचर था। सामने की कई खिड़कियों के दरवाज़े खुले थे और उनके पार सागर लहरा रहा था। पर्दे झूल रहे थे। मन में आया कि झांककर देखूँ, लेकिन शिष्टता के नाते यों ही रही। एक तरफ दो आराम-कुर्सियों के बीच में छोटी-सी शीशे की सतह वाली साइड-टेबिल रखी थी। कुर्सियों पर मोटे गद्दे थे। उन मुछाड़ी साहब ने वही बैठने का शिष्टता-पूर्वक संकेत करके कहा—'आप एक मिनट पधारें। राजकुमारी जी अभी आती हैं।'

"मैं चुपचाप बैठ गई। सामने वाली कुर्सी की बगल मे ही छोटी-सी टेबिल भी बाकी फ़र्नीचर जैसी ही थी। उस पर सफेद टेलीफोन रक्खा था, सचमुच समुद्र के किनारे की यह जगह बड़ी रोमैण्टिक थी। नीचे सड़क का शोर यहाँ नही आ पाता था। शहर के शेष कोलाहल के साथ मिलकर एक मिली-जुली-सी भनक जैसी आती थी—जिसमे बीच-बीच में रह-रहकर कारो के हॉर्न बज उठते थे। खिडकियो के बीच वाले हिस्सों में मेज़ों पर रक्खे शीशे के केसो में मछलियाँ तैर रही थी। बार-बार मन मे आता कि बाहर झांककर देखूँ। बिलकुल ऐसा लगता था जैसे आसमान के किसी बादल-महल मे बैठी हूँ। सागर पहले मटमैला था और फिर एकदम नीला होता चला गया था। बीच-बीच मे लहरों के झाग गोटो की तरह धूप मे चमक उठते थे। क्षितिज की नीलिमा मे दूर पालों वाली नावें दिखाई देती थी और उनके ऊपर चीलें तैर रही थी। मन मे एक गुदगुदी और सिहरन-सी भर आती थी। तभी एक ओर

का पर्दा हटाकर अपर्णाजी ने प्रवेश किया : वही सौम्य गम्भीर मूर्ति और अभ्यस्त मुसकराहट । मैं उठ खड़ी हुई । दोनों ओर से नमस्कार हुए और हम लोग फिर बैठ गये । राजकुमारियों का जो नक्शा मेरे दिमाग़ में था वह एक बहुत ही उद्धत और उद्दण्ड किस्म की लड़की का था । बॉब्ड-हेयर, आधा शरीर ढँकता ब्लाउज़, बड़ी संक्षिप्त-सी लापरवाही से खिसकती साड़ी, और चीखती लिपस्टिक, रँगा हुआ मुँह और तराशी भौंहें, चंचल आँखें मटकता शरीर और बेलगाम ज़बान, हाथ में सिगरेट । यह तस्वीर मेरे दिमाग़ में राजकुमारियों की थी । इसके साथ ही पता नहीं क्यों, यह बात भी मेरे दिमाग़ में भरी हुई थी कि हर राजकुमारी को या तो शराब का पैग लेकर उस पर आँखें गड़ाये आना चाहिए या नशे में 'धुत' झूमते-झामते और घिसटते लड़खड़ाते किसी तरह कुर्सी पर आकर पड़ जाना चाहिए। लटकती गर्दन और भारी पलकों को बड़ी मुश्किल से उठाकर हाथ झटकारते हुए बेताबी से सामने वाले से नकियाये स्वर में पूछना चाहिए : 'बोलों, बोलों क्याँ हैं । जल्दी बोलों । अमें फ़ूरसाँत नाँई एँ । जँल्दी कंहों' लेकिन इस राजकुमारी ने ऐसा कुछ भी नहीं किया । वह पूरे होश-हवास में थी । यही देखने के लिए बातों के दौरान में मैं अपना मुँह बाद में उसके मुँह के पास भी ले गई कि किसी तरह की बू आये तो मेरे अनुमान को बल मिले । गुलाबी साड़ी ज़रूर उसने उल्टे-पल्ले की पहन ली थी; लेकिन वह चटक-मटक उसमें ज़रा भी नहीं थी । बैठते ही पूछा—'आपको आने में तकलीफ़ तो नहीं हुई ? माफ़ कीजिए, मुझे ज़रा-सी देर हो गई । अच्छा बताइए अब आप कोल्ड लेंगी या हॉट ?'

'जी नहीं, मुझे तो इच्छा नहीं है ।' मैंने हाथ जोड़कर नम्रता से जवाब दिया ।

'नहीं, यह कैसे होगा ? यों नहीं, कुछ तो लेना ही होगा । इसके बाद हम लोग नाश्ता करेंगे, जूस, स्क्वैश, शर्बत, साइडर जो भी कहें । या फिर चाय, काफ़ी, चाकलेट, कोको, दूध ?'

मैं जान गई कि मुझे नाम सुनाये जा रहे हैं । 'नहीं जी, मेरी तो क़तई इच्छा नहीं है ।' फिर यह सोचकर कि ज़्यादा इन्कार भी तो अच्छा नहीं लगता, मैंने कह दिया—'अच्छा जो आप लेंगी, वही मैं भी ले लूँगी ।'

उन्होंने बिना आवाज़ ज़रा भी ऊँची उठाये ही कहा : 'सुनिए ।'

और पर्दे के पीछे से (पता नहीं कहाँ छिपे खड़े थे) वही मुछाड़ी साहब प्रकट हुए । अदब से बोले : 'जी सरकार ।'

'देखिए, दो पाइनएँपिल भिजवा दीजिए ।'

'बहुत अच्छा सरकार।'

जब वे चले गये तो स्वाभाविक मुद्रा मे राजकुमारी बोली : 'उस दिन आपका अभिनय सचमुच बड़ा ही सुन्दर रहा।'

मुझे राजकुमारी का हिन्दी उच्चारण और बोलने का लहजा शुरू से ही प्रभावित कर रहा था। जाने क्यो, यह बात भी मेरे दिमाग़ में भरी थी कि राजकुमारियाँ बात-बात मे अँग्रेज़ी झाड़ती हैं और भयानक उर्दू बोलती है। मैंने संकोच से कहा : 'कहाँ! वह तो उलटा-सीधा यो ही कुछ कर दिया।'

'यहाँ तो जो ड्रामे-सिनेमा होते हैं, वे सचमुच ऐसे थर्ड-रेट और बोर होते हैं कि मैं कभी नही जाती। वही नकली बात-चीत और वही उछल-कूद और बदतमीज़ी! अखबार उठाकर आप देख लीजिए तो पता चले जैसे यहाँ जितने भी ऐक्टर-ऐक्ट्रेस हैं वे सब एक-से-एक ऊँचे खानदान से चले आ रहे है। सिनेमा के बाद या तो सारा वक़्त इनका गृहस्थी चलाने मे या ऊँचे-से-ऊँचा साहित्य पढने में गुज़रता है। किसी को टॉल्स्टाय पसन्द है तो किसी को गेटे, किसी को शेक्सपियर ने मुग्ध कर रक्खा है तो कोई रोम्याँ-रौलाँ पर जान देता है। गीता जिसे आत्मिक शान्ति न देती हो ऐसा तो हिन्दुस्तान का शायद ही कोई नेता-अभिनेता मिलेगा और मिलकर देखिए तो कम्बख्तो से एक शब्द बोलना तक नही आता। खुद दस्तखत करने मे हाथ काँपते हैं। किराये के लेख और डायरी लिखा-लिखाकर छपाते रहते हैं। आलमारी मे किताबें लगा ली, एक किताब हाथ में खोलकर पकड़ ली और तस्वीर खिचवा ली। मैं तो अक्सर इनसे मिल चुकी हूँ, और मिलते ही ऐसी नफ़रत होती है कि बाहर खड़ा करवा के हन्टर लगवाये जावें तो तबीयत ठिकाने आ जाये। औरत होने की वजह से जरा लिफ़्ट क्यों मिल जाती है कि बस, अपने को खुदा ही समझने लगती हैं।' फिर अपनी बात पर एकदम रोक लगाकर बोली—'आपकी कहानियो की तो मैं पुरानी पाठिका हूँ। और इसी रूप में जानती थी आपको। आप ऐसी मजी हुई अभिनेत्री भी हैं, यह मैं नहीं समझती थी' उसकी इस बात मे मुझे आपकी बात याद आ गई कि लडकी तो जन्मना ही अभिनेत्री होती है। सचमुच कितने रोल हम लोगों को एक साथ निभाने पड़ते है। खैर, इसके बाद जो बातचीत साहित्य पर हुई है कि मैं तो चकित रह गई। वाक़ई, उस कम्बख्त ने कितना पढ रक्खा था। आप जानते ही हैं, कि यहाँ तो पढने-लिखने के नाम गोल है। उस वक़्त अपनी इज्जत बचानी मुश्किल हो गई। नई-से-नई चीज उसने पढ रक्खी थी और याद कितना था! मैं तो समझती थी कि इसको इतनी फ़ुरसत कहाँ होती होगी। लेकिन लगता था जैसे वह तो चौबीसों घण्टे बस पढती ही रहती

थी। आपकी बात भी उसी दौरान में आ गई थी···' " मैं बात कहते-कहते जान-बूझकर रुक गई।

उदय चौंक पड़े। मुँह से निकला—"मेरी ?" और बिना कुछ बोले इस आशा से देखते रहे कि मैं आगे बोलूँ। बोलते हुए भी मैं सचेत थी कि कमरा अकेला है और उनकी निगाहें मेरे शरीर के विभिन्न अंगों पर घूम रही हैं। जब कभी भी ऐसा लगता कि उनकी निगाहें मेरे मुँह पर जम गई हैं तो उमड़ती लज्जा को मैं बड़ी मुश्किल से दबा पाती।

मैंने अपनी बात जारी रक्खी : "बहुत-से साहित्यकारों की बातें आईं। तब मैंने पूछ लिया—'आपने उदयजी की कोई चीज़ पढ़ी है ? पहले तो नाम ही याद नहीं आया। फिर बड़ी मुश्किल से याद करके बोली 'हाँ, कुछ ध्यान तो पड़ता है थोड़ा। कभी कुछ देखा है शायद कहीं। बहुत पसन्द नहीं आया होगा, वर्ना ज़रूर पढ़ती। मेरी पसन्द के लेखक दूसरे हैं।' और फिर वह उन लोगों के नाम बताती रही, जिनकी कोई भी चीज़ उसे अच्छी लगी थी। आपका नाम वहाँ भी याद नहीं आया। मैंने फिर पूछा—'आपने उदय का नया उपन्यास पढ़ा है ?' तो बताया—'याद आया, अभी उस दिन दिखाने लाया था एजेण्ट। कोई खास अच्छा तो लगा नहीं। इसीलिए लौटा दिया।' मैंने तो कह दिया—'वे खुद अगर कहीं अपने बारे में आपके यह विचार सुन लें तो हार्टफ़ेल हो जाये।' उसने पूछा : 'क्यों, आप क्या उन्हें जानती हैं ?' 'यहीं बम्बई में तो रहते हैं आजकल।' मैंने बताया—'अपने को आज के लेखकों में सबसे अच्छा बताते हैं। हर वक़्त जेब में चिट्ठियों के सर्टिफ़िकेट लिये घूमते हैं।' "—अपनी बात फिर तोड़कर मैंने उदय को चिढ़ाने को उनकी तरफ़ देखा।

"तुमने कहा यह सब ?" वे गुर्राकर बोले—लेकिन चेहरा देखकर मेरी नीयत समझ गये थे, यह उनके नाराज़ होने के नक़ली ढंग से साफ़ था। "जाने किस सड़क चलती ने आपको प्रभावित कर लिया, अब आप उसके वाक्यों को गीता के श्लोक की तरह कोट कर रही हैं। अपने नये उपन्यास में तुम्हें ही नहीं खींचा तो नाम नहीं···।"

"आपको बीस बार बता दिया कि इन सब धमकियों का यहाँ असर नहीं होता। हम भी यही काम करते हैं।" मैंने उनके कुछ भी कहने से पहले ही कहा—"फिर मैं झूठ क्यों बोलती ?" आगे धृष्टतापूर्वक अपने क़िस्से को ज़रा-सा ंग देते हुए मैंने बताया : "हाँ तो, बड़ी घृणा से नाक-भौं सिकोड़कर बोली—'देखिए, मुझे पढ़ने का शौक़ है, किताबें और पत्रिकाएँ मँगाती हूँ और पढ़ती हूँ, लेकिन इन लेखकों-कलाकारों से मिलने में मुझे क़तई दिलचस्पी नहीं

है। एक तो इनके मैनर्स और व्यवहार का ढग बड़ा अजब होता है। ये लोग बुरे होते हैं या असभ्य होते हैं, ऐसा मैं नहीं कहती; लेकिन वह सब कम-से-कम अपन लोगों को बहुत अटपटा लगता है। कहूँ कि अच्छा नही लगता। फिर मेरा इन लोगों के बारे में अनुभव अच्छा नही है। पहले-दूसरे परिचय में ही ये लोग या तो पैसे माँगने लगते हैं या कोई न कोई अशिष्ट हरकत कर बैठते है। मुश्किल यह है कि जरा ढंग से बोल दीजिए तो इन्हें मुगालता हो जाता है *कि इनसे प्रेम किया जा रहा है। उस वक्त ये लोग अपना चेहरा अगर शीशे में* देख लें तो इस भ्रम की शुरुआत ही न हो। मैं यह नही कहती कि सहज मानवीय सम्बन्ध के लिए कोई अलग जात-पाँत होती है, या अलग वर्ग होते है। सामाजिक ऊँचाई-नीचाई या देश-प्रान्त की दूरियों को लाँघकर भी प्रेम होता है, सही है। और शायद प्रेम को जो इतना महान् और सामर्थ्यवान् बताया गया है वह उसकी यह निर्बाध शक्ति देखकर ही। लेकिन एक बात मेरी समझ में आज तक नही आई। आप मेरी शका अच्छी तरह समझ सकेंगी, अगर समझा सकें तो समझा दीजिए। जिसे आप चाहें या प्यार करे, उसे आप रुपया-पैसा क्या, सभी कुछ दे सकती है, कभी-कभी प्राण भी। और शायद देना तो पुरुष जानता ही नही, नारी हमेशा से अपने आपको लुटाती आई है। जब देने पर आती है तो अपना सब कुछ दे डालती है—धन, दौलत, इज्जत, भविष्य *और जीवन तक। लेकिन मेरा तो खयाल है कि वह भीख नही देती, अमानत* देती है। वह घर की चाबी दे डालेगी, उसी को, जो उसको सँभालकर रख सके। आप कहेंगी कि मैं कैसी बात करती हूँ, लेकिन आपने देखा होगा कि भीख देने में हम लोगों से कजूस प्राणी शायद ही आपको मिले। ये लोग भीख माँगने आते हैं, अधिकार माँगने नही। और इसे मेरा दम्भ कह ले, कला के नाम पर यह मैं नही कर सकती।' मैंने देखा कि राजकुमारी के बोलने का ढग ही सधा और आत्म-विश्वास से भरा नही था, अपनी बात को तर्क-पूर्ण ढग से रखने की कला भी उसके पास थी।

"इसके बाद फिर जानें कहाँ-कहाँ की दुनिया भर की बातें होती रहीं। उसने मुझे अपनी लाइब्रेरी दिखाई। मुझसे जब नही रहा गया तो मैंने पूछा—'आप किस यूनिवर्सिटी में पढी हैं?' वह खिलखिलाकर हँस पड़ी—'आपको यूनिवर्सिटी में पढी लगती हूँ? अच्छा, कहाँ तक पढी लगती हूँ? छोडिए, आपको भ्रम बना रहे, यही अच्छा है। लेकिन समझ रखिए, मैं बिलकुल भी पढी-लिखी नही हूँ। यों ही शौक है, सो कभी सितार पर निकलता है, कभी साहित्य पर। फिर कभी सिनेमा जाने का मन होता है तो अंग्रेजी खेल देखने

चली जाती हूँ। अभी दो खेल बड़े ग़ज़ब के देखे हैं—'द किंग एण्ड आई' और 'एन अफ़ेयर टु रिमेम्बर'। सुनते हैं 'वार एण्ड पीस' आ रहा है, आपको शौक़ हो तो साथ ही देखेंगे।' इसके बाद खाना खिलाया। जब दो-ढाई घण्टे हो गये तो मुझे लगा कितनी देर हो गई है। मैंने जाने की हठ की। बोलीं : 'अगर आपको कोई आपत्ति न हो तो कभी-कभी इधर आया करें। केवल तक़ल्लुफ़ में नहीं कह रही। सचमुच मुझे खुशी होगी। यहां अपने शौक़ और ढंग का कोई आदमी नहीं है। बस, सभी को हर वक़्त नाच, गाना, ये पार्टी, वो कॉक-टेल, कारें, विज़िट्स, ट्रिप, एक्सकर्शन्स, सिनेमा, पिकनिक, होटल, रेस, कपड़े, हीरे, डांस वग़ैरा—यही बातें रहती हैं। यों फँस जाते हैं तो सभी कुछ करना पड़ता है; क्या करें, समाज की एक जिम्मेदारी है, लेकिन मन नहीं करता। मैं तो बचती हूँ। प्रायः नहीं ही जाती। लेकिन कोई बात करने वाला तक नहीं मिलता। कभी-कभी मन होता है कि बहुत सादे-से कपड़े पहनकर यहाँ की लोकल के थर्ड क्लास में सफ़र किया जाय, कभी किसी फ़ुटपाथ वाले से चाय पीने को मन करता है, लेकिन 'कोई क्या कहेगा' का भूत हमेशा सर पर सवार रहता है। फिर देखिए, हरेक के साथ मिलें, उठें-बैठें प्रैक्टिकल रूप में न इस बात की हिम्मत है, न आज्ञा। आप शायद न जानती हों, हम लोगों में तो ये साहित्य, कला वग़ैरा बड़ी फ़ालतू की चीज़ें समझी जाती हैं। ऐक्टिंग देखकर उसे सराहने की बजाय यहाँ तो लोग ऐक्ट्रैस या नर्तकी को लेकर फ़ॉक्सट्रॉट डांस करना ज्यादा पसंद करते हैं। आप संस्कार कह लीजिए या भ्रम कि इस सब में मन बहुत अधिक नहीं रमता। मेरे अलग-अलग शौक़ हैं, और अलग-अलग दोस्त। साहित्य और उपन्यास-कहानी पढ़ने का मुझे शौक़ है, अगर आप उचित समझें तो कभी-कभी हम लोग मिल लिया करें।'···मैंने भी कहा—'इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? इस बार मेरे फ़ाइनल के इम्तहान हैं, इसके बाद तो फिर फ़ुरसत ही फ़ुरसत है। यों भी चौबीस घण्टे पढ़ूँगी नहीं।' तो कहने लगी—'नहीं, आपत्ति की बात इसलिए मैंने की कि आजकल प्रगतिवाद का युग है, और आप लोग प्रायः हमें अच्छी निगाहों से नहीं देखते। आपकी निगाहों में हम लोग शोषक, अत्याचारी और सामंत-पूंजीपति; जाने क्या-क्या हैं। इसलिए आपको हमसे मिलने में शर्म भी लग सकती है···' मैं कुछ गम्भीर हो गई—'देखिए, वह एक पूरे वर्ग और व्यवस्था की बात है, इसके लिए कोई एक व्यक्ति क्यों सज़ा भोगे ? अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति की नीयत में इसलिए विश्वास न किया जाय कि वह किसी विशेष वर्ग में पैदा हुआ है, यह सिद्धान्त मैं नहीं मानती। यह तो वही पुराना जात-पाँतवाला पचड़ा आ गया कि शूद्र के घर में पैदा व्यक्ति के सारे गुणों को

नजरंदाज कर दिया और उसे सारे अधिकारों से वंचित कर दिया। नही, राज-कुमारीजी, मैं आदमियों में जात-पाँत नही मानती और न मेरा विश्वास छुआ-छून में है कि अमुक के घर जाने या उसे छूने से धर्म और जाति चले जाते हैं।' इस पर वह मुसकराती हुई चुप रही। फिर मैं किस वक्त मिलती हूँ यह पूछकर बोली—'हो सकता है मैं खुद आऊँ।' मैंने एकदम कहा—'नहीं आप फोन कर लीजिए न। इसके बाद गाडी मुझे घर तक छोड़ गई।"

उदय आँखें यों ही अपलक खोले जाने क्या सोच रहे थे। मैं कुछ देर चुप रहकर बोली—"सचमुच, इससे मिलकर तो बिलकुल नही लगता कि किसी प्रिंसेस से मिलकर आ रही हूँ···जरा घमण्ड नही···जरा गर्व नही। पाँच मिनट मे तो हम लोग इस तरह घुल-मिलकर बातें करने लगे थे जैसे न जाने कब से एक दूसरे को जानते हों। वर्षों की सहेलियो की तरह खुल गई वह तो। इसने तो इन लोगों के बारे मे मेरे विचारो को एकदम बदल दिया। मैं तो सोच भी नही सकती थी कि इतनी मिलन-सार और खुश-मिजाज होगी। हमलोग बैठे थे, तभी फोन आया। पता नही, दूसरी तरफ कौन था। मैंने उसी की तरफ वाले टुकड़े सुने—'चलो, चलो बहुत बनाओ मत। हमने भी दुनिया देखी है।'···'बस, दुनिया वही है जहाँ आप रहते हैं?'···'अच्छा, वीचिविलास के सामने से रात-दिन जो दुनिया गुजरती है उसे क्या कहते हैं?'···'न सही पैदल चलने वाले, हमारी आँखें बड़ी पारदर्शी हैं कारों की छतें भेद कर देख लेती हैं।' उधर कोई पुरुष था शायद। ऐसी हँस-हँसकर बातें कर रही थी कि बस। फिर एकदम टेलीफोन रख दिया—'देखो, इस वक्त हम बहुत बिजी हैं, एक बहुत बड़ी लेखिका, अभिनेत्री से बातें कर रहे हैं।'···"

"बस, बस। अब बहुत बोर हुए तुम्हारी प्रिंसेस की बातो से।" ऊबकर उदय ने हाथ झटकार दिये: "तुम लडकियो मे सतुलन नाम की कोई चीज होती है या नही? अब बस, एक मिल गई कोई चलती-फिरती तो लगी उसी के यश गाने।"

"यश गाने की बात नही है। वाकई मुझे तो बड़ा ही दिलचस्प करैक्टर लगा है। मन में आता है, उस पर जरूर कुछ लिखा जाय।"

"जरूर लिखो।" उदय ने कहा: "हिन्दी में ये राजा-राजकुमारी ही तो आने को रह गये हैं न अब? प्रेमचन्द की रानी जाह्नवी और प्रतापनारायण श्रीवास्तव के बाद हिन्दी वालों ने तो मानो इन लोगो का बॉयकट ही कर डाला था। अच्छा है, यह प्रायश्चित्त तुम्हारे ही हाथो हो। हमारा क्या है, अभी तक हम विदेशी उपन्यास-कहानियों मे ये राजा-ड्यूकों की कहानियाँ पढा करते थे। अब हिन्दी मे

पढ़ लेंगे।" फिर मुंह के आगे हाथ रखकर जँभाई लेते हुए बोले : "अरे, मैं कहता हूँ इन सब चक्करों में मत पड़ो। इनमें वक़्त बरबाद करोगी तो अपना लिखना भी भूल जाओगी। रईसों के चोंचले हैं ये सब। यह वक़्त है कुछ गम्भीरता और ईमानदारी से लिख-पढ़ डालो। बड़ी चली हैं, राजकुमारीजी का मनोरंजन करने।"

"आप तो यह सब कहेंगे ही। आपकी बुराई जो कर दी न।" उनकी बात में शुद्ध ईर्ष्या है, यह मैं समझ गई।

"मेरी बुराई वह बेचारी क्या खाकर करेगी? बुराई और भलाई को आदमी गम्भीरता-पूर्वक तब ले जब किसी चीज़ को समझता हो। एक तो बेचारी बेपढ़ी-लिखी और फिर लड़की। गिलोय और नीम चढ़ी।" उन्होंने उद्धत बनकर जवाब दिया। फिर टालकर बोले—"अच्छा जी, मारिए गोली। हमें क्या है? खूब दोस्ती कीजिए। अब कब जा रही हैं?"

"जरूर करेंगे। परसों ही जा रहे हैं।" फिर मैं गाने के लहजे में बोली: "जलने वाले जला करें···क़िस्मत हमारे साथ है।···" और एकदम उठ खड़ी हुई। घड़ी देखते ही ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई : "हाय राम, आज मारे गये। पौने बारह। बातों-बातों में पता ही नहीं चला। कॉलेज से रेखा सीधी घर गई होगी। कहीं अक्का से न कह दिया हो···खैर नहीं है···। कितनी बातें की हैं आज···हद हो गई। आपके साथ तो पता ही नहीं लगता···कि" और अगली बात कहते-कहते मैं रुक गई। जीभ काट ली। सच है, जब-जब उदय के साथ बातें करने बैठी हूँ, समय का ध्यान ही नहीं रहता। इतना सब कह चुकने के बाद पहले जो मन में बेचैनी थी वह मानो शान्त हो गई। और जब मैं इस शान्ति को महसूस करने के प्रति सचेत हुई तो खुद चौंक गई—ऐसा क्यों है? अच्छा, फिर सोचूँगी।

"ये रेखा कौन है?" वे बैठे-बैठे ही कह रहे थे—"ये भी कहीं की प्रिंसेस हैं क्या?"

"जी हां, प्रिंसेस हैं। देखें तो ग़श आ जायेगा। इतनी खूबसूरत लड़की देखी नहीं होगी।" मैं चिढ़कर बोली। लेकिन जवाब में उनकी आंखों में अपने प्रति प्रशंसा का भाव मैंने स्पष्ट ही लक्ष्य किया। वे गहरी साँस लेकर बोले : "कहाँ भाई हम तो खुद ही किसी राजकुमारी की मोटर के सामने ग़श खाकर गिरने को तैयार हैं। किसी नाज़ुक हाथ का स्पर्श तो मिले; वर्ना इस बन्द कमरे में पड़े-पड़े ही किसी दिन आत्म-हत्या कर लेंगे···"

मैं बोली : "आत्म-हत्या क्यों करते हैं? अपनी रश्मिजी को बुला लीजिए

न ?" मैं खड़ी ही रही।

"यहाँ आकर मेरी और अपनी जान खाने के सिवा और वह करेगी क्या ? सभी एक-से-एक महान् है। किसी के दिमाग ही नहीं मिलते।"

मैंने इधर-उधर देखकर कहा : "वह आपका छोकरा कहाँ गया ?"

"क्यों पानी-वानी चाहिए क्या ? उसे तो सिंह साहब ने नीचे ही डांटकर भगा दिया होगा। वह यहाँ का ऐतिहासिक व्यक्ति है। सिगरेट लाने भेजो तो मैटिनी-शो देखकर आता है। अब भुनभुनाते हुए सिंह साहब जा रहे हैं और उसे कान पकड़कर ला रहे हैं तमाचे जड़ते सिनेमा हाउस से निकालकर। कभी-कभी नाराज़ हो जाता है तो दिन-दिन गायब रहता है। उसे अपने जैसे मालिक नहीं हैं, और हमे उस जैसे हीरो नहीं है, सो दोनों की निभ रही है। अभी जाते हुए सिंह साहब ने कपड़े छीनकर इण्डिया-वॉच मेकर्स मे रख दिये होंगे और वे साहब शाम को आ जायेंगे।"

"और खाना ?"

"अभी नीचे ही जाऊँगा, सो खा लूंगा किसी ईरानी के यहाँ। एक राइस-प्लेट मे काम चलता है।"

मैंने फिर कमरे को देखा और मन मे एक पिघलन-सी महसूस हुई। वे कुछ अजब कांपती आवाज़ में बोले—"कॉलिज तो तुम्हारा आज गया ही। अब क्या कोई ख़ास जल्दी है ? बैठो न ?"

"जल्दी न हो तो सारे दिन यहीं बैठना है क्या ?" उनके इस आत्मीय अनुरोध और आवाज़ के कांपने पर भीतर से सिहरकर, लेकिन बाहर से मुसकराते हुए मैं बोली। पता नहीं किस मजबूरी में फिर बैठ गई। मुझे खुद लग रहा था कि यह मैं क्या कर रही हूँ। मुझे अब चल देना चाहिए, चल देना चाहिए। यह ठीक नहीं है। अब बैठे रहना उचित नहीं होगा। लेकिन पता नहीं, कौन था कि वहाँ बाँधे था और सारी स्थिति को तोड़कर झटके से जाने का साहस नहीं आ पा रहा था। मैं बोली—"आज आपको लिखने भी नहीं दिया।"

"या आपको डर लगता है, अकेले एकान्त मे ?" वे उसी तरह बोलते रहे।

"डर किसका ?" मैं अतिरिक्त दृढता से बोली—"लेकिन अब काफी देर जो हो गई है।"

मेज के ऊपर से झुककर जब उन्होंने अपना एक हाथ मेरे सिर की ओर बढाया तो मैं बुरी तरह कांप उठी। हाय, मुझे क्या हो गया है, मैं यहाँ से उठकर भागती क्यों नहीं हूँ ? मैंने झटके से सिर पीछे हटा लिया और जरा-सा भौहों में बल लाकर प्रश्न-दृष्टि से उनकी ओर देखा।

उदय वोले—"देखिए, जव से आपका यह पिन या काँटा मुझे कष्ट दे रहा है। इसे ठीक कर लीजिए, वर्ना गिर-गिरा पड़ेगा।"

मैंने पीछे की ओर दोनों हाथ करके देखा। सच ही एक काँटा वालों से दो इंच वाहर निकल आया था। वे क्या सिर्फ़ इस काँटे को ही ठीक करने के लिए मेरी ओर वढ़े थे? तव सहसा मैं उठ खड़ी हुई: "अव चलूँगी।" मुझे लगा कि काँटे के वहाने जैसे उन्होंने दोनों हाथों से मेरा सिर पकड़ लिया हो और अपलक निगाहों से मेरी आँखों को हिप्नोटाइज़ करने लगे हों···

"अच्छी वात है।" वे उठ खड़े हुए। वोले: "अगली वार कव मुलाक़ात हो रही है?" इतने दिनों में मिलने के वारे में उनकी ओर से यह पहला प्रश्न था।

"अव तो दो-तीन दिन फ़ुरसत नहीं है। वड़ी थकावट है। फिर आप जव कहें।" मैं मेज़ के वीच से निकलती वोली।

"तो नया कुछ नहीं लिखा?" वे वढ़कर दरवाज़े की ओर आ गये। साथ-साथ मैं भी दरवाज़े की ओर चलती वोली—"नहीं, अव तो राजकुमारी पर ही लिखूंगी, ऐसा लिखूंगी कि आप भी चकित रह जायेंगे।"

"तो अपनी प्रिंसेस साहिवा से मिलकर ही मिलो। उनके वरावर इम्पोर्टेण्ट थोड़े ही हैं हम-भाई। सुनेंगे क्या-क्या गप्पें हुईं?"

"अच्छी वात है।" मैं समझदारी से हँसी। कहाँ तो उससे कुढ़ रहे थे और उसमें कहाँ इतनी दिलचस्पी दिखाने लगे।

और चटखनी खोलने को जैसे ही मैंने हाथ वढ़ाया कि उनके हाथ ने वढ़कर चटखनी खोल दी। मुझे लगा उनका हाथ चटखनी खोलकर वहीं ठिठका। हम लोग इस समय वहुत ही पास-पास खड़े थे। जाने क्यों मुझे हर क्षण लगता था जैसे वे अभी झपटकर मुझे अपनी वाँहों में वाँध लेंगे और चुम्वनों से मेरा मुंह ढँक देंगे। तव क्या करूँगी? किधर भागूंगी? कहीं मुंह वन्द कर लिया तो चीख भी नहीं पाऊँगी। मैंने निश्चय कर लिया कि अगर ऐसा कुछ भी इन्होंने मेरे साथ किया तो ज़ोर का धक्का देकर रसोई या वाथ-रूप में घुसकर किवाड़ वन्द कर लूंगी। खूव ज़ोर से फिर शोर मचा दूंगी। वगल में औरतें तो होंगी ही। मुंह में कपड़ा-वपड़ा ठूंस दिया तो? वलात्कार की घटनाओं में अक्सर ऐसा होता है। मैंने यहाँ आकर अच्छा नहीं किया। अव आगे से नहीं आऊँगी। आज किसी तरह निकल जाऊँ। मैं यह सव तो सोचे जा रही थी, लेकिन साथ-साथ मुझे रेखा की वात भी याद आ रही थी। साथ ही मैं मन-ही-मन इस समय हो रही घटना को भविष्य में रेखा और राजकुमारी को सुनाने के लिए वाक्य भी वना

रही थी कि, मारी बातें अगली बार मिलकर किस तरह बताऊँगी।

तभी उन्होंने किवाड खोल दिये और मैं बाहर आ गई।

"नीचे तक चलूँ क्या ?" उदय ने पूछा।

"नही···नही···क्या जरूरत है ? आप अब लिखें।" मैं *अप्रत्याशित कृतज्ञता* से बोली। मन में आया, हो सकता है जो बातें मैंने सोची थीं, वे सिर्फ मेरे दिमाग़ की ही उपज हों। उनकी तरफ से ऐसा कुछ न हो। लेकिन फिर खुद ही सवाल उठा : तो जो कुछ मैंने देखा या महसूस किया वह सब झूठ था ? ऐसी परिस्थितियों में लडकी का सहज-ज्ञान, पुरुष के मन को पढने वाली आँखें क्या झूठी भी पड सकती हैं ?

और सीढ़ियाँ उतरते हुए मुझे लगा : 'छिः यह व्यक्ति तो बडा ही कमज़ोर और डरपोक है। इसमें तो इतना भी साहस नही आया कि आगे बढकर मेरे कन्धे पर हाथ रख देता !' अपने इस विचार से मैं खुद ही डर गई। 'पहले भी इसी तरह किसी बात को सोचकर डरी थी। क्या थी वह ? तो क्या मैं खुद यही चाहती थी···?···और एकदम इसका जवाब न मैं 'हाँ' मे दे सकती थी न 'ना' में···।

फिर डायरी खत्म करते-करते राजकुमारी की भीख वाली बात याद हो आई है : क्या किसी को भीख देना और अपने व्यक्तित्व और हृदय का सर्वश्रेष्ठ अंश—सहानुभूति, दया, प्रेम या प्रशंसा देना समान क्रियाएँ हैं ? किसी की भीख पाकर भिखारी कल बाजार में जाकर अपनी जरूरत की चीज़े खरीदेगा; लेकिन हमारे मन के इन सर्वश्रेष्ठ मोतियों को कोई 'भिखारी' यदि कल बाजार मे ले जाकर बेचना चाहे तो उसे देखकर हमें उतना ही संतोष होगा जितना भिखारी को अपने दान से खाने-पीने की चीज़ें खरीदते देखकर होता है ?

•

बुध : २६ जून

डेढ़ बजे रात। चारों ओर छाई अद्भुत निस्तब्ध नीरवता···दूर सागर की एक-रस गरज और रह-रहकर लहरों का छहराना। अक्सर सोते-सोते जब आँखें खुलती हैं तो मुझे इस आवाज़ को सुनकर ऐसा लगता है जैसे मैं किसी एक ऐसे सुनसान पहाड़ी द्वीप मे बने मकान के कमरे मे सो रही हूँ जिसके पास ही सैंकड़ो फ़ीट से एक ऊँचा झरना लगातार गिरे जा रहा है। या जैसे कही टीन की छत

पर मूसलाधार पानी बरसे चला जा रहा है···। लोकल रेल की सीटी और खटर-खट कभी-कभी गूंज उठती है। बाहर का मैदान और मेरी खिड़की से दीखती धनुषाकार सड़क के खम्भों की रोशनी की परछाईं मेरे कमरे के भीतर तक आ रही है, इसलिए अंधेरा घुप नहीं है। कभी-कभी सड़क से हमारे घर की ओर आती किसी टैक्सी या कार की रोशनियां तस्वीर के फ़्रेम या खिड़की के कांचों में कौंध जाती हैं, तो दिल में जैसे कहीं कुछ 'भक्' से जल उठता है···। ग्यारह बजे से भागते-भागते आज जब बिलकुल मजबूर हो गई हूँ तो पलंग पर लेटे-लेटे डायरी लिख रही हूँ। लगता है, आगे जाकर डायरी लिखना भी एक ऐसा नशा हो जाता है कि अगर न लिखो तो एक बोझ या क़र्ज के रुपयों-सा दिमाग़ पर छाया रहता है कि देना है, देना है।

पता नहीं, क्या-क्या मैंने इन दिनों में सोचती रही हूँ—कोई ओर-छोर है? दुनिया भर की बातें। पढ़ाई-लिखाई में मन नहीं लगता। इम्तहान कितने पास आ गये हैं। मन के एक ओर यह प्रिंसेस हैं और दूसरी ओर उदय। प्रिंसेस की एक-एक बात मन में उभर-उभर आती है। किससे कहूँ कि देखो, मैं कितनी महत्त्वपूर्ण हूँ। या तो ये सारे लोग मजाक करते हैं, या सावधान रहने को कहते हैं, जैसे उस महत्त्व को जान-बूझकर समझने से इन्कार कर देना चाहते हों। अभी-अभी पता नहीं, मन में कैसी एक अजब बेचैनी-सी भर आई। लैम्प बुझाकर मैं पहले तो भीतर गई। बिट्टू घर्र-घर्र खर्राटे भरता सीढ़ियों के पास बालकनी में सो रहा था। रेखा की बात याद हो आई तो खुद ही मुसकरा पड़ी और उसे सोता देखती रही। किसी को बिना जानने दिये, उसे देखना कैसा अच्छा लगता है कभी-कभी! मन हुआ कि इसे अकारण ही उठाकर बैठा दूं और कहूँ कि एक तरफ़ हटकर सो, यहाँ क्यों सो रहा है···? लेकिन यह तो रोज यहीं सोता है···। अम्मा और पापा के किवाड़ तो दस बजे ही बन्द हो गये थे। भैया पूना गये हैं दो दिन से शायद कल आयेंगे। क्या करूँ मैं? चुपचाप बालकनी के खम्भे से लगी देखती रही···। पड़ौस के ऊपर वाले साहब की खिड़की बुझी है। मैं इस आशा से खड़ी-खड़ी देखती रही जैसे कहीं कुछ रहस्यमय होगा, मेरे सामने ही किसी अकेले जाते आदमी को अचानक पीछे से छुरा मारकर कोई भाग जायेगा··· या किसी खम्भे की टेक लगाये किसी युगल को आलिंगनबद्ध देखूंगी···। इच्छा हो रही थी कि कुछ 'वर्जनीय', कुछ 'निषिद्ध' देखूं···। कैसा सन्नाटा है! ऐसे में इक्का-दुक्का लड़की को कोई पकड़ ले तो बचाने वाला भी न आ पाये···। अपने-अपने पलंगों पर सुख से सोते हुए ये लोग एक भी उठकर नहीं आयेंगे। उस दिन उदय से मुझे कितना डर लग आया था! कैसा लगता होगा बलात्कार के

समय···? क्या एक बार इस अनुभव से नहीं गुजरा जा सकता ? छि:···मेरे मन मे भी कैसी भद्दी-भद्दी बातें आने लगी हैं इन दिनो। पहले तो ये सब नहीं आती थीं···। ये रीढ में ये चीटियाँ-सी जाने क्या रेंग रही हैं···?

एकाध को छोड़कर आस-पास के सारे फ़्लैटों की बत्तियाँ बुझ चुकी हैं। बस, सीढ़ियों मे जलते, ऊपर से नीचे तक जाने वाली खिड़कियो के अँधे-शीशों की रोशनी इस तरह दिखाई देती है जैसे किसी ने जलते फ़ीते चिपका दिए हों।···अभी कोई टैक्सी किसी मकान के सामने आ खड़ी हुई है···। एक अकेली झूमती लड़खड़ाती छाया निकलती है···। अभी-अभी कार से सेकेण्ड-शो देखकर आया हुआ जोड़ा निकला था···। टैक्सी का दरवाज़ा खुलता है, वहीं पैसे देने और मीटर का फ़्लैग बदलने की किरकिराहट और घण्टी की आवाज़···। टैक्सी घुर्र करके चल देती है···उसके पीछे की लाल बत्तियाँ चमकती हुई, डूबती चली जाती हैं···तब तक कहीं घुटी-सी जगह मे डोर-बैल की घनघनाहट सुनाई देती है। जब कहीं की रोशनी खट् से बुझ जाती है तब उधर ध्यान खिंचता है कि अरे, उधर भी जल रही थी···। बत्ती बुझते ही मन में अजीब-सा कल्पना-चित्र आता है···। बाँहों की जकड मे पिसता कसमसाता शरीर···निरावृत करते और उसकी गतिविधि को बरजते दो हाथों का लिपटी-लिपटी आलस्य भरी छीना-झपटी···। नि:शब्द···लम्बी-लम्बी हाँफती-सी साँसें और चार चिपके होठ···मुँदती पलकें और···रीतिकालीन नायिका शायद फूक मारकर दीपक बुझा देती, यहाँ पाये के सहारे लटकते बैड-स्विच तक हाथ का पहुँचना और···खट्। अफ़सोस होता—काश, ज़रा पहले मेरा ध्यान उधर चला गया होता तो शायद शीशों पर कुछ छाया-चित्र देखने को मिलते। अजीब है यह शहर भी···यहाँ तो अब ज़िन्दगी शुरू हुई होगी। कैसी होगी वह ज़िन्दगी···? आधी रात को लोकल स्टेशनों के पुलो की दादरों (सीढियो) या पुलो के नीचे दीवार की बगल में कमर मे हाथ डाले हुए कोई एक दूसरे को सहारा दिये चढने की कोशिश कर रहा होगा···। कहीं कोई सागर के किनारे की एक नितान्त अपरिचित जानी-पहचानी भावाकुल-व्यथा में डूबा होगा और कोई ताज मे कॉकटेल्ल का ग्लास सामने रखे झुकी-झुकी आँखो से एक-दूसरे की 'हैल्थ' पीता हुआ 'लिन' और 'लिस' के डास देख रहा होगा···। अनिच्छा-पूर्वक ही सही, प्रिसेस अपर्णा की नंगी कमर पर किसी की बाँह रखी होगी और एक वह खास एंगिल से उनके कन्धे पर हाथ रखे लहरो की उठान-गिरान पर वह मुँदी आँखो तैर रही होगी···टैंगो नाच की लहरें—लहरें, जिन्हे हनुमान्‌जी की दो गदाओ जैसे बड़े-बड़े झुनझुने हिलाते, काला कोट और 'बो'

बाँधे, किसी गोल-मटोल का ऑर्केस्ट्रा पैदा कर रहा होगा···किटर···किटर···किट···ताल पर काठ के दो टुकड़े बज उठते होंगे···। रोशनी धुंधली होती चली जाती होगी···ऊपर आड़ी-तिरछी पतंगी काग़ज़ों की छत से झूलती मालाएँ और रंग-बिरंगे गुब्बारे मुंदी-मुंदी आँखों में स्वप्निल और इन्द्रधनुषी हो उठते होंगे···जैसे आनन्द की लहरियों के बुलबुले ! मन होता है एक बार इस जिन्दगी को मैं भी खूब भीतर तक डूबकर देखूं···कैसा लगता है जब चिक्क-स्टेप्स-आर्केस्ट्रा के क्लाइमैक्स पर एकदम बत्तियाँ कम होते-होते बुझ-सी जाती हैं···वॉल्ज में लहराते शरीर पास आ जाते हैं—और···और प्रिंसेस यह सब करती है···? कैसी है यह भीतर से···? मैं एक प्रिंसेस को जानती हूं··· प्रिंसेस अपर्णा से मेरी दोस्ती है···। हम लोगों ने दो-तीन घण्टे गप्पें लड़ाई हैं—(हद कर दी पहली मुलाक़ात में ही !) कल उसका फ़ोन आना चाहिए। लेकिन इस बात पर विश्वास नहीं होता ! उसमें तो राजकुमारियों जैसी कोई बात ही नहीं ! वह तो हम लोगों जैसी ही लड़की है···उन्हीं सब कमजोरियों और विशेषताओं वाली। सोचने का ढंग भी कोई बहुत अलग नहीं है। वैसे ही बोलती है···रहती है···खाती है ! कहीं भी तो कुछ विशेष नहीं है, वह तो लड़की है···प्रिंसेस कहाँ है···?

एक नई चीज अपने भीतर मार्क कर रही हूं···पहले किसी भी ऐसे व्यक्ति को देखती थी जो कुर्त्ता-पाजामा और जाकेट पहने हो या जिसके बाल गर्दन के पीछे से अनकटे लगते हों तो लगता कि यह उदय हैं। इसी तरह सड़क चलते अब ऐसा लगता है जैसे अचानक पीछे से आकर एक कार बग़ल में खड़ी हो जाएगी और आश्चर्य में देखूंगी कि यह तो प्रिंसेस अपर्णा ने सहसा आकर मुझे चौंका दिया है। हर गाड़ी का हॉर्न या दूर से आती आवाज मुझे उसकी गाड़ी की याद दिला देती है। बम्बई के किसी भी कोने में मुझे लगता है कि जैसे कहीं किसी दूकान पर शॉपिंग करती हुई प्रिंसेस मुझे 'बस' से उतरती देख रही है, चलती देख रही है और मैं कांशस (सचेत) होकर चलने लगती हूँ···।

बृहस्पति : २७ जून—प्रातः

रात को देर से सोई थी, डर था कि सुबह नौ तक न पड़ी रहूँ। बुलन्दशहर वाली मौसी तो ऐसे वक़्त साफ़ ही कह देती थीं कि "जवानी की नींद है।

ऐसे ही थोड़े ही खुल जायेगी ? घण्टे-घड़ियाल बजाये जाएँ, तो जागना।" लेकिन सुबह भी आँखें जल्दी ही खुल गईं। रात-भर नींद जैसे बड़ी उचटी-उचटी-सी रही। सोचा, तीन या साढ़े-तीन बजे होंगे। बहुत हुए तो चार। मन जब किसी तरह नहीं लगा तो फिर डायरी पर बोझ उतारने बैठ गई हूँ। घड़ी दराज़ में बन्द है, कौन देखे।

समझ मे नही आता, कि यह मुझे हो क्या गया है ? नाटक की अपनी सफलता को, लगता है, मैंने उतनी गहराई से लिया ही नही जितनी गहराई से लेना चाहिए था'''। कितनी बड़ी उपलब्धि थी'''। लगता है, जैसे कोई और भी बड़ा नाटक हो रहा है और मेरी सारी चेतना उसी मे उलझी है। उसे फ़ुरसत ही नही है कि इन छोटे-मोटे बाहरी नाटकों पर बहुत अधिक ध्यान दे पाये। कौन-कौन हैं उस बड़े नाटक के पात्र'''? या यह भी हो सकता है कि प्रिंसेस अपर्णा का सराहना ही ऐसी बड़ी बात हो कि मैं उसी से सन्तुष्ट हो गई हूँ'''। ऊँह, होगा भी। यह हमेशा उदय और अपर्णा को लेकर ही सोचना '''मानो मुझे करने को और कोई काम ही नही ? अभी जागते-जागते बड़ा अजब-सा सपना देखा था : मैरीन ड्राइव पर एक बहुत बड़ा-सा फ़्लैट है''' सामने सागर मचलता है, चिकने-चिकने फ़र्श, खुली खिड़कियाँ'''लेकिन न कही कोई फर्नीचर है न कही पर्दे'''। एक चौखता-सा सूनापन है'''। मैं ज़ोर से कह उठती हूँ—'देखिए, यहाँ तो फर्नीचर-पर्दे सब लाने होंगे'''।' एक दरवाज़ा खोलकर कनपटियों पर हजामत का साबुन लगाये, हाथ मे रेज़र लिये कोई निकलता है, साबुन का बड़ा-सा झाग रेज़र से टपककर धरती पर गिर पड़ता है'''। मैं झिड़क देती हूँ—'कर दिया न फ़र्श ख़राब'''? तौलिया पहने ही बाथ-रूम से निकल पड़े'''। अब यहाँ आकर तो थोड़े ढग सीख लीजिए।' कोशिश करने पर भी उस व्यक्ति का चेहरा नही दीखता, साबुन दीखता है, रेज़र चलता दीखता है। बस चेहरा नही दीखता। लगता है उस व्यक्ति की मूँछें महाराणा प्रताप जैसी है और उन्हें वह काट रहा है। मैं कहना चाहती हूँ कि जब काटना ही था तो इतनी मेहनत करके इन्हे बढाया ही क्यों था ? चेहरा क्यों नही पहचान मे आता, बडी अजब बात है ? बाँस की कुर्सी पर किसी की पैण्ट और कमीज़ रक्खी है। एक मुड़ी-तुड़ी टाई को जाँघ पर रखकर, उस पर हाथ फेरते हुए मैं सलवटें निकाल रही हूँ'''कहीं टेलीफ़ोन की घण्टी बज उठती है'''। मैं देखती हूँ कि टेलीफ़ोन-रिसीवर बडी-बड़ी मूँछों के आकार का है। उठाने को हाथ बढाती हूँ कि मूँछों के नीचे कोई खिलखिलाकर हँस पड़ता है—'कैसा बेवकूफ़ बनाया !' उसके हँसने की आवाज़ ऐसी

ज़ोर से ख़ाली कमरे में गूँजती है कि मैं चौंककर जाग उठती हूँ···! विचित्र सपना है···इस बार उदय मिलेंगे तो बताऊँगी···लेकिन नहीं, किसी कहानी में इसका उपयोग करूँगी···। ग्रिसेस को तो बता ही दूँगी···।

अपर्णा और उदय, पता नहीं ये दो नाम क्यों मेरे दिमाग़ में इन दिनों हमेशा साथ टकरा रहे हैं···। अपर्णा···उनकी बहन का भी तो नाम है···। तो क्या, यह उनकी बहन ही है···? मुझे तो कुछ गड़बड़ लगता है। नहीं-नहीं, ये अपर्णा नहीं होंगी। कहाँ यह, कहाँ वह ? दो नाम मिल गए हैं···बस, एक संयोग है···। अच्छा, फिर यह रजनी या रश्मि कौन है···? तो सचमुच इनका और कई लड़कियों से सम्पर्क है ? लोग झूठ नहीं कहते···। रजनी जो अर्थ में चाहे रात हो लेकिन उपन्यास में रश्मि बनकर आई है। कितना सूक्ष्म संकेत रक्खा है···(ख़ाक सूक्ष्म संकेत है !) रजनी ने पढ़ा होगा तो कैसा लगा होगा उसे ? उदय में सचमुच कलाकार के टच हैं।

मुझे उनकी जड़ निरुद्विग्नता से जाने क्यों बड़ा डर लगता है। लगता है जैसे वे मेरा अध्ययन कर रहे हों···पढ़ रहे हों। उन्होंने ख़ुद कहा था। सचमुच मेरे ऊपर भी कुछ लिखेंगे क्या ? देखूँ तो सही, निगाहें कहाँ तक पहुँचती हैं···। लेकिन उस दिन···उस दिन अच्छा नहीं हुआ। जो कुछ मैं सोचे बैठी हूँ वह मेरा भ्रम था कि वास्तव में बात सच थी ? जो कुछ मैंने उनकी आँखों में देखा, जिसे वे सिगरेट पीने के बहाने बहला रहे थे, अन्यमनस्क और विचार-मग्न होकर टाल रहे थे वह क्या था ? चटख़नी खोलते वक़्त मुझे ऐसा क्यों लगा जैसे किसी ने मेरे जूड़े को बहुत हौले से छुआ हो··· (हुँह, पिन निकल आई थी) जैसे मेरे कंधे पर रखते-रखते हाथ रह गया हो। वह सब ग़लत था ? मेरे ही मन का भ्रम था ? मैं अब वहाँ कभी नहीं जाऊँगी। अकेले में मन अजब-अजब-सा होने लगता है। मान लो, उनके मन में ही कोई बात थी तो जब चटख़नी खोलने को मैंने हाथ बढ़ाया था उसी पर अपना हाथ रख सकते थे···। रखकर तो देखते···? वहीं, ज़ोर से तमाचा देती खींचकर···'तड़ाक्' 'बाज़ारू समझा है क्या ?' अच्छा, मान लो रख ही देते तो ?—हिम्मत ही नहीं थी। लड़कियों की बात सुनकर तो लाल-पीले होते हैं···। अगर उनके मन में कुछ आ भी गया तो ऐसा बुरा था ? मेरे मन में क्या नहीं आया था कि—जब वे सिगरेट पी रहे थे—इन पतली-पतली सलवटों-सी धारियों वाले होठों से होंठ छुआकर देखूँ ? कैसा स्वाद होगा ? सिगरेट तो बड़ी चिरपरी होती है। बचपन में पापा की सिगरेट चुराकर पीने की कोशिश की थी, सिर सन्ना गया था, आँखों से आँसू निकल आये थे, गले की

नसें उभर आई थी। बहुत दिन हो गये होंठों का 'स्वाद' चखे भी···। पहले तेज के साथ···। अच्छा, उदय ने अभी तक कितने होठो का स्वाद देखा होगा···? छिश्ट, क्या बेहूदी बातें सोच रही हूँ मैं भी ! तो भी···एक तो रजनी है ही···अपर्णा ? नही, अपर्णा तो बहन है बडी। हाँ-हाँ, सभी बहनें ही होती हैं···। और भी कुछ होंगी···।

तो क्या, सच ही उदय का मामला आज यहाँ, कल वहाँ वाला है ? लेकिन चेहरे और बातो से तो ऐसे लगते नही हैं। बहुत लोग वैसे थोड़े ही होते हैं जैसे लगते हैं। तेज ऐसा ही था जैसा आज हो गया है ? इनकी भौंहें देखकर मुझे तेज की याद पहले क्यों आया करती थी ? एक दिन जाने किस झोंक में मैंने खत लिखा था, फिर फाड़ दिया : "तेज, तुम मेरे जीवन के एक करुण प्रसग रहे हो। *क्या-क्या सपने मैंने तुम्हारे साथ नही देखे थे ?—कौन-कौन-से* महल मैंने तुम्हारे लिए नहीं बनाए थे ? और तुमने जो कुछ किया, बदले मे जो एक अविश्वास, एक तलखी, एक ऐसी चिड़चिडाहट मुझे दे दी कि मेरा सारा व्यक्तित्व बिखर उठा, और मैं टुकडों-टुकड़ों में बँट गई। और क्या कहूँ अब तुम्हें ? तुम मेरे अस्तित्व के अश थे, मैं तुम्हारे खयालो मे रहा करती थी। खैर, भगवान् करे, तुम जहाँ भी रहो सुखी रहो···और मैं···मैं कितना रोई थी, जानोगे ? क्या करोगे जानकर ? हम हिन्दुस्तानी लडकियों को चुप-चुप रोने का रोग है···जैसे अगरबत्ती चुप-चुप जलती है···। अंग्रेजी लडकियों की तरह हमारा प्रेम न तो किलकारियों, और कहकहो वाले उन्मुक्त आलिंगनों में निकलता है, न हमारा क्रोध हिस्टीरिया के दौरों जैसी चीखों में। चाहो तो कह लो कि हम लोगों में जीवन की कमी है। इसीलिए न तो खुले और सम्पूर्ण मन से प्यार कर सकती हैं, न क्रोध।" इसीलिए चुपचाप, रातों रोती रही थी। वह सब कुछ ठण्डा हो गया, लेकिन अब भी कभी-कभी जाने कैसा भूत सवार होता है, मन होता है कि कमरे के सारे किवाड़ बन्द कर लूँ, और दूर से जोर से भागकर आऊँ, एक-एक को ठोकर मारकर खोल दूँ—भड़ाक् ! बेतहाशा कैंडल रोड़ पर भागूँ···भागती ही चली जाऊँ···भागती चली जाऊँ···। सारे कपड़े अस्त-व्यस्त हो जायें···। बाल्कनी के खम्भे को धृतराष्ट्र के भीम की तरह ऐसी ज़ोर से भींचूँ कि चूर-चूर होकर बिखर जायें···। पता नही, क्या-क्या करने को मन करता है···हर पुरुष से, हर छोटे-बड़े लड़के से खिलवाड करने की इच्छा होती है। बस पर चढ़ते हुए, साथ बैठते-उठते हुए ज़रा-सी कुहनी का टहोका मार दूँ और जब वह कुछ करे तो सैण्डिल उतार कर दो दूँ भरी भीड में, दिन दहाड़े···फटाक्···फटाक्। मजा आ जाये।

कहीं उदय के साथ खिलवाड़ करने में यही मनोवृत्ति तो नहीं है ? तो मैं उदय के साथ भी 'खिलवाड़' कर रही हूँ ? नहीं ? उसमें ऐसी क्या बात है कि मैं खिलवाड़ करूँ ? बहुत सुन्दर ?—नहीं। धनी ?—नहीं। प्रभावशाली ?—शायद नहीं···नहीं···नहीं। तो फिर मुझे आज अपने और उदय के सम्बन्धों को साफ़ कर लेना होगा, ताकि किसी प्रकार के भ्रम की कोई गुंजायश रह ही न जाय। हाँ, उदय से मेरा सम्बन्ध मात्र मित्रता का है। हमारे और उनके बीच में एक कॉमन आधार है—लिखना। वे ज़रा पहले से इस लाइन में हैं, जमे हुए हैं और मुझे उनसे कुछ सीखना है, लेना है। मित्र के रूप में वे मेरे अध्ययन के ऑब्जैक्ट हैं, कहानी के विषय हैं। 'विषय' की तटस्थता और निर्लिप्तता से ही मुझे खतरनाक से खतरनाक क्षणों में उनका अध्ययन करना है। और यह भी तो अध्ययन का एक विषय ही है कि किन क्षणों में 'खतरा' आखिर किस सीमा तक बढ़ सकता है ? मुझे एक कहानी लिखनी है : एक लेखक है जो प्राप्त को स्वीकार नहीं कर सकता, अप्राप्य की ओर लपकता है। मरीचिकाओं की ओर भागने वाला व्यक्ति, किन-किन क्षणों में क्या-क्या कर सकता है···। दूसरी ओर इस अपर्णा का अध्ययन करना है···बस, अध्ययन करना है, लिखना है···निरीक्षण करना है···जीना कुछ नहीं है। कहीं भी अपने लिए कुछ नहीं करना। अपने को नहीं उलझाना···कहीं नहीं भरमाना···।

जाने क्या लिख रही थी। बीच में बात टूट गई। दूसरे कमरे में देर से टेलीफोन की घण्टी बज रही थी। मरीज़ की होगी किसी की। हालत ज्यादा खराब है। पापा, अक्का में से व्यर्थ ही किसी को उठना पड़ेगा; सोचकर मैं दौड़कर टेलीफोन उठाने गई थी अभी—"हलोऽ !"

झूमती-सी लड़खड़ाती आवाज़ आई—"हल्लो डार्लिंग !"

पहले तो मुझे केवल घण्टी से ऐसा लगा जैसे उदय हों। यह आवाज़ कोई और थी "कौन ?" मेरी भौंहें तन गई।

"जवानी की रातों में कहीं 'कौन' पूछा जाता है ?"

"तो अपनी माताजी को जगा लीजिए न।" कहकर मैंने ज़ोर से टेलीफोन रख दिया। कमरे से बाहर भुनभुनाती चली आई। "कम्बख्त, मवाली कहीं के।" चुपचाप लेटी, बड़ी देर तक अँधेरे में भरभराहट करते पंखों को देखती रही···और फिर तकिये पर माथा पटक-पटककर बिलख-बिलखकर रो पड़ी···। पता नहीं क्या छाती पर जम गया है कि बोझ से दिल डूबा जाता है। मुँह तकिये में गड़ा लिया कि आवाज़ न निकले और एक अजीब वहशीपने

से रोती रही···

खूब थक चुकने के बाद औंधी लेटी हुई 'सुजाता' को 'मैं' पलंग के सहारे खड़ी होकर प्यार से कंधे पर हाथ रखकर समझाती हूँ : "पगली रोती क्यों है ? यह रात-रात भर रोना, किस सम्पूर्णता से अपने रीतेपन को न भर पाने की पराजित स्वीकृति है ? बोल ? बोल ?—माँग क्या चाहती है ?"

'मैं कुछ नहीं चाहती सुजाता, मैं कुछ नही चाहती । मुझे बस रो लेने दे —रोने से बल मिलता है दिल हल्का होता है।'

कही दूर किसी मिल का भोंपू गूँजता है । अब लिखना बन्द करती हूँ··· नही तो फिर रो पड़ूँगी । दूध वाले और अखबार वाले घूमने लगे है ।

शुक्र : २८ जून

एक बार उदय ने कहा था : "सुजाता, तुम यह सब लिखना-लिखाना बन्द कर दो ।"

"क्यों ?" मैंने भौंहे तानकर पूछा । सुनकर आसमान से गिरी थी, मानो सारा स्वप्न-जाल छिन्न-भिन्न हो गया हो । अजब है यह मूर्ख भी ! और मुझे लगा जैसे यह व्यक्ति घोर ईर्ष्यालु है । मेरी श्रद्धा, मेरी आत्मीयता, और मेरे विश्वास को इसने इसलिए बटोरा था कि मुझे एकलव्य बनाकर मेरा अँगूठा माँग ले ?

"इसलिए कि मेरी समझ मे सफल लेखक के लिए दो बातो की बहुत जरूरत है और वह तुममे नही है। एक तो उसे निहायत क्रूर होना चाहिए···"

"क्रूर···?" वे जान-बूझकर मुझे प्रश्न करने का अवसर देने के लिए रुके थे ।

"हाँ, क्रूर ही मैं कह रहा हूँ । उसे क्रूरतापूर्वक अपने पात्रों और अपने अध्ययन के विषयों से तटस्थ रहना होगा । उसे हर समय सावधानी बरतनी होगी कि वह अपने विषयों या पात्रों के दु:ख-सुख, हास-परिहास और विलास-अवसाद से बिलकुल-बिलकुल तटस्थ और निर्लिप्त रहे, बहे नहीं । वह लेखक अधकचरा है जो जीवन में अपने विषय, और लेखन मे अपने पात्रो के 'दुर्भाग्य' और दु:खों को लेकर उफन उठता है, या रोने लगता है, तकदीर और नियति को गालियाँ देने लगता है और 'प्रकृति का यही नियम है' जैसे अर्थहीन

साहस बँधाता है…। यह रोने-हँसने का काम तो पाठक ही करेंगे, उसे तो चूहों, खरगोशों पर प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक की तरह भावहीन, जड़ और तटस्थ-क्रूर होना होगा…"

"अच्छा सा'ब, और ?" मैंने कहा। समझ में नहीं आ रहा था कि रो पड़ूँ या ठठाकर हँस पड़ूँ। भाड़ में जाये तुम्हारा लेखन और लेखक। सचमुच ये लेखक लोग भी बड़े अव्यावहारिक होते हैं। कब क्या, और कहाँ क्या कहना चाहिए, जैसे इसका ध्यान तो इन्हें होता ही नहीं। यह भी कोई वक़्त उपदेश देने का है ?

"और दूसरी बात यह कि उसे बहुत ही ईमानदार होना चाहिए।" उन्होंने इस तरह कहा जैसे पहली बात तो मात्र भूमिका थी, असली बात तो यही है। "उसे परिस्थितियों को ही नहीं, मनःस्थितियों को भी उतनी ही ईमानदारी से देखना होगा, रखना होगा। हम हिन्दुस्तान में खास तौर से जिस समाज में रहते हैं, उसमें ईमानदार होने के लिए, मैं मानता हूँ कि बहुत बड़े साहस की ज़रूरत है। लेकिन बेईमानी लेखन को गिरा देती है, खोखला कर देती है…"

"बेईमानी से आपका मतलब ?"

"आदर्श या किसी बाहरी अंकुश की झोंक में मानव-हृदय की सच्ची भावनाओं, अनुभूतियों और उनकी सम्भावनाओं को जान-बूझकर भुला देने को मैं बेईमानी मानता हूँ ! मान लो, इस समय मेरे मन में आ रहा है कि इस बग़ल में बैठी लड़की को अपनी बाँहों में इतनी ज़ोर से भींच लूँ कि इसकी सारी हड्डी-पसलियाँ चरमराकर पिस जायें, लेकिन इसी परिस्थिति को कहीं लिखते हुए लिखूँ कि 'उसके हृदय में उस समय बड़े ही आध्यात्मिक भाव उठ रहे थे। नीले सागर की परछाईं उसे उस वैदिक ऋषि की याद दिला रही थी जब इसी तरह वह खुले सागर के किनारे बैठा रहता होगा और अपनी प्रियतमा को उसने ऋग्वेद की पहली ऋचा सुनाई होगी…' इस तरह का झूठ जहाँ लेखक की ग़ैर-जानकारी और सीमा है, वहाँ तो उसे क्षमा किया जा सकता है; लेकिन जहाँ वह जान-बूझकर इन नक़ली बातों को गढ़ता है, नक़ली भावों का बखान करता है, वहाँ चमत्कृत हम भले हो लें; लेकिन प्रभावित नहीं होते। पुरुष हूँ, और बहुत ही ईमानदारी से कहूँ तो अपने सारे महापुरुषों के जीवन-चरित्र, ये सारी जीवनियाँ और आत्मकथाएँ, जिन्हें 'सत्य की खोज' और प्राप्ति के नामों के बिल्लों से सजाया गया है, मुझे निहायत नक़ली, झूठी और बेईमानी-भरी लगती हैं। शायद रसेल ने कहीं लिखा है कि कैसी विडम्बना है : व्यक्ति जब अपनी आत्म-कथा लिखता है तो अपने आपको बड़ा क्षुद्र और नग्न दिखाता है; लेकिन जब राष्ट्र अपनी

आत्म-कथा लिखने बैठता है तो अपने को सबसे महान् और श्रेष्ठ बतलाता है और दोनों झूठे हैं। इस चले आते झूठ के खिलाफ शायद सबसे सबल कदम रूसो ने अपने 'इकबाल' लिखकर उठाया था। लेकिन हमारे यहाँ, चूँकि जीवन के मान-मूल्य बहुत ही शाब्दिक, मिथ्या, खोखले और आडम्बरपूर्ण रहे हैं, इसलिए उसके लिए बहुत ही बड़े साहस और बहुत ही क्रूर ईमानदारी की ज़रूरत है। यहाँ तो आदमी को आदमी के रूप में लिया ही नहीं जाता, उसकी सारी प्रतिष्ठा या तो उसके बाहरी धार्मिक, नैतिक और सामाजिक ढकोसलों पर होती है, या सबके ऊपर धन पर। जब बार-बार सूत टूट जाने से चर्खों को उठाकर चूल्हे में झोंक देने की इच्छा मन में हो रही होती है, तब नेताजी मंच पर खड़े होकर चर्खे से प्राप्त आध्यत्मिक शान्ति के गुण गाते हैं। जब ज़ेवर, और नोटों को पी जाने की लालसा से खुद छटपटाते रहते हैं तब दूसरों को त्याग और तपस्या के उपदेश देते हैं, और जब औरत के अंग-अंग को भूखी निगाहों से भेद डालने की वासना भीतर साँप की तरह कुलबुला रही होती है तो ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन हो रहा होता है'''। और इसका नतीजा यह होता है कि इस धर्म-भमि भारत की किसी भी चीज पर हमारा विश्वास नही है। विदेशो मे आदमी को नापने के लिए धर्म और खाने-पीने-रहने के ढकोसले नही हैं। इसलिए हम खुद मानते है कि वहाँ का सामान्य आदमी यहाँ के साधारण आदमी से ज्यादा ईमानदार है, वहाँ की बनी चीज़ यहाँ की चीज़ से हर हालत मे बेहतर है। इतना तो कम-से-कम विश्वास होता है कि जो चीज़ हम खरीद रहे हैं वही हमे मिल रही है। यहाँ तो आप पेंसलीन खरीदने जाइये, और आपको विश्वास ही नही होगा कि आप शीशी मे दवा लाये है या शुद्ध गगा-जल! हम लोग कही भी तो ईमानदार नही हैं—झूठे, मक्कार, खोखले, कमज़ोर और कुन्द-ज़हन और बातें वेदों से कम की करना नही चाहते।"

मैं बुरी तरह ऊब उठी थी। बोली : "अब मेरी समझ मे आया कि लोग लेखकों से दोस्ती करने मे क्यों कतराते हैं? एक साँस मे इतना लम्बा लैक्चर? अरे भाई, कही तो इसे बीच मे तोडते? लिख दिया जावे तो पूरे दो पन्ने लें। हमारे लेखकों की यह भी एक बहुत बडी कमजोरी है कि ब्रेक लगाना ही नही जानते।" मैं झल्ला उठी थी—"इस सारे लैक्चर का मेरे लिखने से क्या सम्बन्ध?"

इस लड़की को बाँहों मे कसने की बात क्या बहाने से कही है, मैं क्या समझती नही हूँ?

"उसी पर आ रहा हूँ। मैं यह नही कहता कि हर पुरुष ढोंगी होता है या हर स्त्री दुराचारिणी होती है, और उसका कई-कई पुरुषों से सम्पर्क होता

है, लेकिन 'साध्वी' रूप में जानी जाने वाली स्त्री के मन का साहसपूर्वक किसी ने आज तक चित्रण किया है ? कब, कहाँ, कैसे वह अपने आपसे लड़ती है, अपने को कुचलती है, बहलाती है, या सन्तुष्ट करती है, और किस बाहरी-भीतरी मजबूरी में साध्वी या दुराचारिणी बनी रहती है, इसे स्वीकार करने का साहस तुम्हारी किसी साध्वी में है ? है कोई, जो साफ़ कह दे कि 'यह ढकोसला और ढोंग है, केवल कुछ बने-बनाये नियमों की वेदी पर मैं अपने जीवन को नहीं कुचल सकती।' जैसे आम और अमरूद फलों की दो जातियाँ हैं, उसी तरह हम यह मानकर चलते हैं कि साध्वी और दुराचारिणी औरतों की दो जातियाँ हैं। कैसे झूठे विभाजन किये गये हैं हमारे यहाँ सच ?" वे जैसे बिफर उठे। पहले तो शायद कुछ सँभले भी थे, लेकिन फिर उसी बहाव में आ गये—"और चूंकि औरत की स्थिति हमारे यहाँ बड़ी ही नाज़ुक है, इसलिए उसे ही सबसे ज्यादा अपने-आपसे झूठ बोलना पड़ता है। एक तो हमारे यहाँ नारी-लेखिकाएँ हैं ही नहीं, और जो हैं उनका लेखन ऐसा नक़ली, सतही और छिछला है जैसे वे सब ऊपर ही ऊपर हवा में तैर रही हों। मजबूरी यह है कि प्रेम के सिवा किसी और विषय पर बेचारी लिख नहीं सकतीं, और उसे भी बड़े डरते-डरते छूती हैं कि कहीं कुछ अति न हो जाय। कोई स्वयं उन पर न कहने लगे। भावुकता के शाब्दिक उफान, रोना-सिसकना, पूजा-आरती, त्याग और बलिदान—लीजिए साहब, 'आदर्श भारतीय नारी की गरिमा भी बची रही और कहानी भी बन गई। मैं पूछता हूँ कि इन्हें डॉक्टरों ने बताया है कि तुम कहानियाँ लिखो ? अरे, अपने स्कूल-कॉलेजों में बैठकर पढ़ो-पढ़ाओ, और कुशल गृहणियों और सफल माताओं के नमूने सामने रखो। है तुम्हारे पास इस्मत लतीफ़ और वर्जीनियाँ वुल्फ़ जैसी हिम्मती लेखिकाएँ ? हमारी लेखिका तो आज भी प्रसाद और शरत् की भावुकता और कविता या प्रेमचन्द की आदर्श नारियों की ही नक़ल करने में लगी हैं। कोई झाँसी की रानी बनाती है तो कोई सती सीता। मैं तो तुम्हें चैलेंज करता हूँ जब तक तुम कॉमन या सामान्य औरत को ईमानदारी से चित्रित करने का साहस नहीं दिखातीं, तब तक महान् नारी का निर्माण कर ही नहीं सकतीं।"

बात उदय की सच थी, यह मैंने महसूस किया। आज सचमुच मैं, अपनी घोर व्यक्तिगत आत्म-कथा लिखने बैठ जाऊँ, तो कब मैंने कैसा महसूस किया है, कब मेरे साथ क्या हुआ है उस सबको जानते हुए भी लिख सकूँगी ? कभी नहीं ! या तो उस प्रसंग को ही छोड़ दूंगी या कुछ-न-कुछ बदल दूंगी। अब इसी डायरी को ही लो, मैं क्या वाक़ई वही सब लिख पा रही हूँ जो अपने मन की आँखों के सामने देख रही हूँ ! पता नहीं कितनी बातें छोड़ती जा रही हूँ, सब

लिख दूंगी तो 'पढ़कर हाय, कोई क्या कहेगा।' और यह मेरी हालत उस समय है जब मैं महसूस करती हूँ कि यौवन का पहला ज्वार, उम्र का पहला आवेग—'फर्स्ट इम्पल्स ऑव् यूथ'—मैं पार कर आई हूँ और तटस्थ होकर अपने जीवन की कुछ बातों का विश्लेषण कर सकती हूँ।

उदय आगे कहे जा रहे थे: "तुम लोगों ने अपने आपको औरत की दृष्टि से लेना और देखना ही छोड़ दिया है। तुम्हारी क्या बात पुरुष को कितना खुश-नाखुश करेगी, बस यही एक निगाह तुम्हारे पास अपने आपको जाँचने की रह गई। पुरुष ने कहा, 'मुझे रिझाओ, नाचो, मेरी सोई वासना जगाओ कि मैं तुम्हें पाकर अपनी वासना तृप्त करूँ' और औरत नाच रही है, उसे रिझा और संतुष्ट कर रही है। कभी ऐसी स्थिति की कल्पना भी तुम कर सकती हो, कि औरत ने आगे बढ़कर कहा हो कि 'मेरे मन में नाचने की उमग है, मैं नाचूँगी, तुझे देखना होगा?' वह केवल प्रतिध्वनि या री-एक्ट कर सकती है, निष्क्रिय होकर क्रिया के आगे अपने को सौंप सकती है। क्रिया के लिए जो एक सहज इच्छा और स्वाभाविक स्फुरणा होती है, वह मानो उसके लिए वर्जनीय ही नहीं, नितान्त अप्राकृतिक बात हो। इसी तरह पुरुष ने कहा कि इसे 'शील' कहो, इसे 'सच्चरित्रता' मानो, यह 'शालीनता' के गुण हैं। और औरत, औरत न रहकर 'सती' बन रही है, 'शीलवती' और 'सच्चरित्र' बन रही है। जहाँ इस सबके लिए थोड़ा-बहुत विरोध या विद्रोह है वह भी बड़ा अजब है। जिनको वह बुरा-भला कहती है, जिनके खिलाफ विद्रोह करती है, उन्हीं लोगों से 'गुड-कण्डक्ट' का सार्टिफ़िकेट भी चाहती है। मैं मानता हूँ कि पुरुष द्वारा शासित समाज में अपनी सच्चरित्रता और नैतिकता के लिए पुरुष के ही मान-दण्ड मानने होंगे; लेकिन किसी भी स्तर पर वह उनकी आलोचना तो कर ही सकती है। तुम मुझे आज तक की लिखी किसी भी नारी की ऐसी रचना हिन्दुस्तान में बता दो जिसमें उसने नैतिकता और चरित्र की घिसी-पिटी मान्यताओं की आलोचना करके स्त्री की दृष्टि से इनको सही अर्थ देने की कोशिश की हो। वह या तो इसका हवाई विरोध करती है, या अन्धी नकल। इतनी कमज़ोर भूमियों पर खड़ी होकर क्या लिखोगी तुम लोग? अपने ही आदर्श रूप देखने का शौक है तो जैसे-जैसे रूप हम लोग दिखाते हैं, देखो और खुश रहो। पुरुष औरत को क्या बनाना चाहता है, या कैसा देखना चाहता है इसके लिए हमारे लेखन काफ़ी हैं।" इसके बाद कुछ देर चुप रहकर बोले थे—"जनाब, लिखना यों नहीं होता, इसके लिए बहुत विशाल हृदय और गैंडे की खाल चाहिए।"

मैं झल्ला उठी। बोली—"आपमें तो अच्छे-खासे नेता होने के गुण हैं, क्यों नहीं जेब में एक माइक रखते? जहाँ कहीं दो-चार आदमियों की भीड़ देखी, भाषण शुरू कर दिया।"

"सच इतना बुरा लगता है न?" वे हँस पड़े।

रविवार : ३० जून

लगता है, किसी की दो आँखें हैं, जो हमेशा मेरा पीछा करती रहती हैं। बाथ-रूम में होती हूँ और सहसा सकपका उठती हूँ—मानो खिड़की से कोई देख रहा हो। कहते हैं, दुर्वासा के पीछे एक बार विष्णु ने सुदर्शन-चक्र लगा दिया था और वे जहाँ-जहाँ जाते थे वह उनके पीछे चलता था।

चूँकि ऐसा भ्रम कई बार हो चुका था इसलिए पहले तो मैं आगे बढ़ती चली गयी; लेकिन फिर लगा जैसे कॉफ़ी हाउस में उदय ही बैठे थे। विश्वास और अविश्वास की ऐसी तीव्र अनुभूति उस समय हुई कि मैं आगे जाकर ठिठक गयी। यों समय साँझ का था; लेकिन बाहर अधिक रोशनी थी और भीतर कम। भीतर के आदमी को देखकर पहचानना मुश्किल था। तब तो उदय ने भी मुझे देखा ही होगा। एक मन हुआ, चलो, एक कप कॉफ़ी पी ली जाय। फिर सोचा, अच्छा देखें अगर उदय ही हुए, तो बुलाते हैं या नहीं। लेकिन उदय ही हैं, यही क्या ठीक है? तब भी देखूँ। तभी अपने कान के पास ही सुनाई दिया : "मैंने कहा, इतनी डूबकर बम्बई में चलोगी तो सीधी वैतरणी पार पहुँच जाओगी।"

मैंने चौंकने का भाव दिखाया—"अरे तु···आप उदयजी! यहाँ किधर से आ रहे हैं?" फिर कॉफ़ी हाउस की ओर इस तरह इशारा किया जैसे सहसा ही ध्यान आ गया हो—"ओह, माफ़ कीजिए आप लोगों का तो मन्दिर ही यहीं है। यहाँ न आयें तब तक खाना पचेगा कैसे?"

उदय आज बिलकुल बंगालियों की तरह गले में चादर डाले थे। चेहरे पर थकान और अस्त-व्यस्तता थी। हँसे—"अब नास्तिक लोगों को मन्दिर का महत्त्व कैसे समझाया जाय? पूना से आये, तो सोचा, जरा शान्ति से बैठकर एक कप कॉफ़ी ही पी ली जाय। चलो न तुम भी।"

मैंने घड़ी देखकर बहुत ही नम्रता से जवाब दिया, "इस समय तो बिलकुल भी इच्छा नहीं है। फिर कभी सही।" फिर बात को बदलने के लिहाज से

हँसकर कहा, "आप जैसे भक्तों के लिए मन्दिर होगा। मेरा तो इसमें जी घबराता है। मार दुनिया-भर की तो काँव-काँव मची रहती है। यह शान्ति की जगह होगी ?"

"अरे, अजब बात करती हैं आप भी। बम्बई में इससे ज्यादा शान्ति की जगह आपको मिलेगी कहाँ ? जहाँ बगल का आदमी आपकी बातों में क़तई दिलचस्पी न ले, आप मजे में घंटों बैठे रहे, और बैरा बार-बार आकर अपनी उपस्थिति मेज साफ कर-करके न बताये वर्ना जब तक जी हो, यहाँ कन्धे-से-कन्धा रगड़ते फ़ुटपाथ पर खड़े रहिए। सभी तो यहाँ शिवाजी पार्क मे रहते नही हैं, चार-चार कमरे लेकर। यहाँ तो एक-एक कमरे मे बीस-बीस आदमी हैं, आप किसको कहाँ घर बुलायेंगे यहाँ ? और हो सकता है दो दोस्त एक दूसरे से बीस मील की दूरी पर रहते हों तो और भी मुसीबत। वहाँ पहुँचते-पहुँचते ही दो घण्टे लग जायें। उसहालत में यही तो सबसे बीच की जगह है। आप लोग हमें बदनाम तो कर देते हैं, लेकिन कभी गम्भीरतापूर्वक इस मजबूरी को भी तो सोचिए कि बड़े शहरों के ये होटल और रेस्तराँ पनपते क्यो हैं ?"

मैंने जान-बूझकर जम्हाई लेकर परिहास से कहा—"भई, बोर हुए आपके इस भाषण से। यह भी कोई जगह है इसकी ? आते-जाते लोग क्या सोचेंगे ?" फिर कलाई घड़ी देखकर बोली—"अच्छा, हम चले, आप अपने इस एकान्त-मन्दिर मे साधना कीजिए।"

वे खिसियाकर बोले—"बडी दुष्ट होती जा रही हो।"

मन बेबस खिलकर पुलक उठा और फिर सहसा ही उदास हो आया। अनजाने ही फ़ुटपाथ के आने जाने वालों के धक्कों से बचने को हम लोग दीवार की ओर खिसक आये थे। वे अपनी भूल स्वीकार करके आत्मीयता से बोले—"अच्छा, जाना कहाँ है ?" फिर जबाब देने की फ़ुरसत न देकर कहा : "तब फिर चलिए आप। क्यों देर कर रही है ? आपको प्रिन्सेस से भी मिलने जाना होगा न ? हमारे भी दोस्त कहेगे कि कहाँ मर गया ?"

गहरी साँस लेकर मैंने मजबूरी मे दोनों कन्धे उचका दिये और उद्धत दृढ़ता से बोली, "जी हाँ, जाना तो प्रिन्सेस के ही यहाँ है। आप चलेंगे क्या ?" फिर दाँत पीसकर कहा, "आप लोगो का दिमाग तीन ही खराब हो गया है ? एक वह है रेखा, जब देखो तब प्रिंसेस। कही से आई, कही गयी, बस प्रिंसेस के यहाँ से आ रही हो ? प्रिंसेस के यहाँ गई थी ? जैसे प्रिंसेस न हो गई, जुए का अड्डा हो गयी, जहाँ हमे नही जाना चाहिए, लेकिन जाते हैं। अरे, किसी की चोरी है ? खूब जायेंगे।"

इस बार वे जम्हाई लेकर बोले : "भई, बोर हुए इस लैक्चर से।" और हम दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े। लेकिन जब ध्यान आया कि फ़ुटपाथ पर खड़े होकर हँस रहे हैं और एक-आध सिर को अपनी तरफ़ घूमकर ताकते भी पाया तो सहसा ही मैं संकोच से पानी-पानी हो आई। हाय, कोई देखे तो क्या कहे ? कैसे बेशर्म हैं। कोई जान-पहचान का ही देख ले। संकोच शायद कुछ उन्हें भी इस तरह का महसूस हुआ, पर मेरी दुविधा को पकड़कर बोले, "इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भीतर चलकर बैठें। बम्बई और कलकत्ते में तो लोग हँसना इसी तरह भूल जाते हैं कि कोई हँसे तो लोग आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगते हैं। मानो कहते हैं, 'यह कौन गद्दार है जो यहाँ रहकर भी हँस रहा है !' " और इसी जॉली मूड में जैसे सारी हिचक और झिझक को तोड़कर उन्होंने अपना हाथ मेरे कन्धे पर रख दिया, "आओ, चलो, रानी बेटियों की तरह कहना मानो, एक कप कॉफ़ी पियो और तब प्रिन्सेस के यहाँ का साइडर पीना।"

और इस सबके बावजूद मेरे मन में आया कि कन्धा झटककर हाथ हटा दूँ। भरे बाज़ार में मैं इतनी लिबर्टी देने को तैयार नहीं हूँ, साथ ही उनके हाथ रखने के ढंग पर मन ही मन हँसी भी आई। यह इस बात का प्रमाण भी था कि वे खुद भी कॉन्शस हो गये हैं : मानो ज़्यादा देर तक हाथ रखेंगे, तो जल जायेगा। हाथ अब तक ढीला होते-होते हट गया था। जिस बेचारे के मन की खुद ही यह हालत हो, उसे मैं क्या कहूँ ? इस चेतना से मन को आश्वासन भी मिला कि इस स्थिति में भी जब मैं उनके हाथ हटाने की बात या उनकी मानसिक स्थिति का विश्लेषण कर सकती हूँ तो मैं निश्चय ही भावुक नहीं हूँ। और जब मैं भावुक नहीं हूँ तो ये 'खतरे' मेरा क्या बिगाड़ेंगे ? ज़रा इन्हें दू-बदू देख ही लेने में क्या हर्ज है ? तभी एक अज्ञात-सा भय उभरा—कहीं अपने ही जाल में फँस गई तो ?—हुँह···मैंने मचलकर कहा, "नहीं, वहाँ जाने को हमारा मन नहीं करता।"

वे जैसे कुछ सोचकर सामने के बड़े-से विज्ञापन पर निगाहें टिकाये आज्ञा देने के स्वर में बोले, "अच्छा तो सुनो, आज आप अपनी प्रिन्सेस के यहाँ नहीं जायेंगी। मैं भी बहुत थक गया हूँ। पूना में कम्बख्तों ने धूप में न जाने कहाँ-कहाँ घसीटा है। हम लोग ज़रा मैरीन-ड्राइव पर बैठेंगे, आप 'इरोज़' के नीचे मिलिए। मैं आता हूँ।"

इरोज़ के नीचे खड़े हुए मुझे बड़ा अजब-अजब लग रहा था। यों शुरू

हो चुका था और भीड कम थी। एक-आध कोई हड़बड़ाती टैक्सी या प्राइवेट गाड़ी आती और फुर्तीले क़दम सीढ़ियाँ चढ़ते भीतर की ओर दौड़ पड़ते। पीले-पीले सीमेण्ट के फर्श पर गहरी लाइनों से खिंचे चारखाने के टाइल्स मैं कई बार गिन चुकी थी। अपने को व्यस्त दिखाने के लिए, आ रहे या चलने वाले पिक्चर की तस्वीरें शो-केसों से काफी गौर से देखती रही। फिर सूनी-सूनी आँखों से चर्च गेट स्टेशन में आने-जाने वाले लोगो, गाड़ियों और बीच में खड़े सिपाही की कवायद मे मन उलझाये रही। ऊपर लम्बा-चौड़ा साबुन का नियॉन-विज्ञापन आँखें मिचका रहा था। दूर और पास की यह सारी चहल-पहल बड़ी सपनीली-सी लग रही थी। लेकिन जलती हुई रोशनियाँ अभी काफ़ी धुँधली थीं। बगल से डूबती किरणों की निस्तेज-सी रोशनी बैंगनी आसमान मे घुलती जा रही थी। इस बार प्रिन्सेस का नाम सुनकर मैं सचमुच कोई कड़ी बात कहने वाली थी कि उनकी अधिकारपूर्ण ध्वनि ने सारा ध्यान अपनी ओर खींच लिया, 'अरे, यह तो हुक्म देने लगा।' अपने आप से स्पष्ट ही यह शब्द कहते हुए भी, कही भीतर यह विभोर भाव उठ आया—जाने कितने दिनों बाद, कितने दिनो बाद ऐसी अधिकारपूर्ण वाणी सुनाई पड रही है। लेकिन मैं शायद इतनी तैयार नही थी कि इस वाणी को उदय की ओर से सुनूं . नहीं, यह स्वर बस एक का ही अधिकार था—अब किसी का नहीं लेकिन कही से भी आया हो, यह स्वर मुझे आत्म-समर्पण के लिए मजबूर कर देता है। मैंने एकदम कहा था, "अरे वाह, जैसे हमे कुछ काम ही नहीं है। यों ही भटकने के लिए पैदा हुए हैं।"

"हाँ-हाँ, हमें पता है।" जाते-जाते वे कह गए थे। ऐसे अधिकारपूर्ण स्वर मे तो अक्सर तेज कहा करता था, "सज्जी, जब तक मैं नही आऊँगा, तब तक तुम खाना नही खाओगी…समझी ?" और मैं भी थी कि सामने लाख लडती, लाख विरोध करती, ठीक वही करने की धमकी देती, जिसे वह न चाहता; लेकिन ऐन मौके पर पता नही मन अपने आपको किस तरह समझा लेता था कि मैं उसकी इच्छा ही कर डालती। कैसा अद्भुत रस था उस समर्पण मे!

मैट्रिक के पर्चे हो रहे थे, स्कूल के बाहर निकली तो देखा, तेज नहीं था। पर्चा अच्छा हुआ था। भीतर से बडी खुश आई थी, बाहर आकर गुम हो गयी। जैसे-तैसे घर आयी। कदम रखा ही था कि हांफता, साइकिल दौडाता तेज उसी वक्त आया—"तुझसे जरा-सा रुका नहीं गया ? मुझे देर हो गयी, तो आप जनाब चली आयी। कैसा हुआ पर्चा ?" और मैं थी कि मुँह फुलाये भीतर आयी। पलँग पर फूट-फूटकर रोने लगी। उसने सोचा,

खराब हो गया, खूब समझाया-बुझाया—"कोई बात नहीं, ऐसा तो होता ही रहता है। कल का पेपर अच्छा कर लेना। डिवीजन न आये तो न सही, अगले भी तो चलारा हैं।" जब तेज ने यही समझाया तो कैसी कटखनी कुतिया की तरह मैंने कहा था (आज भी मुझे खुद अपनी वह सूरत दिखाई दे रही है)—"भाग जाओ तुम यहां से। बड़े आये अब हमदर्दी दिखाने, स्कूल तक तो पहुंचा नहीं जाता और हमें समझा रहे हैं।" कितने हाथ-पांव जोड़े थे बेचारे ने! मैंने दुष्टता से कहा था, "अच्छा, कल से तुम स्कूल के दरवाजे पर नहीं, चौराहे पर खड़े मिलोगे, समझे। यही तुम्हारी सजा है।" मई का महीना शुरू हो चुका था। घर आते-आते शरीर पसीने से तर-बतर हो जाता था, आंखों के आगे लाल-लाल तिरमिरे नाचने लगते थे। लेकिन तेज था कि दूसरे दिन चौराहे पर खड़ा मिला। उस दिन मैं जान-बूझकर दूसरी लड़की से सवालों पर बहस करती रही। दस मिनट देर से पहुंची। तप रहे थे श्रीमानजी। वे भी क्या अजीब दिन थे—एक दूसरे पर अधिकार जताने के! खुश हो गये तो ऐसे खुश कि अपना सब कुछ दे डालें, और नाराज हुए तो ऐसे नाराज कि रो-रोकर ढेर कर दें, जनम-जनम के सम्बन्ध तोड़ लें। आज यह सब किससे कहूँ? कहूँ भी तो अच्छा लगेगा? मन पर जैसे क़फ़न पड़ गया है।

अरे, बड़ी देर कर दी उदय ने। आते-जाते लोगों की अजब निगाहें देख-देखकर खुद ऐसा लगने लगा कि यहां खड़े रहना अच्छा नहीं है। लोग क्या सोचते होंगे? ऐसे ही तो खड़ी रहती हैं लड़कियां जगह-जगह यहां···? ये लड़कियां भी क्या सोचती होंगी? ऐसी किसी लड़की से दोस्ती करके देखी जाय। पर कम्बख्त कहीं ऐसी-वैसी जगह ले जाकर फँसा न दे। 'बम्बइया' सिनेमाओं पर विश्वास किया जाये तो ऐसी हर लड़की का सम्बन्ध किसी न किसी पिस्तौलबाज दल से होता है। तभी जाने कैसे ध्यान आया कि चेहरे पर चौड़े पट्टे जैसे हरे गॉगल्स चढ़ाये, 'सुएड' के लाल-सफेद भारी जूतों को मच-मचाते एक साहब मेरे आसपास मँडरा रहे हैं। छाता लगाये रेत पर पड़ी नंगी ऐक्ट्रेस को हाथ पकड़कर खींचते हुए किसी अभिनेता की रामनामी डिजाइन वाली ढीली-ढाली बुश्शर्ट उनके शरीर पर थी। कभी इधर आ जाते हैं कभी उधर। कभी जूतों के बल टांगों को इस तरह लचकाते हैं, मानों तख्ते के पुल पर खड़े होकर उसकी मजबूती देख रहे हैं। सिगरेट मुंह तक लाकर वे जिस ढंग से मुझे देखते थे, उससे मेरा रेशा-रेशा सिहरकर झनझना उठता और जैसे ध्यान बँटाने के लिए मैं दूसरी ओर देखने लगती। बार-बार अपनी घड़ी देखती, ताकि वे समझ लें कि मैं 'यों ही' नहीं हूँ, किसी की प्रतीक्षा कर रही हूँ। बड़ी

देर कर दी, जाऊँ ? मैं भी अजीब बुद्‌धू की तरह खड़ी हूँ। अरे, अपने काम से लगूँ। पर हो सकता है, मेरे जाने के एक मिनट बाद ही आ टपकें। अच्छा अब बजा है छह-छब्बीस। अगर पाँच मिनट और नहीं आये तो चली जाऊँगी। (वैसे मैंने यह समय छह-पन्द्रह से बढ़ाकर बीस तक कर लिया था) इस प्रतीक्षा के बीच में भी वे सारे वाक्य मेरे दिमाग में उमड़े आ रहे थे, जिसमें मैं इन साहब का वर्णन उदय से करने वाली थी।

आस-पास से कोई भी लम्बी-सी खूबसूरत गाड़ी जाती, तो मेरा ध्यान उधर चला जाता। ओवेल-ग्राउण्ड से म्यूज़ियम तक मैं उधर ही देखती रहती। कहीं अपर्णाजी तो नहीं जा रही ? यह तो उनका रास्ता भी है। आते-जाते जरूर गुज़रती होंगी। कहीं मुझे इस तरह खड़े देख लेंगी तो क्या सोचेंगी···? किस तरह खड़ी थी। कैसा मज़ा आये, उदय उधर से आयें और इधर से ठीक मेरे सामने अपर्णा की लम्बी खुले हुडवाली क्रीम-कलर गाड़ी आकर खड़ी हो जाय। रौब पड़ जायेगा। लेखक होने की धुन में अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। मैं भी ऐसी चीज़ दिखाऊँगी लिखकर कि आँखें खुली रह जायेंगी।

उँह, यह साढ़े छह बज रहे हैं। अभी तक कोई पता नहीं। इसके बाद दो मिनट तक और राह देखूँगी। नहीं आयें, तो जायें भाड़ में। अरे, हाँ। यही तो एक काम नहीं है···

अब तो जैसे मैं टूटकर दो हो गई हूँ। न जाने कैसा एक अदृश्य अंकुश है, जो मेरे हर हँसने-बोलने की गर्दन पर लगा है। मेरा एक टुकड़ा हँसता है, तो गम्भीर और मनहूस सूरत बनाये दूसरा टुकड़ा दूर से कहता है, "इस तरह मत हँस, कोई क्या कहेगा !" रोती हूँ तो दूसरा टुकड़ा हँसता है, "बेवकूफ, बच्चों की तरह रोती है !" बातें करती हूँ तो भीतर से कोई ज़बान रोक लेता है, "बस, बहुत हो गई। अब क्या बक-बक ही किये जायगी ?" चुप हो जाती हूँ तो लगता है जैसे यह चुप्पी मुझे बूँद-बूँद करके पी जायगी। और तब कोई उकसाता है—"कुछ हँस-बोल न, मर जायगी पागल होकर··" क्या सचमुच तेज ने ही मुझे तोड़ दिया है ? लेकिन अभी तक तो मुझे इन टुकड़ों का कोई ज्ञान ही नहीं था। लगता है, जैसे मैं अपने व्यक्तित्व को नये सिरे बनाने बैठी हूँ, तो पाती हूँ कि वह टुकड़े में बिखरा है। हर टुकड़ा जैसे एक दूसरे से लड़ता है, एक-दूसरे की चुगली करता है। यह एहसास कभी-कभी मन को बहुत बेचैन कर देता है···।

"बोलो, सिनेमा चलोगी ?" चौंककर मैंने अपने कन्धे के पास ही

स्वर सुना तो झल्लाकर बोली, "एक तो यहाँ खड़े-खड़े पाँव टूट गये, अब क्या, घर जाकर मार खानी है ?"

"पहले मेरी बात का जवाब दो।" उदय ने बड़ी मजबूरी और प्रार्थना से कहा—"क्या करूँ, पीछा छुड़ाते-छुड़ाते मुझे इतना समय लग गया। सचमुच सिनेमा चलो, देखें।"

अरे, अभी तक इस पर मेरा ध्यान भी नहीं गया कि खेल कौन-सा चल रहा है ? सिर्फ़ तस्वीरें देखीं और अक्षर पढ़े। अर्थ समझने की कोशिश ही नहीं की। हँसकर, बोली "भैया, भले आदमियों की तरह बम्बई में रहने दो, या एकदम आवारा बनाकर ही छोड़ोगे ?"

"मैं कहता हूँ, इन राजा-रानियों के साथ कमरों में बैठकर ही तुम कहानी-लेखिका बन जाओगी ? दुनिया देखो, दुनिया। और दुनिया बिना आवारा बने दीखती नहीं।" और अनजान रूप से ही हम लोग मैरिन ड्राइव की ओर चल पड़े। मेरे कहने के ढंग से उनके चेहरे पर हँसी झलक आई। सामने तेज़ी से साँवले पड़ते क्षितिज में सूरज का निस्तेज गोला आधा डूब चुका था। ऐसा लगता था जैसे सागर की लहरों के साथ उछल रहा हो। दोनों ओर की बिल्डिंगों की ऊपरी मंजिलों वाली खिड़कियों के काँच हल्की धूप में झलमला रहे थे। बिजली के तार और कारों की पीठें खिलक रही थीं। गाड़ियों और लोगों की इतनी हलचल के बावजूद सड़क ऐसी चमक रही थी जैसे बिल्कुल सुनसान हो।

"आवारा बनाने के लिए और लोग नहीं रह गये ?" फ़ुटपाथ की भीड़ से बचते हुए हम लोग चल रहे थे, तब मैं बोली। सामने के होटलों और रेस्तराओं की चहल-पहल बढ़ गई थी। मैंने कनखियों से उनकी ओर देखा। सामने की सिन्दूरी आभा में साँवला चेहरा खिला था। पतले होंठ इस तरह चिपके थे जैसे बोलना जानते ही न हों···मैं उन्हें उनकी स्थिति की याद दिला देना चाहती थी।

"जी नहीं, मुझे आपको आवारा बनाने का क़तई शौक़ नहीं है।" तपाक से वे बोले। स्थिति की याद मैंने दिलाई थी, सफ़ाई उन्होंने कर दी। उनके लहजे में ऐसी नोंचती ध्वनि थी, मानो कहना चाहते हों, मैं तुम्हें क़तई इस लायक़ नहीं समझता ! और शायद इस प्रहार की कटुता को धोने के लिए ही उन्होंने अपना अगला वाक्य मज़ाक़ बना दिया—"आवारा बनना कोई आसान है ? बहुत बड़े साहस की ज़रूरत है जनाब। ढाई-अक्षरी मन्त्र का जाप करना पड़ता है, तब कबीर की तरह बोलने की हिम्मत आती है—'कबिरा

खड़ा बजार मे लिये लुकाठी हाथ। जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।' सोलोमन का गीत सुना है 'लव हैज़मेड अॅजिप्सी आउट ऑफ मी'…"

मैंने एकदम बात बदल दी—"आपकी अपर्णा बहन जी का क्या समाचार है ?"

"तो आपका मतलब है उसे आवारा बना दिया जाय, क्यो ?" वे हँस पड़े, "बड़ी जल्दी बदला चुकाया है। वे आवारा बनें, और उनके पतिदेव सिर घुटाकर साधु। मज़ा तो सचमुच बड़ा आये।"

मुझसे नहीं रहा गया, "आप भी सच, अच्छे-खासे बोर है। अब घसीटे जा रहे हैं एक ही बात को। अरे, कोई नई बात करो, भाई। हमने अपर्णा बहन की बात पूछी थी, सो टाल गये। आपकी श्रीमती रजनी कैसी हैं ? किसी और नयी लड़की-वड़की से दोस्ती हुई ?"

"वह सब तो चलता ही रहता है।" वे सहसा हतप्रभ हो गये। सामने से नाइलोन की एकदम पारदर्शी गहरी गुलाबी साडी पहने एक महिला चली आ रही थी। साडी के पार शॉर्ट और लो-कट ब्लाउज से झांकती कमर की चौड़ी पट्टी और खुले कन्धे सहसा ही उधर ध्यान खीच लेते थे। सफेद साटन का पेटीकोट घुटनों से नीचे पिण्डलियो तक ही जाकर समाप्त हो गया था। अजब भोंडी लग रही थी। साडी गोरे पाँवो मे सुर्ख सैण्डल, गले मे गोल-गोल प्लास्टिक मोतियो की माला और होठो पर लिपस्टिक, कानो में चमचमाते बाले और 'पोनीज़ टेल' चोटी, जिसे वे झटके से गर्दन मोडकर कभी इधर और कभी उधर हिला रही थी। केवल दो पतली तनियो से लटका स्कर्ट पहने एक प्रौढ़ा विदेशी महिला उनके साथ थी। उनसे ये अपनी सुती-सुन्दर उँगलियाँ उठा-उठाकर अत्यन्त व्यस्तता से बातें करती चली आ रही थी। एक हाथ से उन्होने पर्स के साथ ही साडी की अगली वाली पटलियो को बड़े अन्दाज से (ताकि उनकी पाँचो उँगलियो के पालिश लगे नाखून दीखते रहे,) उठा रखा था, फिर भी वह धरती पर घिसटती चली आ रही थी।

जब वे गुजर गई तो उदय ने कहा, "आपकी प्रिन्सेस तो नहीं थी ?"

"हिश्ट, बदतमीज़।"

"अच्छा बताइए, क्या इरादा है ? कितने नम्बर दे दिये जायें ?"

"आप लोग भी, सच, बहुत बेहूदे होते हैं।" मैंने झेंपकर कहा।

"जी हाँ, बेहूदे भी हम ही हुए ?—और जो जा रही थी वे क्या थी ?"

"आपको मतलब ? अरे, यह तो सड़क है, जिसका जी चाहे चलेगा। आप लोग क्यों ताकते है ?" मैं जानती थी कि मेरा तर्क लचर है। सिनेमा के नीचे

खड़े हुए आदमी का चेहरा सामने घूम गया।

"मेरा तो मन हुआ कि निहायत अदब से जाकर उनसे प्रार्थना करूँ—'हे उर्वशी, बेकार ही क्यों आपने यह साड़ी का तोले भर का बोझ अपने फूल जैसे शरीर पर लाद रखा है ? उसे भी घर ही छोड़ आतीं तो पतिदेव तह करके रख देते। यहाँ वालों को इसके रहने न रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता।" उदय के स्वर में व्यंग्य था—"अच्छा, हम लोग उन्हें देखें तो कोई बात नहीं, लेकिन तुम्हें इतने ग़ौर से ताकने की क्या जरूरत ? तुम लड़कियों का दिमाग़ भी चर्खा होता है। मेरे पास से एकदम नये मॉडल की चमचमाती गाड़ी गुज़रे और मेरी उधर आँख भी न उठे, यह कैसे···"

मैंने बात काट दी—"अरे छोड़िए, मन के पाप को यों तर्कों में मत उलझाइए। बड़े-बड़े धर्मात्मा-महात्मा दीखने वाले पुरुष भीतर से क्या हैं, यह हमसे छिपा है ? आप लोग चाहे एक-दूसरे को खुदा समझें; लेकिन असलियत तो हमारे ही सामने खुलती है। या तो एक मिनट में खाल उतारकर अपना असली चेहरा दिखा देते हैं या ज़रूरत से ज़्यादा सावधानी से खाल को खींच-खींचकर लपेटे रहते हैं, तब अपने-आप पता चल जाता है कि भीतर कुछ ऐसा है जिसे छिपाने की ये सारी चेष्टाएँ हैं।" मुझे फिर ध्यान आगया कि बग़ल से गुज़रती गाड़ियों में कोई अपर्णा की भी हो सकती है।

"अच्छा भाई, गलती हुई, अब आगे से नहीं देखेंगे। चाहे कैसी भी गाडी बग़ल से क्यों न निकल जाय।"

सामने 'टी' की शक्ल का तिराहा था। सिपाही ने हाथ दिया, और दौड़ती हुई लम्बी-सी कार खच्च से झकोले खाकर रुकी ही थी कि पीछे वाली गाड़ी का मडगार्ड, इसकी लम्बी-सी पिछली बत्ती से जा भिड़ा। 'ख-न्-न्' करके काँच के टुकड़े सड़क पर खीलों की तरह बिखर गये···मैंने एकदम चौंककर इस तरह देखा, कहीं अपर्णा की गाड़ी से ही तो ऐक्सीडेण्ट नहीं हो गया। ट्रैफिक का सिपाही और कुछ लोग उधर लपके, लेकिन उदय ने निहायत ही निश्चिन्त तटस्थता से कहा, "लीजिए, है न मुसीबत ? इन गाड़ियों को न देखो तो आपस में ही टकराती हैं।"

इस क्षण भी इतना निरुद्विग्न मजाक ! क्रोध और भय से मैं रोमांचित हो आयी।

अँधेरा गहरा आया था। हम लोग नरीमान पॉयण्ट पर बैठे थे।

"एक बात पूछूँ सुजाता, सच बताओगी ?" रोशनी और अँधेरे से चितकबरी, मरोड़ खाती लहरों को अपलक ताकते, वे निहायत तटस्थ की

तरह बोले।

मैं भीतर से कांप उठी। पता नही क्या पूछें ? वैसे इन शब्दों मे पूछा जाने वाला पुरुषों का एक ही प्रश्न होता है कि तुमने कभी प्यार किया है ? फिर भी अनजान बनकर सामने की गीली-गीली ठंडी हवा को पीती रही। मेरा रोम-रोम जैसे उनकी हर गतिविधि को लक्ष्य कर रहा था। लेकिन उनके प्रश्न पर मैंने इस तरह चौंकने का भाव दिखाया, मानो अभी तक जाने कहाँ दूर खोयी हुई थी। मुँह उनकी ओर घुमाया। ज्यादा से ज्यादा हमारे चेहरों की दूरी एक फ़ुट होगी—मैंने सोचा। कहा, "बताने लायक होगी तो सच बताऊँगी।"

"बिलकुल ?"

"बिलकुल ! पर आप बात तो पूछिए···" मुझे चिनचिनाहट छूटने लगी। उत्सुकता को ज्यादा बढ़ाना मुझसे सहन नहीं होता। मैं रीढ की हड्डी तानकर बात सुनने को तैयार हुई।

"देखो, सस्कारो से हटकर बात कहना। दूसरों की सुनी-सुनायी बात मत कहना।" उनके स्वर में इस बार कोई व्यंग्य नही था—"अच्छा, हम लोग, यानी पुरुष, जब तुम्हे अर्थात् नारी को सडको पर, ट्रामों या जहाँ-तहाँ भूखी या प्रशंसा भरी निगाहो से देखते हैं तो सचमुच तुम्हे बुरा लगता है ? उन विज्ञापनो को देखकर तुम्हे कैसा लगता है, जिनमे नारी-शरीर के साथ मनमानी की जाती है।"

मन में तो आया कि कह दू कि नही जी, बुरा काहे को लगेगा ? हमें तो बड़ी ख़ुशी होती है कि पुरुषों की चेतना पर यो हर समय, हमारा ही राज्य है। पर वातावरण व्यंग्य का नही था। एकदम गहरी साँस निकल गयी—क्या पूछा है ! मैं तो समझी जाने क्या पूछेंगे। बोली—"देखिए, आपके प्रश्न के दो रूप हैं। विज्ञापनो का जो आज रूप है वह नारी के अपमान के अलावा कुछ नही है। कुत्सित वासनाओं के ऐसे खुले प्रदर्शन की आज्ञा देना, असभ्यता है। पश्चिमी सभ्यता की एक बार किसी रूसी ने व्याख्या की थी कि 'यह पुरुषो को अधिक से अधिक कपड़ो से लादने और स्त्री को अधिक से अधिक नगा करने की सभ्यता है—' अब रहा देखने का सो प्रशसा किसी को भी बुरी नहीं लगती, मगर यों घुग्घुओं की तरह घूरे चले जाना अच्छी लगने की बात है ?"

और फिर वे बैठे-बैठे जाने क्या-क्या बोलते रहे। मैं जैसे बडी ऊपरी चेतना से हाँ-हूँ करती रही। भीतरी सतहो मे झुकते अँधियारे के साथ पता

नहीं कैसी एक उदासी और विपण्णता घिरती चली आ रही थी। हम लोग पश्चिम की ओर मुँह किये पांव लटकाये किनारे पर बैठे थे। नीचे पत्थरों के ढोकों पर लहर ज़ोर से आकर थपेड़े मारती तो फुहार उछलकर कभी होठों और कभी गालों पर आ पड़ती। अँधेरे में मचलता चंचल काला-काला पानी मन के भीतर ऐंठती किसी अज्ञेय, अनजान व्यथा-सा लगता था। दाहिनी ओर मैरिन ड्राइव की चन्द्राकार दीपमालाएँ चली गयी थीं। इमारतों की दीवारों पर चारखानों जैसी कढ़ी खिड़कियों के पार से आती रोशनी, कटावदार जाली का भ्रम पैदा कर रही थी। मैं मन-ही-मन अपर्णा जी की विल्डिंग पहचानने की कोशिश में थी।

मेरी वात पर उन्होंने कुछ नहीं कहा; लेकिन साफ़ लगा सहमत नहीं थे। अपर्णा का फ़्लैट अभी तक पहचानने में नहीं आ रहा था। बड़ी झुंझलाहट हो रही थी कि मैंने आस-पास की किसी ऐसी चीज को क्यों नहीं पहचान लिया कि इस समय आसानी रहती। जैसे किसी चीज़ को याद करने की कोशिश करो और वह ज़वान पर आ-आकर फिसल जाय। दूर चौपाटी का आसमानी-नियोन-लाइट का चक्र ऊपर घूम रहा था, फिर मलावार हिल की ऊपर चढ़ती चली जाती रोशनी थी, जैसे किसी ने रोशनी के फूलों का वना धनुप प्रत्यञ्चा खींचकर ज्यों का त्यों रहने दिया हो। सारी सड़क और रोशनियों की घूमती लाइन ऐसा ही प्रभाव मन पर छोड़ती थी—खिंचा हुआ पुष्प-धनुप। मन में अजव खिंचावट-सी होती थी—यह सस्पेन्स की स्थिति कव तक चलती रहेगी? क्यों नहीं कोई या तो इसे छोड़ देता या भरपूर खींचकर तीर को जाने देता कि सनसनाता हुआ लक्ष्य में सारी शक्ति से गर्दन तक खुभ जाय। और यह खिंचावट की स्थिति मुझे ऐसी लगती जैसे वह तीर मेरे मन के ही स्तर-स्तर पार करता धीरे-धीरे खुभ रहा है। एक दर्द की तड़प के साथ हर अगला स्तर आशंका से सिहर उठता है कि इस वार उसका नम्वर है। सामने इधर-उधर सरकती रोशनियों से लगता था कि जुगनुओं की तरह डोंगियाँ चल-फिर रही हैं: ऐसे में भी ये लोग सागर पर घूमते हैं? इन्हें डर नहीं लगता? पीछे चलती गाड़ियों के हॉर्न, लोगों का गुज़रता वार्तालाप, क़हक़हे, फेरी वालों की आवाज़ें, खुशवुओं के झूमते वादल···वह चेतना के भीतरी और वाहरी स्तरों पर भटकने की वेचैनी···

जव उनकी वात खत्म हुई तो मैं जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ी। मेरी हँसी की आवाज़ आगे-पीछे कहाँ तक गयी होगी, क्या प्रतिक्रिया उसने पैदा की होगी यह भी मुझे ध्यान था। और उसी हँसी के आवेग में आगे झुक गई।

जब हँसी थमी तो बड़ी कठिनाई से कहा, "इसे कहते हैं कि आदमी में अकल हो तो क्या नहीं कर सकता ! मैंने तो जरा आपको उन परी-साहिबा को देखने नहीं दिया और आप हैं कि उसी को घोटे जा रहे हैं। मैं तो, सच, उस बात को बिलकुल ही भूल चुकी थी। अच्छा बाबा, अब माने लेती हूँ कि पुरुष की प्रशंसा-भरी निगाहों और हसरत-भरी आँखों से हर औरत के भीतर की नारी को एक स्वर्गीय गुदगुदी और आह्लाद मिलता है, वह उमँग उठती है; लेकिन बाहर का खयाल करके वह उसे कुचलकर होंठ कसकर दूसरी ओर देखती चली जाती है। बोलो, अब तो खुश ?"

आदमी बड़ा झक्की है। ठीक है, कोई ऐसा भी क्षण होना चाहिए, जब आदमी ईमानदार हो, सच बोले, जब अपने निर्व्याज रूप में सामने आये, लेकिन ऐसा आश्वासन मैंने आपको कब दिया कि आप ही वह व्यक्ति हैं या आपके साथ ही वह क्षण आयेगा ? जम्हाई लेकर मैंने अपने दोनों हाथ पीछे टिका दिये और काले-काले आसमान पर दो-एक तारों को टटोलती-सी बोली—"आज क्या आपके दोस्तो ने आपको बोलने नहीं दिया दिन-भर ?"

"क्यों ?" बड़ी आत्मीय जिज्ञासा से उन्होंने मेरे पास ही मुँह लाकर पूछा।

"तभी तो आज बे-मौके यह भाषण पिलाया जा रहा है। आप क्या हर बार यह सोच लेते हैं कि इस बार यह बात करके बोर करना है ?"

"दुष्ट !" और उन्होंने अपने कन्धे से मेरा कन्धा टकरा दिया फिर पीठ पर हाथ रख दिया। रूठना खत्म हो गया। मेरे शरीर का जैसे तार-तार झनझना उठा। साथ ही अपने इस झनझनाने पर खुद ही विस्मय भी हुआ, जैसे मेरे बावजूद ऐसा हुआ हो। हाथ वहीं रखा रहा, और ब्लाउज के कपड़े के पार उनकी उँगलियों की फड़कन मुझे अपनी खाल पर महसूस होती रही, जैसे कोई चीज थी, जो उनकी उँगलियों से होकर मेरी रग-रग में समायी जा रही हो। पहले तो मैं एकदम बड़ी अव्यवस्थित-सी हो उठी; लेकिन जब महसूस किया कि उदय का हाथ धीरे-धीरे हट गया है तो मुक्ति की साँस ली। आज इन्हें हो क्या रहा है ? अभी कॉफी हाउस के सामने भी तो···मन बड़ा बोझिल हो गया।

हम लोग थोड़ी देर यों ही चुपचाप बैठे रहे, जैसे दो अपरिचित बैठे हों—खाली और शून्य ! भीतर मन में एक अस्पष्ट-सा ज्ञान भी था कि पीछे से आने-जाने वाले लोग देखकर तो हमें भी शायद रोमांस करते किसी जोड़े के ही रूप में लेंगे—ज्यादा-से-ज्यादा पति-पत्नी समझ लेंगे। किसी को क्या मालूम कि हम लोग कितने अपरिचित हैं···कितने दूर-दूर हैं। हम लोगों के बीच में कहीं भी तो कोई वैसी बात नहीं है·· हमारे सम्बन्ध

तो निरे शाब्दिक हैं···। और ऊपरी चेतना में एक अजब-सा उल्लास भरा था···कैसा रोमानी वातावरण है। मन में चाहे जो समझें लेकिन मान लो, अगर हमारे सम्बन्ध कभी बहुत घनिष्ठ हो गये, बहुत ही अधिक घनिष्ठ हो गये तो खुद हम लोग ही अपने इन क्षणों को शायद रोमांस के क्षण ही तो कहेंगे···। यों गोदी में ढीले-ढीले हाथ रखकर बैठे-बैठे सामने ताकते रहना, अपलक कहीं दूर खोये रहना और झूलते पाँवों को धीरे-धीरे हिलाते जाना···आखिर कब तक चलता रहेगा ? उदय के हाथ की गर्मी अभी तक पीठ पर महसूस हो रही थी। मन होता था, धीरे से उदय की ओर अनजान रूप से झुककर उनके कन्धे पर सिर टिका दूँ···कितना अँधेरा था। मैंने उदय की ओर देखा : एक आशंका थी कि शायद यों ही बातें करते-करते या सोचते-सोचते वे अपने कन्धे मेरे कन्धों से फिर छुला देंगे···और उनका हाथ मेरी गोदी में पड़े हाथ पर आ रहेगा और फिर वे धीरे-धीरे उसे अपनी मुट्ठी की पकड़ में ले लेंगे···मेरी उँगलियाँ चटकाने लगेंगे···। उस कम्बख्त तेज को मेरी उँगलियाँ चटकाने की कैसी आदत थी। जब भी मौक़ा मिलता, हाथ प्यार से अपने हाथ में लेकर दबाते-दबाते वह उँगलियाँ चटकाने लगता। मैं लाख मना करती, "टूट जायँगी···। आड़ी-टेढ़ी हो जायँगी···देखो कल का ही, अभी तक दर्द हो रहा है···" लेकिन वह भला क्यों माने ? कहता—"हमारी चीज है, हम जो चाहें सो करें···।" "बड़ी आयी तुम्हारी चीज। शीशे में मुँह देखो जाकर पहले।" मैं उसे चिढ़ाया करती। उँगलियों में दर्द होने लगता था; लेकिन उसे देखते ही रह-रहकर एक कसमसाहट होती कि वह उँगलियाँ चटकाये···। एक दिन पता नहीं वह कहाँ खोया था। बस, हाथ में हाथ लिये रहा। मैं आशा करती रही,···इच्छा होती दूसरे हाथ से उसकी मुट्ठी कसकर अपनी उँगलियाँ चटकवा लूँ···फिर कहा था—"आज बड़े सज्जन हो गये हो···" बहुत दिनों बाद उँगलियों में वैसी ही कसमसाहट महसूस हो रही है। मन होता है, इन्हें कोई खूब चटकाये···खूब चटकाये। उदय का दाहिना हाथ मेरे पास ही धरती पर रखा था। कई बार इच्छा हुई कि अपना हाथ इस तरह उस हाथ के पास रख दूँ कि दोनों आपस में छुलते रहें···लेकिन मैंने कुछ भी नहीं किया और अपने आप ही अपनी गोद में पड़े हाथों की उँगलियों को चटकाती रही···ठंडी गीली-गीली हवाओं से कनपटियों पर हिलने वाले बाल भीतर विचित्र-सा रोमांच पैदा करते रहे।

वे कहीं बहुत दूर से कहते रहे, गहरी साँस लेकर—"वैसे तुम्हारी बात ठीक है। सुबह से ही आज कम्बख्तों का भाषण सुनना पड़ा है। तुम भी अपनी

सलाह दो भाई, मैं क्या करूँ ? जब से आया हूँ, अपर्णा बहन कह रही हैं कि यहाँ तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे। ये बड़े शहर तो व्यापारियों के लिए हैं—यहाँ न तुम्हारा लिखना होगा, न पढ़ना। यहाँ से अपने घर चले जाओ, जैसे हो, चले जाओ। शायद ही कोई हफ्ता गया हो, जब उसने यह बात न लिखी हो..."

"और रजनी···?" मैं बीच में बोली।

"रजनी क्या कहेगी बेचारी।" वे कहीं डूबते-डूबते सँभल गये, "यही बात वे दोनों राक्षस मुझे समझाते रहे कि बम्बई तुम जैसों के लिए नहीं है। यहाँ के लिए बहुत ही चालाक और चलता-पुर्जा आदमी चाहिए। तुम क्यों यहाँ अपना वक्त बरबाद करते हो···"

"ये कौन ?" मैंने स्वर में हमदर्दी लाकर पूछा और सीधी बैठ गयी।

"दोस्त हैं पुराने। घूमने आये हैं। कहते हैं, यहाँ मैं सिर्फ भटकूँगा और कुढ़ूँगा—करूँगा कुछ नहीं···। मेरी हालत बड़ी अजब है। जितना ही लोग मुझे समझाते हैं उतनी ही मुझे ज़िद आती है कि चाहे कुछ हो जाय, रहूँगा यहीं। आदमी क्या इतना मजबूर है कि जहाँ चाहे रह भी नहीं सकता ? बस, अपर्णा बहन की बात कभी-कभी मेरा मन डावाँडोल कर देती है···।"

मैंने समझदारी से कहा : "अपना आप जानें, लेकिन इतनी बात मैं भी कहूँगी कि यहाँ आप अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं कर पायेंगे। यहाँ की तरह-तरह की समस्याएँ आदमी को इतने हिस्सों में तोड़ देती हैं कि अपने पूरे व्यक्तित्व से वह कोई काम ही नहीं कर सकता और इतना उपदेश मैं भी दूँगी कि लिखना व्यक्तित्व का सम्पूर्ण समर्पण चाहता है। हो सकता है कि आप ज़िद में अपनी प्रतिभा के उपयोग के सबसे अच्छे क्षण गँवाये दे रहे हों···" मैं उनकी बात में और अधिक दिलचस्पी लेकर बोली। यों उनके जाने की बात इस वक्त बड़ी बेमौके लगी, लेकिन मन-ही-मन सोचती थी कि हो सकता है मेरा इस वक्त का कहना सचमुच असर कर जाय, और वापस जाकर वे ऐसी चीजें दें कि उनके लेखन का नया युग प्रारम्भ हो। तब आगे जाकर यह बात उनके और दूसरे लोगों के सामने नहीं आयगी ? कोई लिखेगा, 'सुजाताजी के समझाने से आप बम्बई से लौट आये। यहाँ आकर अपनी सर्वोत्तम कृतियाँ दीं। आपके जीवन के मोड़ में सुजाताजी का बड़ा हाथ था···' सच ही क्या इनके जीवन के मोड़ में मेरा कहीं हाथ हो सकता है ? उस समय यह सोचकर मन-ही-मन एक सन्तोष हुआ कि देखो, कितनी तटस्थ और निरुद्विग्न मैं यह सब सोच सकती हूँ।

"मेरी खुद समझ में नहीं आता, मैं क्या करूँ ?" वे वैसे ही आविष्ट स्वर में बोलते रहे—"कभी-कभी खुद ही हँसी आती है कि इस झूठ-मूठ की शहादत में क्या रखा है, क्यों नहीं मैं घर चला जाता ? अब आज ही की बात लो। हस्ब-मामूल नौकर राम मैटिनी चले गये। दो खत डालने को दिये थे सो उनका भी पता नहीं कि टिकिट बेच खाये या उन्हें ठीक जगह डाल भी दिया। जब ये दोनों दोस्त आये तो मैं फ़ाउण्टेनपेन के पीछे के हिस्से से चाय में चीनी मिला रहा था"'चम्मच ही नहीं मिली। भीतर से मन जाने कैसा-कैसा हो रहा था कि देखो, एक तो खुद ही चाय बनाओ फिर उसमें भी यह झंझट। इच्छा हुई कि चाय-चीनी सबको उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दें"'। यह भी कोई ज़िन्दगी है"'! इसके पीछे वाक़ई अगर कोई उद्देश्य हो तो एक बात भी है।"

मैं चुपचाप सुनती रही। भीतर एक ज्ञान उभरने लगा था कि देर हो गयी है। अब चलना चाहिए। अक्का से कहकर आयी थी कि सिनेमा देखकर आऊँगी कालेज की एक लड़की के साथ। इतनी बड़ी तो हो गयी। अब भी अक्का का यह नियन्त्रण कभी-कभी झुंझलाहट पैदा कर देता है। एक तरफ़ तो दिन-रात मेरी जान खाती है कि अब शादी कर ले, घर बसा ले। फिर कौन करेगा तेरी शादी ? दूसरी तरफ़ इतनी भी छूट नहीं देती कि आँखों से एक पल को भी ओझल हो जाऊँ। घर क्या आसमान में मैं बसा लूँ ? मैंने उदय की बात के जवाब में कहा, "रजनी को क्यों नहीं बुला लेते, अब आखिर घर बसाइए न, हमें भी जान खाने को एक भाभी मिले।"

"रजनी"'?" वे ज़ोर से बड़ी नकली-सी हँसी हँसे : "रजनी को तुमने देखा ही कहाँ है ? देख लोगी तो ये सारी पागलपन की बातें नहीं करोगी। पता नहीं सुजाता, मैं एकान्त मन से कभी सोच ही नहीं पाता कि मैं रजनी को प्यार करता हूँ या वह मुझे चाहती है। शुरू से ही एक चला आता मोह है, और बस, जैसे दोनों एक दूसरे की ओर से निश्चिन्त हैं, जैसे दो पुराने मित्र हों। चूँकि पुराने हैं इसीलिए मित्रता भी महसूस करते हैं; लेकिन मित्रता की आग का दोनों में अभाव रहता है। अक्सर एक ही शहर में रहने वाले ऐसे मित्रों को तो तुमने देखा होगा, जो कभी बचपन में छठे-सातवें तक साथ ही पढ़े थे। अब वे आते हैं ; दो बातें आपकी बीवी से कीं, बच्चों को थपथपाया, घर में दो चक्कर लगाये और चले गये। हफ़्तों आपका सामना होता है, 'खाना खाओगे ?' के सिवा दूसरी बात नहीं होती ! आप भी जब उनके यहाँ जाते हैं तो इसी तरह घूम-फिर आते हैं। और यही सब चलता

रहता है। रजनी से मेरे सम्बन्ध कुछ-कुछ इसी तरह के हैं। अक्सर मुझे अपर्णा बहन की बात सच लगती है कि वह काफी चालाक है और किसी अवसर के लिए मुझे अटकाये हुए है कि पता नहीं कब जरूरत पड़ जाय। जब मेरी ओर से खिचाव-सा महसूस करने लगती है तो फिर चारा डाल देती है।"

"अच्छा, एक बात कहूँ ?"

"हाँ···"

"बिलकुल सच ?"

"मुझे तो तुम लोगों की तरह झूठ बोलने की आदत नहीं है।"

"आपके और अपर्णा बहन के आपस में क्या सम्बन्ध है ?" यह नाम लेते ही प्रिन्सेस अपर्णा का चेहरा मेरी आँखों के आगे घूम गया।

इस बार वे फिर खूब खुलकर हँस पड़े। उन्होंने अपना हाथ बढ़ाकर मेरे हाथ पर रख दिया और बोले—"अब मेरी बात ही पूछे जाओगी या कुछ अपनी भी बताओगी ?" मेरी उँगलियों से खेलते हुए उन्हें याद आ गया : "अरे देखो न, मैं भी कैसा बेवकूफ हूँ कि बस, अपनी ही अपनी बात बके जा रहे हूँ, तुमसे कुछ पूछने की जरूरत ही नहीं लगी। पर मैं भी करूँ क्या, अजब बात है कुछ। जब भी तुम्हारे सामने होता हूँ एक, अजब-सा नशा छा जाता है कि कुछ-न-कुछ बके ही चला जाता हूँ। हर बार तय करता हूँ, इस बार जब मिलोगी तो कम-से-कम बोलूँगा और सुनूँगा अधिक। लेकिन फिर ध्यान ही नहीं रहता। जो बातें किसी से नहीं कहता, वे सब अपने आप खुलती चली जाती हैं···"

"अरे, हम ऐसे बड़े जादूगर हैं, हमें पता ही नहीं था।" मैंने खिलकर मज़ाक़ में कहा। गहरे में यह भी समझ गयी कि मेरी बात टाल दी गयी है। "आख़िर कारण तो पता लगाया ही होगा कि क्यों ऐसा होता है···?"

"कारण क्या होता, यारी हो गयी है।" बच्चों जैसे भोलेपन से उन्होंने ऐसे सहज भाव से यह वाक्य कह दिया कि मैं एकदम चकित रह-गयी। उनके हाथ में मेरा हाथ सहसा ही कटकित होकर पसीज आया···। लगा जैसे बत्तियों की धनुषाकार लाइन झमककर एक घेर ले उठी···। अभी-अभी चेखव की एक कहानी पढ़ी थी···प्रेमी और प्रेमिका बर्फीले ढलान पर स्कीइङ्ग कर रहे हैं···दोनों ऊपर से नीचे फिसलते हैं, तेजी से नीचे आते हुए दोनों के मुँह पास-पास आ जाते हैं। हवा 'शूँ···शूँ' करती गुज़र जाती है और लड़की को ऐसा लगता है जैसे कोई उनके कान पर मुँह रखकर कह रहा हो, 'आई लव यू···आई लव यू···'। उसका अंग-अंग पुलक उठता है···। लड़

नहीं कर पाती कि यह शब्द सचमुच उसका साथी कह रहा है या सिर्फ़ हवा की शूं-शूं से ही उसे ऐसा सुनाई दे रहा है, जिसे उसकी आन्तरिक कामना ने इन शब्दों का रूप दे दिया है···और जैसे इसी बात का निश्चय करने के लिए वह बार-बार ऊपर जाकर फिसलने का आग्रह करती है···आई लव यू··· आई लव यू···। हाय कैसी उन्मुक्त होती होंगी वे लड़कियाँ जो निर्द्वन्द्व भाव से प्यार कर सकती और प्यार पा सकती हैं···! मैं कहूँ···? शायद गर्दन कट जाय तब भी ये शब्द मेरे मुंह से न निकलें। जाने क्यों, ऐसा लगता था कि इन शब्दों को सुनने का अधिकारी बग़ल में बैठा यह व्यक्ति नहीं है। दूर···बहुत दूर कोई है, जिसके कान में मैं कभी यह बात कहूँगी···। नहीं उदय, तुम इसके अधिकारी नहीं हो···कोई और है, कोई और है···। मेरा हाथ क्यों नहीं छोड़ देते, वरना मैं फिसलकर नीचे पत्थरों पर सरक रहूँगी···। क्या गिरते हुए मुझे भी हवा में वैसे ही शब्द सुनाई देंगे···? आई लव यू···। शायद वे दिन बीत गये जब हवाओं में ऐसे शब्द सुनाई दिया करते थे···। पता नहीं क्या था कि भीतर से उमड़ा आ रहा था। याद आया, उदय ने कहा था—'यारी हो गयी है।'

मैं स्तब्ध और निर्वाक् आत्मीय निकटता का अनुभव करती रही···फिर जब सहसा अपनी स्थिति का होश आया तो उमँग कर बोली—"अच्छा, एक बात बताइए, इस बारे में कल हमारी प्रिन्सेस से भी बड़ी देर बातें होती रहीं···"

"तुम क्यों चौबीस घण्टे बस प्रिन्सेस की ही बातें सोचती रहती हो?"

"अरे, सुनिए भी। बड़ी दिलचस्प बात बता रहे हैं। आपको हर वक़्त ही मज़ाक़ रहता है?" मैंने बेचैनी से हाथ झटकाकर कहा—"उसका कहना था कि स्त्री-पुरुष के बीच में दोस्ती, एक आत्मीय घनिष्ठता बिना शारीरिक सम्बन्ध आये सम्भव नहीं है।"

"और तुम?"

"मेरा कहना था कि बिलकुल सम्भव है।"

"बस तो ठीक है। तुम लोगों ने जब आपस में ही फ़ैसला कर लिया तो मैं क्या बोलूं?"

पहली बार तो उन्होंने टाल दिया, लेकिन शायद ध्यान आ गया कि इस बात को टाल ने से कहीं 'पिछली बात भी न पकड़ ली जाय। बोले, "यों मेरा भी ख़याल तुम्हारी प्रिंसेस से मिलता है। मेरी समझ में यह बात अभी तक नहीं आती कि तुम लोग शरीर को इतना महत्त्व क्यों देती हो? बम्बई जैसे शहर में हमारे आस-पास परिस्थितियां ऐसी नहीं हैं कि शरीर को लेकर ज्यादा माथा-पच्ची की जाय, या नैतिकता के वे ही मापदण्ड काम में लाये जायं, जो यहां से

अलग परिस्थितियों में लाये जाते रहे हैं। यहाँ बस, ट्राम, सिनेमा, मीटिंग सभी जगह तो एक-दूसरे से भिड़न्त होती रहती हैं। तुमने कभी सोचा है कि पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के बीच मे जो खुलापन, एक बेझिझक अपनापा बहुत शीघ्र और सहज आ जाता है वह क्यों ? यही तो वजह है न, कि वहाँ हर वक्त यह भूत दिमाग पर नही रहता कि किससे किसका क्या छू रहा है या किसकी निगाहें किसके किस अंग पर हैं। जहाँ जान-बूझकर या असावधानी से ही एक-दूसरे की उँगली छू जाने पर महीनों की दोस्ती खत्म हो जाय, वहाँ आत्मीयता क्या खाक होगी ? पति-पत्नी में आगे जाकर एक गहरी मित्रता, एक उन्मुक्त अभिन्नता आ जाती है उसकी वजह भी तो यही है कि वहाँ एक-दूसरे का शरीर हौवा नही रह जाता।"

"बस, बस ठीक है, आप अपनी फिलासफी अपने तक रखिए। हमे यह उल्टी-सीधी बातें मत समझाइए। शरीर को महत्त्व न देने की बात माननी होगी तो अपना मायावादी दृष्टिकोण ही क्या बुरा है ? यहाँ तो शरीर और उसकी अनुरक्ति सभी कुछ धोखा और झूठा माना गया है।" बात की सच्चाई अनुभव करते हुए भी यह देखकर मुझे बड़ी खिजलाहट हुई कि प्रिन्सेस और उदय के तर्क एक-से ही हैं। जाने क्यों, नये सिरे से शरीर रोमांचित हो आया और मैंने झटके से अपना हाथ खींच लिया।

"दोनो में फर्क है : एक शरीर को सच मानकर, उसे अभ्यास में ले आना है, और दूसरा उसके अस्तित्व को ही झुठला देना है। किसी देश को जीतकर अपनाना और बात है और घर बैठे-बैठे ही यह कह देना कि वह है ही नही, शब्दों का जाल और छल है।" सहसा उन्होंने मेरे पीछे पीठ से हाथ लाकर दाहिनी बाँह पकड़ ली और धीरेसे, डरते-डरते मुझे अपनी बगल में खींचकर कहा, "तुम सभी लड़कियाँ एक जैसी होती हो। जब कहने को कोई बात न हो तो नाराजी।"

स्वीकार करती हूँ, मुझे बुरा नही लगा। बल्कि भीतर ही भीतर मैं यह आशा कर रही थी कि यही होगा···होना चाहिए। अब एक हल्का सन्तोष और खुशी महसूस हुई कि मेरी आशा झूठी नही थी···मानो परिस्थिति पर विजय मेरी ही रही है। पर पता नहीं कैसे, मेरा दूसरा हाथ उठा और मैं बेमन से अपनी बाँह पर उनकी उँगलियों की पकड़ छुटाती रही। बोली, "तो शरीर जीतने का काम यही से शुरू कर दिया ?"

दोनों हँस पड़े।

"विदेह बनने के लिए भी कोई मुहूर्त चाहिए ?"

"विदेह !" हल्के से एक प्यार भरा घूँसा उनकी पीठ पर मारे विना मुझसे नहीं रहा गया।

"यह विदेह वनने का आशीर्वाद है।

हम दोनों फिर खिलखिला पड़े और ऐसा लगा जैसे वह खिलखिलाहट प्रकाश-तरंगों की तरह अँधेरी लहरों में तैरती चली गयी। दूर तक जाते हुए मैंने स्वयं अपनी आँखों से उसे देखा। लगा, हम दोनों वहुत-वहुत निकट के मित्र हैं···न जाने कव के हैं। अभी तक ऐसा लगता था जैसे भारी वोझ की तरह शरीर किसी पानी में डूव रहा था, और अव मन की तरह हल्का होकर ऊपर तैर आया हो। जी में आया, उनसे वातें करूँ···खूव वातें करूँ। मन की सारी वातें कह डालूँ। मुड़कर चारों तरफ़ देखा। फ़ुटपाथ पर अपनी-अपनी कुर्सियाँ लाकर हवाख़ोरी करने वाले पारसी वुड्ढे-वुढ़ियाँ जाने कव के जा चुके थे। एक नारियल वाले को वुलाकर हम लोगों ने दो नारियल लिये। अधिकार-पूर्वक पास का पर्स उठाकर उसमें से पैसे खोजते हुए वोले, "हमारे पास आज पैसे नहीं हैं। यह नारियल तुम्हारे हिसाव में रहेगा।"

मैंने सोचा, अगर सिनेमा देखने को तैयार हो जाती तो ?

पूछा—"हाँ, तो क्या नतीजा निकला आपका, प्रिन्सेस अपर्णा से वहस में···?"

"सच, वड़ा अजव कैरेक्टर है यह भी। वहुत गम्भीरतापूर्वक मैं उस पर लिखने की सोच रही हूँ।" मैंने उत्साह में वताना शुरू किया। आश्चर्य हो रहा था कि इतनी महत्त्वपूर्ण वात को इतनी देर मैं पचाये कैसे रही ? इसे कहने के लिए तो मैं जाने कव से वेचैन थी। खलवली मची थी भीतर। असल में यह वोलने का मौक़ा दें, तव न कुछ वोलती। कहा, "परसों साढ़े नौ वजे रात में फ़ोन आया : 'चलो, वारसोवा चलोगी ड्राइव पर ? चाँद निकल आया है। वड़ा प्यारा मौसम है। चलो, वड़ा मज़ा रहेगा।' मैंने कहा, 'अपर्णा जी, मैं राजकुमारी नहीं हूँ कि अपनी मर्ज़ी से जो चाहूँ, करूँ। आप अभी निम्न-मध्य वर्गीय परिवारों की हालत नहीं जानतीं। दिन छिपे के वाद, लड़की को कहीं देर हो जाय तो मुसीवत हो जाती है। दिन में तो जहाँ चाहें चलिए।' तो वोलीं, 'कल फ़्री रखिए, शाम को जुहू-वीच पर चलेंगे।' तो कल शाम को फिर उनकी दूसरी लम्वी-चौड़ी गाड़ी आ खड़ी हुई। इस वार वे ख़ुद थीं। मैंने ऊपर आने को वहुत वार कहा, नहीं आयीं। वोलीं, 'फिर कभी आयेंगे।' ख़ैर, साहव, जुहू पहुँचे। भगवान् जाने कितना पढ़ती हैं। मैं तो वाक़ई उनसे डरने लगी हूँ मन ही मन···।"

"है यह आखिर कौन ? तारीफें तुम इसकी इतनी करती हो, इसके बारे मे कुछ विस्तार से भी तो बताओ। क्या करती है ?"

"इस बार मैंने आधी बातें तो पूछ ली हैं। हम लोग वहाँ जरा हटकर रेत पर बैठे-बैठे बडी देर गप्पें लड़ाते रहे। सचमुच, बडी सरल-मिलनसार और 'अनऐज्युमिंग' है। कभी महसूस नही होने देती कि प्रिन्सेस है। जब ऊपर हमारे यहाँ नही आयी और नीचे ही गाड़ी मे बैठी रही तो मुझे लगा था, शायद इसी लिए नही आ रही कि हम साधारण आदमी हैं। ड्राइवर क्या कहेगा ? उसने शायद मेरे मन की बात समझ ली। लौटते वक्त बोली, 'आओ, चलो तुम्हारा कमरा देखें। क्या-क्या किताबें हैं, क्या-क्या लिखा है ?' उस समय सच उदय जी, मेरी इच्छा हुई कि यह ऊपर न चले। जाने कैसा उल्टा-सीधा पडा होगा। तब अपनी इस आदत पर झुंझलाहट आयी . मेरे बाद इस कमरे मे कोई कदम न रखे, इसमें क्या तुक है ? फिर मेरे पास किताबें भी कम ही है। लिखा भी नया कुछ नही था'''लेकिन वह आकर बडी अपनापे से बैठ गयी "

उन्होंने बीच मे बात काट दी, "अब आप यह बता रही है कि उसने क्या किया, या यह कि उसने क्या जाना ?"

"आप क्यो टोकते हैं साब' हमे ? हम भी तो आपकी दुनिया-भर की बकवास सुनते रहे थे।" मैं चिढकर बोली। अपनी बात जारी रखी "रेत पर लेटे-लेटे बड़े अजब-अजब से शेर सुनाती रही। बडे कमाल के शेर याद है उसे। और कितने याद हैं, इसका तो कोई हिसाब ही नही। पहली बार देखने में ऐसी सख्त लगती है, व्यवहार में उससे ठीक उल्टी है। उसने तो राजकुमारियों के बारे मे मेरी धारणा ही बदल दी है ।"

"इस बात को आप मुझे दर्जनवी बार बता रही है।"

"देखिए, जो बता रही हूँ उसे चुपचाप सुनते रहिए। सब बता दूँगी, लेकिन अपने ढग से। उसमें कुछ बडी अजब-अजब-सी बातें है। कहाँ तो ऐसी उन्मुक्त है कि पैरो पर रेत थोप-थोपकर घरौंदे बनाती रही, लेटी-लेटी शेर सुनाती रहती और कहाँ उसे अपने राजकुमारी होने का इतना खयाल है कि बाजार से एक तिनका नही लिया। पान खाना हुआ तो ड्राइवर से कार में रखा डब्बा मँगवाया। ड्राइवर ने अदब से पान पेश किया, तो रुमाल से पकड़ कर दो टुकडे खा लिये। साथ ही फलो का रस भी अपने फ्लास्क में लायी थी। ड्राइवर ने बीच मे तौलिया बिछा दिया। खूबसूरत कट-ग्लास के [illegible] कप जैसे गिलास मे एक-एक घूंट करके रस सिप करती रही। 'आपने कभी शराब पी है ?' मैंने तो कानो पर हाथ रख लिया।

ऐसी तो बात भी हम सोच नहीं सकते,' लेकिन रस पीने के उसके ढंग, चुस्की और बाद में होंठों की स्थिति से पता लगता था कि उसने जरूर पी होगी। मैंने पूछा, 'आपको तो पीनी पड़ती होगी।' बड़ी समझदारी से मुसकरायी। आँखें बड़ी 'चार्मिंग' हैं। चुस्की ली और गिलास नीचे रखकर बोली 'अगर मैं कहूँ कि नहीं, तो, आप विश्वास करेंगी ?' "

उदय ने फिर बात काटी, "बिल्कुल झूठ। राजकुमारी और शराब न पिये ? एकदम असम्भव। अरे, उन्हें बचपन से पीनी पड़ती है। आगे जाकर जब राजा साहब पूरी मशक चढ़ायेंगे तो रानी साहिबा क्या दो-चार पेग भी नहीं चखेंगी ?"

"हाँ, यही तो मुझे भी लगा।" मैं उत्साह से बताने लगी। "वह कहती थी, एक-आध सिप कभी लिया, लेकिन क़म्बख्त कड़वी इतनी होती है कि मुझसे चलती नहीं।' साँझ का समय, जुहू बीच, रंग-बिरंगे गुब्बारे, खिलौने और खोमचेवाले, लाल से सुरमई होते हुए पश्चिम के हाथी-घोड़े, पीछे की हरियाली पर ताँबे जैसी झलमलाती हुई किरणें और लहरों पर उमड़ते हुए छोटे-छोटे पक्षी। वह बताती रही, 'हमारे यहाँ सब पीते हैं और इस बुरी तरह पीते हैं कि चार-चार नौकर लादकर लायें। एक दीवान तो इसी चक्कर में मर गये बेचारे। शराब का टोंटीदार पीपा था, आपने सीधे ही टोंटी में मुँह लगा दिया। लोग मना कर रहे हैं, खींच रहे हैं, लेकिन कौन सुनता है, सबको लातें मार-मारकर भगा दिया। और इसके बाद जो गिरे तो उठे ही नहीं।' मैंने प्रिन्सेस की जगह उन्हें अपर्णा जी कहना शुरू कर दिया है। पूछा, 'अपर्णा जी आपकी रियासत कहाँ है ?' जब उन्होंने राजस्थान की एक बड़ी प्रसिद्ध रियासत का नाम लिया तो मैं चकित रह गयी। पूछा, 'आप क्या यहाँ महाराज के साथ ही रह रही हैं ? अभी आपने उनके दर्शन कराये नहीं ?' कहने को तो मैंने कह दिया; लेकिन उनके रहन-सहन और बातों से जाने कैसे मुझे विश्वास हो गया था कि उनके पति नहीं हैं। इस सवाल पर पहले तो उनकी भौंहें खिचीं, जैसे मैं किसी निषिद्ध-क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश कर रही हूँ। फिर सँभलकर जवाब दिया, 'रियासतें टूट जाने के बाद एच० एच० इटली के भारतीय दूतावास में एक बहुत ऊँचे अधिकारी होकर चले गये हैं।' पता नहीं, क्यों मुझे ऐसा लगा कि एच० एच० का जिक्र करते समय उनके चेहरे पर हल्की-सी ऐंठन आ गयी थी, जैसे मैंने उनका दुखता फोड़ा छू लिया हो। इसके बाद मैंने पूछा, 'आप यहाँ अकेली रहती हैं ?' तो बोलीं, 'महाराज कुमार मेरे भाई हैं। मलाबार हिलपर हम लोगों का एक कॉटेज है।' मैंने फिर इधर-उधर की बातों के

बाद पूछा—'करते क्या हैं?' तो मुँह बिचकाकर बताया, 'करते क्या, दो-तीन विदेशी फ़र्मों के साथ बिजनेस-पार्टनर हैं, बाहर की बैंकों में रुपया जमा है। बस, खुद दिन भर होटल, रेस और शराब पर फूंकते रहते हैं। आजकल एक बहुत प्रसिद्ध ऐक्ट्रेस के चक्कर में हैं सो बहुत बड़े स्केल पर फिल्म कम्पनी खोलने की बातें किया करते हैं। हमें तो महीनों उनकी सूरत देखे हो जाते हैं।' मैंने उत्सुकता से पूछा, 'तो क्या मैरिन ड्राइव वाले फ्लैट में नहीं रहते वे?' 'कभी हफ्ते मे आध घण्टे को आये तो आये, वर्ना हम और भाभी साहिबा बस, दो ही यहाँ रहते हैं। पार साल तक तो बडी महारानी साहिबा, यानी 'माँ' भी यहीं थी। उनका हार्ट-फेल हो गया।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा—'तो पुरुष कोई नहीं है यहाँ?' 'यों तो कोई न कोई रिश्तेदार पड़ा ही रहता है, लेकिन स्थायी रूप से मेरा छोटा देवर और भाई हैं। बाक़ी तो रानी साहिबा खुद सब सँभाल ही लेती हैं। इतनी बात है कि चाहे भाभी साहिबा की भैया चिन्ता न करें, लेकिन मुझे बहुत ही मानता है। मैं फोन करूँ तो आधी रात को दौड़ा आये। भाभी को बीसियों बार टाल चुका है। साहित्य-कला को चाहे बिलकुल बेकार चीजें मानता हो, लेकिन मेरी इतनी इज्जत करता है कि सामने चूँ नहीं कर सकता। मैं आज लाख रुपया बरबाद कर दूँ, एक शब्द नहीं बोल सकता। अभी पिछले दिनों भाभी साहिबा की लौंग का हीरा खो गया। होगा मुश्किल से कोई बीस-पच्चीस हजार का। वह लताड़ लगायी है कि तीन दिन आसन-पाटी लिये पड़ी रोती रही। और मैंने जरा-सा इशारा किया कि भाभी कहीं चली जाती हैं तो आने-जाने में दिक्कत होती है, अगले ही दिन मेरी अपनी 'वैगार्ड' आ गयी। उसी ने तो जिद करके यह 'जुडीशियल सैपरेशन' की एप्लीकेशन दिलायी।' मैंने पूछा—'तो क्या आप अलग''''' तो ऐसा लगा जैसे यह बात अवाछनीय रूप से उसके मुँह से निकल गयी हो। टालती-सी बोली—'हाँ, कुछ ऐसा ही व्यक्तिगत मामला है।' यह बात कुछ ऐसे ढंग से उसने कही कि मैं आगे पूछने की हिम्मत नहीं कर सकी। बातें करते-करते मैं उसकी सारी हरकतों को गौर से देखती जाती थी। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि अरे, यह तो बिलकुल साधारण लडकियों जैसी है। बोलचाल, ढंग-ढर्रे, किसी में तो ऐसा लगे कि हम लोगों से कुछ अलग है।"

"और कोई खास बात नहीं हुई'''?" उन्होंने सोचते-से पूछा।

"और तो सब इधर-उधर की बातें होती रहीं। मेरा अन्दाज यह है, सही भी हो सकता है और गलत भी, कि पति से काफ़ी समय से वह अलग है और उन लोगों में सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं हैं।"

"इन लोगों में तो यह सब चलता ही रहता है।" उदय ने बताया।

"हाँ, तो बड़ी देर तक हम लोग इसी बारे में बहस करते रहे कि दो विरोधी लिंग के व्यक्तियों में बिना शारीरिक सम्बन्ध हुए आत्यन्तिक घनिष्ठता हो सकती है या नहीं। नैतिकता और अनैतिकता क्या है ? और इसकी जिम्मेदारी क्या सिर्फ़ औरत पर ही है, मर्द पर कुछ भी नहीं ? मुझे तो ऐसा लगता है जैसे इधर इन सवालों ने उसे काफ़ी बेचैन कर रखा है और उन्हीं को उचित सिद्ध करने के लिए वह अपनी शंकाओं और प्रश्नों का उत्तर और समर्थन चाहती है। अभी तक तो पता नहीं, लेकिन अगली बार देख लीजिए, मैं सारी बातें पता लगा लाऊँगी।"

"कब मिल रही हो ?"

"दो-तीन दिनों में मिलेंगे। फ़ोन पर ही तय हो जाता है हमारा मिलना तो।"

"एक सलाह मानो, तुम उसकी पर्सनल सेक्रेटरी बन जाओ।"

"जी हाँ, पर्सनल सेक्रेटरी बन जाओ !" मैं मुँह बिराकर बोली। सामने लटकी अपनी चोटी की लटों से खेलते हुए मैंने लक्ष्य किया, इस बार उनके स्वर में व्यंग्य नहीं था—"जैसे कोई और काम हमें नहीं रह गया है ? कम-से-कम एम० ए० तो कर लें। वैसे जो चाहूँ सो बन सकती हूँ। कभी-कभी तो सोचती हूँ कि डिग्री के बाद भी करना हमें क्या है ? लाओ, ऐसे में कुछ बन ही जाओ। आप लोगों पर कुछ रोब ही पड़ेगा।" कहना मैं चाहती थी 'आप' लेकिन 'लोगों' जोड़ दिया।

फिर सहसा हम लोग उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले—"इन दो मुलाक़ातों में ही रोब डालने का मर्ज लग गया न ? अच्छा-ख़ासा लिख लेती थी, लड़की हाथ से गयी।"

"दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया आपका ? अभी तो स्टडी कर रही हूँ, ऐसी चीज़ें दूँगी कि आप भी मान जायें, किसी ने लिखा है कुछ।" आत्मीयता से मैंने कहा। मुझे जाने कितनी देर बाद याद आया कि अध्ययन तो मैं इनका भी कर रही थी, इस बात को तो जैसे भूल ही गयी। हम लोग धीरे-धीरे पत्थरों वाले फ़ुटपाथ पर चल रहे थे। दीवार पर बैठकर ताकते लोगों की निगाहों के हर स्पर्श को अवचेतन मन में महसूस करती मैं दाहिनी ओर की बिल्डिंगों को देखती चल रही थी। एक फूलों के गजरे वाला निकला तो ध्यान आया कि फ़ुटपाथ पर आने-जाने वाली हर स्त्री ने अलग-अलग ढंग से फूल लगा रखे हैं। देखूँ, यह उदय गजरे के लिए पूछते हैं या नहीं। एक बार तो

पूछेंगे ही, मैंने कन्धे के ऊपर से लेकर अपनी दोनों चोटियों को सामने की ओर कर लिया था और अलग-अलग मुट्ठियों मे पकड़े झुलाती हुई चहल-क़दमी की चाल से चल रही थी। सामने गजरे वाले को देखा तो ध्यान आया कि नारियलों की तो इन्हे सफ़ाई देनी पड़ी थी, जूड़े को पैसे कहाँ से होंगे : पता नही, जाने को भी हैं या नही।"

"अपनी प्रिंसेस को लेकर मेरे मजाकों का तुम ग़लत अर्थ तो नही लगा लेतीं ?" वे कुछ अनमने भाव से बोले—"फिर भी एक बात मैं अक्सर सोचा करता हूँ कि हम लोग इन बडे कहे जाने वाले लोगो की दोस्ती को बड़ी गम्भीरतापूर्वक लेते हैं, बड़ा महत्त्व देते हैं, 'सिंसियर' और ईमानदार रहने की कोशिश करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि दोस्ती दिखाने के लिए, अपना समय, अपनी शक्ति, अपना श्रम सभी कुछ बरबाद करते हैं। अपने-आपको समझाते हैं कि क्या दोस्ती के लिए हम इतना भी नहीं कर सकते ? लेकिन इन लोगो की तरफ़ से स्थिति दूसरी है। इनके लिए तो वक़्त काटने को एक मनोरजन चाहिए। एक खिलौना, जिसे निर्जीव मानकर जब तक इनका मन हो ये खेल सकें और जब वह पुराना पड जाय, या उधर से रुचि हट जाय तो दूसरा बदल लें।"

इस बार उनके स्वर में कोई परिहास नही था। सच्चे दोस्तो जैसी सलाह थी। मैंने बड़ा निर्जीव-सा विरोध किया—"तो क्या मैं ऐसी कमजोर और बेवकूफ हूँ ?"

"वह सब तुम जानो। लेकिन तुमने मार्क किया होगा, जब ये लोग उन लोगों से मिलते हैं, जिन्हे 'साधारण' समझते है तो इनके हर व्यवहार मे एक शहीदों जैसा दर्प होता है कि 'देखो, हम झुककर तुमसे मिल सकते है, इतने महान् हैं हम। और उनकी सामाजिक स्थिति के कारण हम भी यही समझते हैं। फल यह होता है कि हमारा सारा मस्तिष्क इन्ही को लेकर तरह-तरह की चिन्ताओ से उलझा रहता है। जैसे हम लोगो के लिए समय निकल पाना एक समस्या है, वैसे ही इन लोगो के लिए समय बिताना। ख़ैर, यहाँ तक तो मुझे कोई गिला नही; लेकिन कही आपके किसी व्यवहार से आपकी यह चिन्ता, यह कसक व्यक्त हो जाय कि आपके सामने रहने-खाने जैसी आधारभूत समस्याएँ भी हैं, कुछ सीमाएँ और परेशानियाँ है कि आपके हाथ बँधे हैं, तो इनमे से हरेक यह समझता है कि उससे पैसा झटकने की भूमिका बनायी जा रही है। आपसे आपका बहुमूल्य या सर्वश्रेष्ठ लेकर भी ये लोग अपने उसकी चिन्ता से घुलते रहते हैं, जिसका न तो इनके लिए बहुत मूल्य ही है और न

जो इनका सर्वश्रेष्ठ है।"

"हो सकता है, आपकी बात सच हो, लेकिन प्रिन्सेस बेचारी ने तो अभी तक कोई ऐसी बात की नहीं है।" मैं एक बार फिर प्रिन्सेस के एक-एक व्यवहार को मन-ही-मन दुहराती बोली।

"हो सकता है तुम्हारी प्रिन्सेस इसका अपवाद हों।"

और हम लोग चुपचाप चहल-क़दमी करते, आसपास की दुनिया से बेखबर चर्चगेट स्टेशन आ गये। दादर की अगली गाड़ी कब आयेगी, यह देखने के लिए जब घड़ी की ओर देखा तो सुई ९-४० पर लगी थी। आज फिर खैर नहीं है···

अब तो उँगलियाँ बहुत ही दुखने लगी हैं। मैंने भी कितना घसीटा है आज। ध्यान ही नहीं रहा। अब दो बजे हैं। मन होता था कि जो कुछ मन में है सब कुछ इन्हीं पन्नों पर उँडेल दूँ, ताकि जी हल्का हो। कभी-कभी सोचती हूँ कि आगे बहुत दिनों बाद जब इन पन्नों को पढ़ूँगी तो कैसा लगेगा? आज की स्थिति से उस समय बिलकुल कट और गुजर चुकी होऊँगी और जब दूसरे व्यक्ति की तटस्थता से पढ़ूँगी तो वे सारी छोटी-छोटी बातें जो आज मेरे मन में हलचल मचा देती हैं, बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगती हैं—शायद तब बहुत ही बेकार और अर्थ-हीन लगें।

मंगलवार : २ जुलाई

कानों में अभी तक वह लाज भरी हँसी गूँज रही है···

पता नहीं कैसी याददाश्त हो गई है कि कोई चीज़ रखकर याद ही नहीं रहता। ज़रूरत पड़ने पर सारी आलमारी और दराजें खखोलनी पड़ती हैं और वह चीज़ मेज़ पर ही रखी मिले जाती है। हाथ में पेन लेकर इधर-उधर पेन ढूंढ़ती हूं। सुबह जाने क्या खोज रही थी कि एक किताब के पन्ने कुछ अलग-अलग-से लगे। निकाली। किताब थी 'श्रीकान्त', पहला भाग। खोली कि पन्ने ठीक कर दं तो देखा, पन्नों के बीच में रजनीगंधा का एक लम्बा-सा फूल दबा था। पहले तो कुछ समझ में नहीं आया, लेकिन फिर जैसे एक रील-सी खुलती चली गई। पन्नों में चिपककर तितली के परों जैसा हो गया था। उँगलियों में पकड़े बिस्तर पर चित आलेटी···बम्बई आ रही थी और तेज स्टेशन पर छोड़ने आया था। कोट का फूल निकालकर दिया चलते

समय। इतने लोगों के सामने कितनी मुश्किल से आँसू पिये थे···होंठ काँप रहे थे···। पहले तो फूल मुट्ठी में लिये रही, फिर उसे ब्लाउज़ में रख लिया था। रास्ते में 'श्रीकान्त' पढ़ रही थी। बार-बार निगाहें लाइनों से उठकर, हरियाली चूनर ओढ़े, गरबा-नृत्य में झूमते पेड़ों की पंक्तियों में खो जाती थीं। और मन सुनहरे बादलों वाली आसमानी नीलिमा में उतरता चला जाता था। साथ-साथ झुकते-उठते टेलीग्राफ़ के तार चल रहे थे। खिड़की से बाहर झुककर फूल निकाल लिया और उसे देर तक होंठों और गालों से छुलाती रही। फिर चुपचाप पन्नों में रखकर दबा दिया था···आज अचानक भूली याद-सा यह निकल आया। तेज का वह कॉलर, उसमें लगा फूल सब कुछ मुझे इतना साफ दिखाई देने लगा, जैसे उसके फूल निकालने से पहले ही मैं स्वयं हाथ बढ़ाकर खुद उसके कॉलर से वह फूल निकाल लूँगी। नेवी-ब्लू समर का सूट था, चॉकलेट कलर टाई की अमेरिकन नॉट आज भी ज्यों-की-त्यों उसकी ठोड़ी के नीचे दिखाई दे रही है···। मुरझाया फूल और तेज का चेहरा···भगवान् करे, उसका चेहरा हमेशा ताज़े फूल-सा खिला रहे···। कहीं उस पर कोई संकट तो नहीं आ पड़ा? हो सकता है आज अचानक ही अदृश्य ने मुरझाया फूल सामने लाकर यह संकेत दिया हो कि किसी कारण से उसका चेहरा ऐसा ही मुरझा गया है···। ऐसे संकेतों की बात कई लोगों से सुनी है।···कभी-कभी ये बातें भी सच हो जाती है···। कोई मुसीबत तो नहीं आ गई?

तेज की बहुत याद आती रही। देखो, कम्बख्त ने साल-भर में एक खत नहीं लिखा। सचमुच कैसा धोखेबाज़ निकला यह व्यक्ति! पता नहीं, फूल हाथ में लेकर मैं कैसी मजबूर हो गई। दुर्निवार इच्छा हुई कि लाओ, सारा मान-सम्मान तोड़कर उसे एक खत लिखा जाय। जवाब दे या न दे, कम-से-कम यह तो लिख दे कि कहाँ है, कैसा है। और जैसे-तैसे मैं उठी। बिस्तर पर मैंढक बनी पैड सामने रखे, पेन को दाँतों से ठोकती घण्टों खाली काग़ज़ को ही घूरती रही। क्या लिखूँ, सम्बोधन में? 'तेज मेरे,' नहीं, अब वह 'मेरा' कहाँ है? 'तेज डार्लिंग' यह सम्बोधन तो जाने कब का समाप्त हो गया। तो क्या 'तेज' ही लिख दूँ केवल? लेकिन मन के जिस उच्छ्वास में उस समय पत्र लिखने बैठी थी, यह नाम-भर बहुत सार्थक और सम्पूर्ण नहीं लगा। आखिर सीधी लेटकर ताँबे के एरियल की जालीदार पट्टी पर निगाहें गड़ाये, बड़ी देर तक जाने क्या-क्या देखती और सोचती रही। और जब कनपटियों से बह-बहकर कानों में कुछ गीला-गीला लगा तो पोंछने के लिए हाथ बढ़ाते समय ध्यान आया, अरे, हाथ में तो अभी तक पेन ही पकड़े हूँ और यह गीला-गीला

और कुछ नहीं, आँसू है। अपने आप ही निगाहें दरवाज़े की तरफ़ चली गई, किसी ने देख तो नहीं लिया ? फिर कभी और लिखने के लिए पेन और पैड एक ओर सरका दिये...

बीच में तो ऐसा लगा था जैसे मैं तेज-वेज सबको भूल चुकी थी; लेकिन अब तो जब-जब उदय को देखती हूँ या उनकी बात सोचती हूँ, अपने आप ही तेज की याद हो आती है। जैसे एक अदृश्य तुलना है जो दोनों में चलती रहती है। कभी-कभी सोचती रहती हूँ कि नहीं, कुछ नहीं, वह सब तो किशोरावस्था का एक खिलवाड़ था। इस बार तो उदय ने ही उसकी याद को कुरेद दिया था उस दिन।

रेल में बैठे–बैठे उदय ने एक बात पूछी थी: "तुमने कभी किसी से प्रेम किया है ?"

"नहीं जी, हम सीधे-सादे स्टूडैण्ट रहे हैं, हमें ये सब खुराफ़ातें करने का वक़्त कहाँ मिला ?" मेरा बना-बनाया उत्तर था।

उन्हें जैसे मेरे इतने सीधे और सरल उत्तर की उम्मीद नहीं थी। उस समय हम लोग एक दूसरे के प्रति जिस आत्मीयता और मैत्री की छा लेने वाली अनुभूति में डूबे थे, उसने एक ऐसी अण्डर्स्टैंडिङ्ग दे दी थी कि उस क्षण शायद चाहकर भी झूठ की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। मन में एक उच्छ्वास था कि चाहे कुछ न बोला जाय और चुप ही रहा जाय कम-से-कम झूठ न ही बोला जाय। लेकिन इस सवाल का जवाब 'हाँ' में देते नहीं बना—तेज का मोटी-मोटी भौंहों वाला चेहरा आँखों के आगे आ खड़ा हुआ।

"कभी किसी के प्रति घनिष्ठता या आत्मीयता भी अनुभव नहीं की ?" ने खिड़की से बाहर गुजरते बाजारों और बिल्डिगों, नारियल के पेड़ों और ागर को देखते रहे। तेज़ हवा से उनके और मेरे बाल लहरा रहे थे और ार-बार उँगलियों से उन्हें कान के ऊपर सँभालना पड़ता था। यहाँ भी जब पूब रेलें—मैट्रो—बन जायेंगी तो यह सब देखने को कहाँ मिलेगा...? तब । निरन्तर चलती एक सपाट दीवार होगी।

"न्ना !" कहकर मैं ऐसी खोई-खोई देखती रही मानो सचमुच इस तरह किसी सम्बन्ध को याद करने की कोशिश कर रही हूँ। मेरे होंठ यों ही ऽेपन से ज़रा-से खुले रहे। इस पोज़ में मेरा चेहरा बड़ा मासूम और अबोध-ागी से भरा लगता है। सच बात तो यह है कि मैं इस प्रश्न की जाने कब से ीद कर रही थी। हर बार उनसे मिलकर मुझे आश्चर्य होता कि यह प्रश्न ा क्यों नहीं ? सबसे ज्यादा उम्मीद थी मैरीन ड्राइव पर। हर क्षण लगता

जैसे अगला प्रश्न यही है। और आज आखिर वह आ ही गया। लेकिन जिन क्षणों में यह आया है, उनमें इसकी मुझे उम्मीद नही थी। मेरी इस सपाट 'न्ना' पर उन्होंने क़तई विश्वास नही किया है, यह साफ था। मैंने अपनी बात को साफ करने के लिए स्निग्ध स्वर में कहा—"बात यह है कि अभी तक तो हम रहे यू० पी० में। वहाँ जैसी निगरानी और वातावरण का जो स्वरूप है, उसे तो आप जानते ही हैं। वहाँ तो लड़की होना ही मानो पाप है। यही एक अपराध-भावना छाती पर वहाँ हर वक्त छाई रहती है कि हम लड़की हैं; परिचय या सम्पर्क की बात ही नही उठाती।"

बात पूरी करके मैंने उधर कनखियों से देखा।—चेहरे की रेखाओं में मुखर अविश्वास और होठों पर एक ऐसी कुटिल मुसकराहट थी जैसे वे वर्षों पहले से जानते हैं कि इस प्रश्न का कोई लड़की क्या उत्तर देती है। फिर भी हर प्रेम-कहानी में एक लड़की होती है (वर्ना प्रेम-कहानी बने ही क्यों?) आखिर वह आ कहाँ से टपकती है? और किसी लडकी से पूछिए तो—'नही, उसका सम्पर्क लड़कों जैसे दुष्ट-जन्तुओं से कैसे रह सकता है? असम्भव! यह तो उसका पहला ही दुर्भाग्य है कि उसे आपसे बातें करनी पड़ रही हैं। वर्ना वह? वह इतनी नीचे कभी नही गिरी।' और यह सब जैसे उदय की भौंहों की मरोड़, बाहर झांकने से मेरी ओर आ गई कनपटी की हरकत, फडकन सभी से मुखर होता था। ये भौंहें···?

हम लोग ही सीट पर बैठे थे। उनके और मेरे कन्धे आपस मे छू रहे थे—एक मांसल दबाव गाड़ी के हिलने से महसूस होता, रीढ की हड्डी मे कुछ सनसनाने लगता, कन्धों पर गुदगुदी होती, और तब तक बडे बेमालूम ढंग से वे कन्धा हटा लेते या मैं हटा लेती···और फिर···अभी-अभी कैसे हम लोग 'विदेह' बनने की बातें कर रहे थे! शरीर जीतना सचमुच इतना आसान है? आस-पास वाले लोग क्या सोच रहे होंगे? हम लोग बड़ी देर चुपचाप बैठे रहे, जैसे जो कुछ अभी हो चुका है, जिन क्षणो से होकर गुज़रे हैं, उन्हे ही पी रहे हों। नैकट्य की एक घनिष्ठता थी, एक मूक समझौते जैसी चीज कि दोनो के बीच मे अगरु के पवित्र धूम्र की तरह छाई हुई थी। मौन बडा अखर रहा था और उसमें भी यह कन्धो का टकराना, आस-पास की निगाहें, और देर हो जाने से घर का निकट आता भय,—लगा यह सब असहनीय हो जायेगा! जब तक बैठे हैं तब तक तो इसे बहलाये रहे। सामने वाली सीट पर हाथ रख-कर मैं उनकी ओर मुड़कर इस तरह हँसती हुई बोली, जैसे कुछ याद करते-करते स्मृतियों के बीच में बोल रही हूँ: "हां, याद आया। एक बार ऐसा

सम्पर्क हुआ था।"

वे कुछ चौंके। मेरी ओर मुड़कर जैसे विश्वास करने के लिए देखा। उसका मुंह मेरे इतने निकट आ गया था कि मैंने सिगरेट की गन्ध महसूस की। मैं कहती रही: "उसकी तो अभी भी बड़ी याद आती है। उससे मैं सचमुच, बहुत ही घनिष्ठ हो गई थी। बड़ा बातूनी था वह। आकर दुनिया भर की बातें बताया करता। मैं भी जैसे दिन भर उसी की राह देखा करती। आता तो हम लोग एकान्त में खूब गप्पें लड़ाते।" मैं उदय के चेहरे के भावों को लक्ष्य करके बोलती रही। वे पत्थर जैसे चुप बाहर अपलक देख रहे थे। "कभी-कभी वह मुझे अपनी गोद में बैठाकर बांहों में कस लेता।" मैं फिर उन पर प्रतिक्रिया जानने को रुकी। वे स्तब्ध सुन रहे थे। "और इतना चूमता, इतना चूमता कि मेरे गाल लाल हो जाते। मेरी सांस घुटने लगती और मैं छटपटा उठती। जोर से चीख पड़ती।···" मैं फिर रुकी, देखूं अब क्या हुआ? कैसे बुत बने बैठे हैं? भीतर ही भीतर तो कुढ़कर खाक हुए जा रहे होंगे···

कुछ देर बाद उन्होंने पूछा—"फिर?"

"फिर क्या?···बस।"

वे योंही देखते गम्भीर स्वर में बोले—"एक बात इसमें तुम भूल ही गई। उस कहानी में अन्त में एक लाइन और है कि उस समय मैं सिर्फ़ पांच साल की थी।"

और हम दोनों खिलखिलाकर हंस पड़े, लेकिन रेल का ध्यान करके फ़ौरन हँसी दबा ली और लाज से कटकर वे खिड़की से बाहर देखने लगे और मैंने एकदम गर्दन झुका ली···

सूखे फूल को देखकर मैं बलपूर्वक तेज का चेहरा आँखों के आगे लाकर उसी की बात सोचती रही···किसी कचोटते अपराध की अनुभूति की तरह वह हँसी अभी भी कानों में गूंज रही थी···तेज की याद और यह फूल··· जैसे ढाल पर फिसलता हुआ आदमी पुरानी घास की जड़ को मुट्ठी में दबा ले··· एक दिन तेज आकर कहेगा—'देखो, ये मेरी पत्नी हैं रूबी तेज। पहले निकलसन थीं···" और मैं देखूंगी बिल्ली जैसी नीली कंजी आँखों वाला एक चेहरा, क्या देखा, तेज ने इसमें···?

बुधवार : ३ जुलाई

अब मैं सोचती हूं: उस दिन हमलोग इतनी देर चुपचाप बैठे रहे, क्या बातें कीं

हम लोगों ने ? कुछ भी तो नहीं। या बहुत ही ऊपरी और बेकार की बातें करते रहे या चुपचाप बैठे रहे लेकिन लगता है कि उस चुप रहने में भी कोई बहुत बड़ा साझे का रहस्य था जिसे हम लोग आपस में सुलझा रहे थे। और यह प्रयत्न हमें बहुत-बहुत निकट ले आया था। कोई ज़रूरी है कि हर वक्त कुछ न कुछ कहा ही जाय ? कभी-कभी चुप भी तो रह जाता है और यह चुप्पी, एकान्त में पास-पास एक दूसरे की उपस्थिति महसूस करते दो हृदयों की चुप्पी लगातार निरर्थक बोले जाने से अधिक मुखर होती है···

भावों और विचारों के लिए शब्द तो केवल परिधान हैं···कपडे। सौन्दर्य के लिए क्या किसी आवरण की बहुत ही आवश्यकता है ? अपनत्व और आत्मीयता के एकान्त और केवल 'अपने क्षणो मे' जब मन उन्मुक्त और निर्बन्ध होकर सौन्दर्य को पा लेना चाहता है, अपना लेना चाहता है तब भी क्या आवरण की आवश्यकता ही है ? तब क्या आवरण बाधक नही होता ?

आत्मीय घनिष्ठता, शायद कोई परिधान, कोई व्यवधान नही सहन कर पाती। *भावनाओ की एकलयता के उन क्षणो मे शब्द क्यो भावों को ढँकें ? क्यो न* मौन के माध्यमसे हम लोग एक दूसरे को पियें···पायें···निरावरण और निर्व्याज···

बृहस्पति : ४ जुलाई

आज सुबह से ही आसमान मे बदली अँगड़ाई ले रही है। सुबह गहरे गुम आकाश पर पहले सलेटी बादलों की एक मोटी तह थी और उसके ऊपर झीने-झीने रुई के गालों की तरह सफ़ेद धुएँ जैसे बादल मरोडे खा रहे थे···हवा मे एक ऐसा सीलापन था कि मन भीग-भीग उठता था। लगता था, पानी अब बरसा···अब बरसा। जैसे, ऐसे मौसम को जाने कब का बरस जाना चाहिए था, लेकिन यह बरस क्यों नही रहा—बड़ी बेचैनी थी।

सिर्फ़ एक ही पीरियड था, उसे मैं गोल कर गई। एक अजब-सा नशा दिन-भर छाया रहा···*मन की रबर जैसी लचीली डोर को किसी ने खीचकर कहीं* अटका दिया हो, और फिर से अपनी स्वाभाविक स्थिति मे आ जाने के लिए जैसे वह तड़प-तड़पकर रह जाती हो। और मानो नसों के इस अस्वाभाविक दबाव से बचने के लिए मैं दिन मे सो गई। उठी तो लगा सुबह हो गई है। पहले आँखें खोली और फिर एकाध बार बदन तोड़कर भी लेटी रही। बादल उसी तरह घिरे थे। आखिर, उठना तो था ही। उठी और ब्रुश पर पेस्ट लगाकार दाँत

साफ़ करने लगी। बॉल्कनी से झांककर देखा। झुटपुटा हो रहा है। अक्का ने पूछा—"अरे सज्जी, यह नई बात क्यों ?"

"नई क्या ? तुम कब उठ गई आज ?"

"अरे लड़की, पागल तो नहीं हो गई ? घड़ी में तो देख जरा। सुबह नहीं, यह सांझ है···"

हाय···

रह-रहकर उस दिन की बातें, जैसे टुकड़े-टुकडे होकर हवा में तैर रही थीं। उस दिन का वार्तालाप, उस दिन का वातावरण सब आंखों के आगे झलक-झलक उठता···इधर आंखें फेरती तो एक टुकड़ा इधर से तैरती मछली की तरह पास आता, उधर फेरती तो एक टुकड़ा उधर से आता। लगता है मैं जैसे कल्पनातीत रूप से लम्बी हो गई हूं, इतनी ऊंची कि गर्दन से ऊपर का हिस्सा हवा की पारदर्शी लहरों की सतह पर तैर रहा है और वहां से मुझे न तो अपने पांव दिखाई देते हैं, न धरती और उस पर चलते-फिरते लोग। जैसे किसी स्काई स्क्रैपर के ऊपर से झांक रही हूं। वहां से देखती हूं कि ताश के घरों जैसे छोटे-छोटे मकान···न जाने किन आकांक्षाओं की मशीनी गति से परिचालित पुतलों जैसे लोग; चलते-फिरते हैं लेकिन स्वेच्छा से नहीं। मानो मैं उन्हें आज पहली बार देखकर बोल उठती हूं साश्चर्य : "अच्छा, तो ये लोग चल-फिर भी लेते हैं···?" सब-कुछ एक सपना-सा लगता है! सारी दुनिया से बेखबर, बेहोश···

पता नहीं, मेरे पास क्या आ गया है कि मैं भरी-भरी-सी घूमती हूं। किसी भी चीज़ को देखती हूं···देखती रहती हूं और फिर खुद ही मुसकरा पड़ती हूं। डर भी लगता है कि किसी ने मुसकराते तो नहीं देख लिया? सोचेगा, पगला गई हूं। लगता है, अब तक सपने में भटकती हूं, सत्य तो अब पाया है। अभी तक जिन चीजों की ओर ध्यान भी नहीं जाता था वे अब विराट् होकर आती हैं। दीवारें पारदर्शी हो गई हैं···मैं उनके पार देख सकती हूं···। अक्का और पापा को बातें करते देखती हूं, विट्ठू को खाना बनाते देखती हूं। किसी के चेहरे की हल्की-सी मुसकराहट देखकर मानो मैं उसके मुसकराने के अन्तर्तम रहस्य को समझ लेती हूं कि—आदमी कब और क्यों मुसकराता है, क्यों अचानक गाने, गुनगुनाने लगता है। कोई बात क्यों वैसी ही होती है जैसी है, क्यों नहीं उससे अलग होती ?—यह भेद मेरे सामने बिलकुल स्पष्ट हो गया है। आज दिन-भर बादल घिरे रहे हैं : इस तरह बादल क्यों घिरते हैं ?—इस सवाल का जवाब केवल मैं ही जानती हूं। लहरें क्यों दौड़-दौड़कर किनारों से टकराती हैं, इस भेद को भी मेरे सिवा कोई नहीं समझ सकता। एक अजब-सी अन्तर्दृष्टि

मिल गई है, और मन कसमसाता है कि दिव्य-दृष्टि से मुझे जो कुछ भी दीखता है वह सब कैसे और किसे जाकर बता दूँ कि देखो, मुझे क्या दिखाई दे रहा है···'यारी हो गई है' हाय, कैसी भोंड़ी, 'क्रुड' और वहशियाना अभिव्यक्ति है।

मगर नहीं, यह सब···यह सब भावुकता है और मुझे इतना नहीं बहना चाहिए। अब बच्ची भी तो नहीं हूँ। पता नहीं, कैसी एक अदृश्य कील है कि हर सांस के साथ रस्क उठती है और मैं हूँ कि इस प्राप्त सत्य को दोनों बाँहें भर कर भेंट भी नहीं पाती, आत्मसात् नहीं कर पाती। कोई है कि बाँहें थाम लेता है। मन होता है कि खूब रोऊँ···खूब रोऊँ।···क्यों हम किसी चीज़ को मुक्त हृदय से नहीं ले पाते···? क्यों हम टूटे-टूटे और बँटे-बँटे-से रहते हैं···? कहीं दूर हम सपनों में खोये भी रहते हैं और बिल्कुल अलग खड़े हुए देखते भी रहते हैं कि देखो, हम कैसे सब कुछ भूलकर यों खोये हैं ?···यह क्या है ?···यह अंकुश क्या है जो हर दम हर भावना की गर्दन पर रक्खा रहता है···?

पता नहीं कहाँ सुना या पढ़ा था कि चेखव की डायरी में लिखा मिला : "टालस्टाय से सचमुच मुझे डर लगता है। अन्ना कैरेनिना में अन्ना के रेल के नीचे कटते समय का वर्णन करते हुए वह कहता है कि 'अन्ना को अपने अन्तिम क्षणों में ऐसा लगा जैसा अँधेरे में दो तेज़ आँखें उसे घूर रही हैं और ये दो आँखें खुद अपनी ही अन्ना की दो आँखें हैं···' जो लेखक यह लिख सकता है वह सचमुच कितना भयंकर लेखक है···उसकी अन्तर्दृष्टि से आदमी भयभीत नहीं होगा तो क्या होगा···?"

जैसे सूने गुम्बद में लगातार कुछ गूँजता रहता हो···यह गलत है···यह अनुचित है···मैं बहुत ही अवांछनीय कर रही हूँ···

शुक्र : ५ जुलाई—अपराह्न

बगल वाले फ्लैट की जीजा तबक्कले बाल्कनी में खड़ी अपने छोटे बेबी 'भाऊ' को दोनों हाथ ताने सिर के ऊपर उठाये है। कभी प्यार में आकर उसके सिर से अपना सिर मिलाती है, कभी उसकी आँखों में लगातार देखती-देखती कहीं दूर खो जाती है। भाऊ जाँघिया पहने है···गोरा गदगदा शरीर···बार-बार जीजा प्यार से दाँत मिसमिसाकर उसे मसलती है, गुदगुदाती है और तरह-तरह के स्वर निकाल-निकालकर अपनी समझ में बातें करती है। 'भाऊ' जीजा के दोनों हाथों में टँगा टुकुर-टुकुर उसे देखता है, और जब वह उसे मसलती है तो आँखों

में आंखे डालकर किलकारी मारकर हँस पड़ता है। कैसी डूबी है जीजा, कि इसे न तो आने वाले का होश है न जाने वाले का···। और मैं मुग्ध उसे देखती रहती हूँ···खुद भी उसी दृश्य में डूबी और लीन···मुंह खोले मुसकराती रहती हूँ। जब वह उसे ऊपर उछालती तो मेरा कलेजा मुंह को आने लगता—हाय, कहीं गिर न पड़े! फिर बड़ी देर बाद ध्यान आता है कि 'अरे मुझे यह हो क्या गया है?' और तब मैं झेंपकर ऐसे देखती हूँ जैसे कुछ वर्जनीय कर रही हूँ··· वर्जनीय···वर्जनीय···

आज सुबह तबीयत ढीली है, और बदन बहुत टूट रहा है।

रात्रि : १०,४५

हमारे सामने पार्क में आज दिन-भर फ़ुटबॉल मैच होता रहा, और मैं एक अजीब-सी दिलचस्पी से डूबी उसे देखती रही। इतने लोग एक साथ मिलकर यों योजनाबद्ध रूप से कोई खेल खेलें मानो यह दृश्य मेरे लिए एकदम नया था···

मुझे लगता है, जैसे मैं दो हो गई हूँ। एक उदय के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चेहरे पर सागर की फुहारों की आर्द्रशीतलता अनुभव करती है तो दूसरी खड़ी-खड़ी घूरती है : "हूँ, तो आप जनाब यों बैठी हैं? बेशर्म! कोई देख ले तो? मान लो पापा ही इस गाड़ी से घर जा रहे हों तो···?" मेरी चेतना कई खण्डों में बिखर गई है···। कभी किसी को हँसता-मुसकराता देखती हूँ तो लगता है जैसे मैं इसके हृदय के अन्तर्तम को जानती हूँ कि इसकी हँसी के पीछे क्या है? क्यों यह हँसता है? सिनेमा देखती हूँ तो जैसे नायिका के अन्तस्तल की भावनाओं को जितनी अच्छी और सही तरह मैं जानती हूँ, कोई भी तो नहीं जानता। वह सुखी होती है, अपने प्रिय से मिलती है, तो लगता है मानो मैं ही तो वह सुख भोग रही हूँ, मैं ही तो वह मिली हूँ। अगल-बगल की सीटों पर बैठे स्त्री-पुरुष (आज सुबह के शो में हम बँगला सिनेमा देखने गये थे) 'हारानो शूर' की नायिका की किस प्रतिक्रिया को किस रूप में ग्रहण कर रहे हैं, मानो यह मुझे ही तो अच्छी तरह पता है। मनुष्य कब और क्या, क्या सोचता है, इस चीज़ को मैं स्क्रीन पर उभरती लहरों की तरह देख-पढ़ सकती हूँ···हर चीज के आर-पार देखने की शक्ति मुझे मिल गई है।

साथ ही इस बात का भी होश है कि बहुत केन्द्रित हो गई हूँ मैं अपने आप में। मैं बात करती हूँ तो लगता है कि यह बात करना झूठ है, मुझे इस बात

को कहने की न आवश्यकता है न दिलचस्पी। बोलते-बोलते कुछ ऐसी असम्बद्ध बात ध्यान हो आती है कि वाक्य टूट जाता है और फिर बटोरकर लाना पड़ता है। सुनते-सुनते मन छिटककर कहीं दूर चला जाता है, और मैं चकित-स्तब्ध आँखों से निहायत अपरिचित की तरह सामने देखती रहती हूँ···मेरे आस-पास क्या हो रहा है, मुझे इसका ध्यान ही नहीं रहता। मुझे कुछ भी सुनाई देना—कुछ भी दिखाई देना बन्द हो गया है···। मैं सचमुच अन्धी हो गई हूँ··· स्तब्ध !

मैंने उदय से कहा था कि नहीं, मैं इससे पहले कभी किसी पुरुष के सम्पर्क मे नही आई। ठीक ही तो कहा था—उसमें झूठ कहाँ बोली मैं ? मुझे पहले कब लगा था कि मैं किसी के खयालो मे खोई-खोई नारी हूँ। यह सब मैंने पहले अनुभव कहाँ किया ? जो कुछ आज हर क्षण मेरे साथ हो रहा है, ऐसा पहले कभी कहाँ हुआ ? मुझे ऐसा कब लगा, जैसे मैं एक ऐसी नदी में स्नान कर आई हूँ कि मेरा 'कायाकल्प' हो गया है और मैं फिर एक अबोध किशोरी हो गई हूँ···जो शेष सारे संसार को मुग्ध और विस्मित दृष्टि से देखती है···? मैं तो एकदम नई और कोरी स्लेट की तरह उदय से मिली हूँ···। साथ ही साठ साल की बुढ़िया को मैंने आज से पहले ऐसी स्पष्टता से कब देखा था जो मेरे मन मे बैठी, मेरी और उदय की हर हरकत, हर गतिविधि को देखती है—उसका अर्थ और आशय समझती है और बार-बार अपना पोपला मुंह बिचका-बिचकाकर कहती है : "हुँह, वही सब तो चल रहा है जो सबके साथ चलता है, हमेशा से चलता रहा है। वही सब बने-बनाये सवाल, जवाब, वही अनुभूतियाँ और वही समवेदनाएँ ! कहीं भी तो कुछ ऐसा असाधारण और असामान्य नही है कि उसे नया बनाया जा सके ! अनादि-काल से चलता आया वही घिसा-पिटा ढंग···हजारो कहानी-उपन्यासो और सिनेमाओ मे यही सब तो आ चुका है···।" और उस पन्द्रह साल की बच्ची मे इतनी ताब नही है कि इस बुढ़िया की आँखों से आँखें मिला सके। वह हकलाकर बडी कठिनाई से कहना चाहती है···"नहीं, यह सब देखने में चाहे जैसा लगे ऊपर से, लेकिन वह सब नही है, जैसा होता आया है। इसमें एक ऐसी नई बात है, एक अछूतापन है जिसे सिर्फ मैं ही अनुभव कर रही हूँ···। न कह सकती हूँ, न दिखा पाती हूँ···लेकिन निश्चय ही वह आज तक की सारी अनुभूतियों और भावनाओ से अलग है, विशेष है···और वही नही है।"

बुढ़िया डपट देती है : "चल हट्ट, सभी को अपनी अनुभूतियाँ विशेष और खास ही लगती है···आखिर कुछ तो आगा-पीछा सोचना चाहिए···।"

लेकिन सारे दिन, आपस में लड़ती हुई वह किशोरी बच्ची और बुढ़िया दोनों ही समान उत्कण्ठा से राह देखती रही की उदय का फ़ोन अब आता है···अब आता है। मगर वह नहीं आया···। बुढ़िया तलखी से पूछती है—"क्यों री, उदय ने अभी तक तेरी उम्र नहीं पूछी ?" और मैंने देखा कि वह किशोरी बालिका सहसा ही अदृश्य हो गई है···। हाय, कहाँ गई वह ?

शनिवार : ६ जुलाई

प्रिंसेस अपर्णा और उदय ! ···मानो मेरीचेतना की डोर इन दो खूँटियों पर ही टँगी हो ! ···मैं बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि प्रिंसेस अपर्णा और उदय की बहन अपर्णा दो अलग व्यक्ति हैं···वे एक हो ही नहीं सकते; फिर भी चूंकि इन दोनों को जानने का केन्द्र मैं हूं, वे दोनों मेरी चेतना के ही दो छोर बन गये हैं। इसलिए आपस में इन दोनों में मुझे घनिष्ठ सम्बन्ध लगता है। दोनों का मुझसे परिचय कैसे आकस्मिक रूप से साथ ही साथ हुआ है। और दोनों ने ही कैसे वेग से मुझे आच्छादित कर लिया है कि लगता है—पहले मेरा किसी से कभी कोई सम्पर्क रहा ही नहीं। मैं पहला सब कुछ भूले चली आ रही हूँ···। कभी-कभी सच, बड़ी झुंझलाहट आती है···खीझकर कटखने कुत्ते की तरह झल्ला उठने को मन करता है : यह बैठे-बिठाये क्या मुसीबत मोल ले ली···? अब तो जैसे कुछ और सोचने और करने को रह ही नहीं गया हो···। मन पर इतने बोझ और व्यस्तता का अनुभव होता है कि लगता है यह सब मुझसे अकेले सँभलेगा नहीं, लेकिन आखिर किसे इसमें हिस्सेदार बनाऊँ ? किसे बाँट दूं ?···हँसी भी आती है कि क्या अजब सम्पर्क हैं दोनों ही मेरे ये ! एक को टिकट के लिए चवन्नी देनी पड़ती है और एक की फ़र्लांग-भर लम्बी गाड़ी मुझे लेने आती है। कैसा विरोधाभास है ! ये दोनों सम्पर्क क्या मेरे लेखन और जीवन की दिशा बदलने आये हैं ? आशंका से मन सिहर उठता है कि दोनों ही पता नहीं किन अनजान राहों पर छोड़ जायँगे मुझे ! दोनों से परिचय का माध्यम मेरी कला है, लेकिन दोनों के परिचय के बाद से मैंने कुछ भी तो नहीं लिखा। जैसे नई दुनिया में आकर मनुष्य की चेतना स्तब्ध हो जाती है, वैसे ही मैं समझ नहीं पाती कि क्या लिखूं ?

रविवार : ७ जुलाई

उस दिन के जादू का ज्वार आज उतर गया है। कल तक तो ऐसा लगता था कि अथाह कोलाहल से भरे ऐसे रेस्तरां के बीच में अकेली बैठी हूँ जिसमे हर कोई अपनी ही अपनी कह रहा है—उसे देखने या दूसरे की सुनने की फुरसत ही नहीं है। आज मैं तटस्थ होकर सोच सकती हूँ कि हाँ, मेरा और उदय का, मेरा और प्रिंसेस अपर्णा का एक समान धरातल, अर्थात् मिलने का आधार लेखन ही है और मुझे हमेशा ही इस बात का ध्यान रखना होगा। वर्ना हमारी और उन लोगों की क्या दोस्ती ? उदय को ही लूँ, न तो वे देखने में ही ऐसे सुन्दर, प्रभावशाली, न सामाजिक दृष्टि से ऐसे प्रतिष्ठित···आर्थिक दृष्टि से तो कहना ही क्या। एक उखड़ा हुआ हवा मे उडता बीज जो अपने लायक धरती खोजने में खुद यहां से वहां भटक रहा हो···! वह कैसे मेरी भावनाओं को यों उकसा सका ? आज मुझे सुबह से ही अपने ऊपर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। कल, परसों और पिछले दिनों की डायरी पढी तो मन हुआ कि फाडकर फेंक दूं। क्या बकवास लिख मारी है मैंने भी···? सच, वह सब क्या मैं ही थी ? कैसे सोच सकी, उसे लेकर यह सब बातें ? जैसे निरन्तर खिंचती चली आती कोई स्वप्नावस्था हो। शायद कभी नहीं देखा, इस निगाह से तो मैंने उन्हें—ऐसे व्यक्ति के साथ तो दो दिन में ज़िन्दगी नरक बन जाय ! माना कि वे प्रतिभाशाली हैं, और उनके व्यक्तित्व में एक आत्म-विश्वास की दृढ़ता है, लेकिन उस सबको मैं उनकी रचनाओं के ही माध्यम से तो ज्यादा अच्छी तरह जान और पा सकती हूँ। मैं भूल जाती हूँ कि हमारे और उनके बीच का सेतु वे नहीं, उनकी रचनाएँ ही हैं···

और रचनाएँ ही डोरी हैं राजकुमारी अपर्णा और मेरे बीच में। वर्ना दो विरोधी लिंग के होने के नाते, हो सकता है मैं और उदय एक दूसरे की ओर आकर्षित हो भी ; लेकिन राजकुमारी से तो ये सम्बन्ध और भी औपचारिक हैं। अरे, मैं यह कैसे मानने लगी हूँ कि वह मेरी मित्र है—? मेरी और उनकी समानता की कॉमन-भूमि कहाँ है ? हो सकता है यह मेरा हीन भाव ही हो कि मैं उदय से अपने को ऊँचा समझने मे और राजकुमारी को अपने बराबर लाने की कल्पना मे ही सन्तोष पाती हूँ, या दोनो से ही कोई ऐसा स्वार्थ साधना है कि सम्बन्धों मे असन्तुलन होते हुए भी मैं दोनों को उलझाये हूँ। अपना तटस्थ विश्लेषण करके मैं अपने भीतर उस स्वार्थ-भावना को पाती हूँ, इसे मैं पहले भी स्वीकार कर चुकी हूँ···

और जब यह बोझ मुझ अकेली से नहीं सहा गया तो मैं रेखा के यहाँ पहुँची। "तुझसे एक बड़ी ज़रूरी सलाह लेनी है रेखा। मैं इन दिनों बड़ी परेशान हूँ।"

"सो तो सभी को दीख रहा है। कुछ हो हुवा गया क्या? कोई हरकत कर बैठे या उदय जी ने पैसों की माँग रख दी?" फिर ताने के स्वर में कहा—"शुकर है, उस मुसीबत का ही, कि आप दीखीं तो सही, वर्ना हमने तो सोच लिया था कि न हम बड़े लेखक हैं न राजकुमारी। आजकल आप ज़रा 'वी० आई० पीज़' (वैरी इम्पोर्टेण्ट पर्सन्स) से ही मिलती हैं न।"

मुझे गुस्सा आ गया। बेकार आई इस मूर्खा के पास। कम्बख्त सहानुभूति से सोचना तो जानती ही नहीं। हर वक़्त वही जहरीली और तानेबाज़ी की बातें। कोई और बात ही नहीं। मैंने तो कुढ़कर कह दिया: "अगर सलाह नहीं दे सकती तो छोड़ बात को एकदम। यों जी क्यों जलाती है?"

बात कुछ मैंने ऐसी आजिज़ी से कही कि शायद उसे कुछ अपनी तानेकशी पर पछतावा हुआ। बोली: "तू जी को लिये फिरती है, यहाँ चिन्ता के मारे सूख-सूखकर आधे रह गये कि कैसी अच्छी लड़की थी। भगवान् उसकी आत्मा को शान्ति दे।"

आँखें छलछला आईं: "तू भी समझती है कि मैं बहक गई हूँ रेखा? सच?" और कुछ देर चुप रहकर मैंने उसके सामने स्वीकार किया, "मैं स्वीकार करती हूँ कि हमारे बीच का अर्थात् परिचय का जो माध्यम था उससे हटकर मैं अब व्यक्तियों पर केन्द्रित हो गई हूँ। यानी राजकुमारी खाती क्या है, रहती कैसे है—उसका पिछला जीवन क्या है—मेरा ध्यान सिर्फ़ इन्हीं बातों पर केन्द्रित हो गया है। यही हाल उदय के साथ है। पता नहीं क्यों, मैं इस बात को अब याद ही नहीं करना चाहती कि व्यक्ति उदय न तो मेरे परिचय का लक्ष्य था न आधार..."

इस बार रेखा गम्भीर हो गई: "लेकिन मुसीबत तो यही है कि व्यक्ति और उसके गुणों को तू अलग-अलग दो वस्तुओं के रूप में देखती है। मानो गुण की एक अलग सत्ता हो और व्यक्ति की अलग; और दोनों दो रसायनों की तरह किसी एक प्राकृतिक संयोग से आपस में मिल जाते हों। जैसे हमसे पिछली पीढ़ी के लोग सोचा करते थे कि 'पाप' एक अलग चीज़ है जो कहीं किसी अनजान बुरी जगह में रहती है, और 'पापी' एक निरीह व्यक्ति है जो किसी दुर्भाग्य से इस 'पाप' की शैतानी चपेट में आ गया है और कष्ट पा रहा है। वे लोग यह समझने की तक़लीफ़ नहीं करते थे कि पाप का एक सामाजिक आधार है, वहीं वह पनप सकता है।"

उदास बेबसी से मैं बोली : "यह सब दर्शन-शास्त्र सुनने का मूड नहीं है। यह ठीक है कि मैं गुणों की डोर पकड़कर व्यक्ति तक जा पहुंची हूँ, लेकिन अगर सच पूछा जाय तो उसमे मेरा अपना ही स्वार्थ शायद अधिक है। यों मैं भी जानती हूँ कि प्रिंसेस चाहे तो बीस सहेलियां मेरी जैसी बना ले, उसे क्या कमी ? हो सकता है मेरे दिमाग में यह भी हो कि राजकुमारी की मित्र बनकर मैं किसी रूप मे उसका कुछ लाभ भी उठा लूँ। यही तुम उदय के बारे में भी कह सकती हो। मैं यह नही कहती कि उदय को मेरी कम्पनी बुरी लगती है। मैं उनकी वकालत नही कर रही ; लेकिन वे साहित्यिक हैं, इसलिए उन्ही पर इस बारे मे 'ढीला' होने का फ़तवा क्यों दिया जाय ? विरोधी सेक्स की कम्पनी या साथ किसे बुरा लगता है ? अपने कॉलेज मे ही देख लो, प्रो० कुलकर्णी और देसाई की क्या हालत है इस उम्र में ? वे तो साहित्य नही पढ़ाते ? एक अर्थ-शास्त्र पढाता है, दूसरा फिलॉसफी। मैं यह भी अब अच्छी तरह जान गई हूँ कि उदय का सम्बन्ध दो-तीन लड़कियों से काफी घनिष्ठ है : हो सकता है, यही वजह हो कि मैंने उसमे किसी भी तरह की 'पहल' या इनीशियेटिव का अभाव पाया है। बडा आत्म-तुष्ट, अपने मे ही डूबा, और कद्रे दम्भी-सा व्यक्ति भी कह सकते हैं। खैर, अपनी वह जाने, मैं तो अपनी बात कह रही थी। मैं हमेशा ऐसा महसूस करती रही हूँ कि मुझे लिखने में प्रोत्साहन देने, पथ दिखलाने के लिए एक व्यक्ति चाहिए जो इस रास्ते मे पडने वाली उलझनों से मुझे आगाह करे और हो सके तो मेरी मदद करे। इसमें सब कुछ होते हुए भी उदय ने ही मुझे अपनी ओर खींचा। सुनकर मुझे गुस्सा जरूर आया, लेकिन वही पहला व्यक्ति था जिसने मेरी कहानी पढ़कर अपनी बेबाक राय दी थी…"

मेरे आत्म-प्रवाह से बोर होकर वह बोली—"यह तो सब ठीक है, लेकिन मुसीबत आखिर क्या आ खडी हुई ?"

"स्थिति अब कुछ ऐसी हो गई है कि लगता है मेरा सारा उद्देश्य इन लोगों के व्यक्तित्व तक पहुँचने का साधन मात्र था।"

"मेरी समझ मे नही आता कि इसमें उलझन कहाँ है ? अगर तुम समझती हो कि व्यक्तियो तक पहुँचना खतरनाक है, लेखक उदय की अपेक्षा व्यक्ति उदय बेकार है, तो छोड़ो पीछा और वापस लौट आओ। जन्म-पत्री में तो विधाता ने लिख ही नहीं दिया था कि व्यक्ति उदय से ही दोस्ती करनी है। लडको से ही दोस्ती करनी है तो कालेज मे क्या कमी है…? यही उलझ जाओगी तो पुराने लोग क्या करेंगे आखिर ?" अन्त तक पहुँचते-पहुँचते

के स्वर में फिर परिहास आ गया—"बस, शर्त यही है कि यहाँ मामला कुछ गहरा न हो गया हो···"

"गहरा है खाक।" मैं बोल पड़ी। कुछ देर तक तो मैं ठगी-सी उसे देखती रही। उससे भी ईर्ष्या हुई। बात को कैसे सुन्दर ढंग से रखा है—मैं नहीं रख पाती ऐसे। कैसे सीधे ढंग से वह हर समस्या का रेडीमेड हल तैयार कर डालती है, वैसा मैं क्यों नहीं कर पाती? मानो इसके जीवन में भावना और भावुकता का कोई स्थान ही न हो।

वह मेरी ओर इस तरह देखे जा रही थी, जैसे उसने विश्वास न किया हो। हठात् कुछ कहते-कहते रुक गई। उसकी निगाहों की चुभन मैंने अपने चेहरे पर महसूस की। अजब वितृष्णा मन में फुफकार उठी। यह कम्बख्त क्या कभी गम्भीर होती ही नहीं है? कम-से-कम यह तो इसे सोचना चाहिए कि मैं उससे एक सलाह लेने, अपना जी हल्का करने आई हूँ। कुछ न करे, चुपचाप सुनती ही रहे, बस। लेकिन अब इसका दाँव है, छोड़ेगी क्यों? कैसी असहाय हूँ मैं!—अकेली और अनाथ। कोई भी तो नहीं है जो मेरी बात समझता हो, जिससे ईमानदारी से सलाह ली जा सके; या एकदम खुलकर उन्मुक्त और निर्व्याज हृदय से बात-चीत की जा सके। पहले, चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में जैसा एक अकेला और अनाथपन महसूस किया करती थी, ठीक वैसी ही अनुभूति इस समय हो रही थी। उदय से बातें करते समय कम-से-कम मन में एक आश्वासन, एक सन्तोष तो होता है···

उस दिन क्या-क्या बातें हम लोगों ने नहीं कर डालीं? इधर एक अजीब बात हुई है। मेरे दिमाग़ से वे सब वार्तालाप और वाक्यों के टुकड़े मानो एकदम उड़ गये हैं—बस, कुछ धुंधली-सी तस्वीरें कभी-कभी कौंध जाती हैं···गहरा अँधेरा···दो-तीन तारे···मचलता सागर, धनुषाकार चली जाती रोशनियाँ···मैरीन ड्राइव पर हल्के-हल्के क़दमों से चली जाती मैं···साथ में कोई और है···सिर्फ़ छाया है, शरीर नहीं है शायद; लेकिन लगता है कि साथ-साथ चल रहा है। एक जगह हम लोग देखते हैं: एक लड़का और लड़की बैठे हैं··· लड़की का पल्ला गोदी में आ गिरा है और चुस्त ब्लाउज़ पहने उसकी पूरी पीठ खुली है। दोनों चोटियों को उसने आगे कर रखा है, तभी लड़के का हाथ उसकी पीठ पर होता हुआ कन्धे पर आ रहता है···। दूसरी तस्वीर···दोनों हाथों में शंख की तरह नारियल पकड़े लड़की नारियल पी रही है और अपना नारियल हाथों में पकड़े लड़का उत्सुक मुद्रा में उसे देखे जा रहा है, फिर झटककर नारियल फेंक देता है···। कितना साफ़ दीखता है

मुझे अँधेरे में भी···दोनों के चेहरों का भाव कितना स्पष्ट और सूक्ष्म मुझे दिखाई दे रहा है। एक बड़ी अद्भुत बात रह-रहकर मन में मचलती है··· पहली बार जब वह मन में आई थी तो मैं खुद चौंक उठी थी। जिस तरह की मन स्थिति और मानसिक प्रसग में यह बात आई थी उसमें ऐसी बात बड़ी बेमौके उभरने वाली थी···। वह अँधेरा···वह एकान्त···वह साथ··· और उस आदमी के दिमाग मे एक बार भी नही आया होगा कि जोर से बाँहो में भरकर मुझे चूम ले···? बस, लड़की की तरह कन्धे पर हाथ रख लिया···! कही···कही···? आगे बात सोचने की हिम्मत नही पड़ी···और मैं मन की बात के लिए शब्द ही खोजती रही फिर खुद ही अपनी बात पर लज्जा से चेहरा लाल होकर झनझना आया···। कैसी-कैसी बातें आती हैं मेरे दिमाग में भी···!

ध्यान आया हम लोग काफ़ी देर से चुप-चाप बैठे हैं। एकदम अपने को समेटकर बोली, "अब चलूँगी, रेखा !"

"अरे, बड़ी अजीब है तू भी···! मैंने सोचा, तू मेरी बात का जवाब सोच रही है।" इस बार उसे मेरा यह व्यवहार शायद कहीं छू गया। चेहरे पर सहानुभूति लाकर बोली—"तो फिर क्या तय रहा ?"

"किसका ?" उठने-उठने को होकर बोली।

"यही उदय और अपर्णा का ?"

मैं ढीली होकर फिर बैठ गई। गहरी साँस लेकर फिर कहा : "भई, अपनी तो वे जानें। हमारी तरफ से कोई ऐसी बात नही है। मुझे भी अब यही लगता है कि व्यक्तियों पर अपने को केन्द्रित कर डालना शायद बहुत अच्छा न रहे। ···"फिर अपलक सूनी आँखों से एकटक देखती बोली · "लौटना ही है···और कोई चारा भी तो नहीं। यों जगह-जगह उलझती रहूँगी तो कैसे चलेगा···? तुम लोगों ने वैसे ही फ़्लर्ट कहकर बदनाम कर दिया है। इम्तहान सिर पर है···। सोचती हूँ शायद डिवीज़न बन जाये। और इस सबसे लिखने का बड़ा नुकसान होता है। इन लोगों के परिचय के बाद एक लाइन भी तो मैंने नही लिखी। कुछ न कुछ अब जल्दी ही लिखना है। पहले एक बात मन मे आई थी, वह भी इसी सब उलझन मे चल नही सकी। निश्चय किया कि इन्ही का खूब अध्ययन करके लम्बी कहानी इन्हीं लोगों पर क्यो न लिख डाली जाय···" मुझे फिर अपना निश्चय याद आ गया।

"ठीक है, आइडिया तो बुरा नही है। करैक्टर भी दिलचस्प ही है दोनो।" रेखा ने 'दिलचस्प' कहा, 'अच्छे' क्यो नही कहा, यह मैं जानती हूँ। उदय को

वह पसन्द नहीं करती।

"सारी दिक्क़त तो यही है। करैक्टर कोई ताजमहल तो होता नहीं है कि आप गये, ग़ौर से देखा, डिटेल्स नोट किये और घर आकर लेख लिख डाला। वे तो जीवित लोग हैं। उनकी आदतें जाननी पड़ती हैं, रहन-सहन, पिछला इतिहास, आगे की आकांक्षाएँ सभी कुछ तो समझना पड़ता है। तुम जानती हो, यह सब इकतर्फ़ा होता नहीं है। मुसीबत यह है कि आप जब व्यक्तिगत दिलचस्पी लीजिए, तो दोनों तरफ़ से ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती है।" परेशानी की स्थिति में भी यह बात याद हो आई तो उभरती मुसकराहट दबाकर बोली, "उदय कहते हैं कि लेखक को बड़ा क्रूर होना चाहिए··· । यानी अपने 'विषय' में व्यक्तिगत रूप से बहुत गहरे उतरकर और चाहे जैसी व्यक्तिगत दिलचस्पी रखते हुए भी उससे दुश्मनों जैसी तटस्थता निबाहने की निर्दय क्षमता होनी चाहिए। और इसमें वह खुद अपने-आपसे भी वैसी ही दुश्मनी निबाह सके, अर्थात् अपने को ज़रा भी पक्षपात न देकर शेष पात्रों के बराबर ही मान-स्थान दे। अपने आपको अपने से अलग होकर देख सके···"

हठात् मैं बोलते-बोलते चुप हो गई···अरे, मैं ख़ुद भी तो इसी रोग से परेशान हूँ। हमेशा अपने-आपको अपने से अलग होकर देखती रहती हूँ···और यह निस्संगता, यह अलगाव कहीं भी तो मुझे रमने नहीं देता। इस समय मुझे खुद अपने पर सन्तोष और आश्चर्य हुआ कि किन-किन अद्भुत क्षणों में मैंने उदय की हर हरकत, हर गति-विधि, के गूढ़तम अर्थों को स्पष्ट देखा है, उनके हर मनोभाव को खुली किताब की तरह पढ़ा है। खुद अपने को एक खुली किताब की तरह जाँचते पाया है। सचमुच अगर तटस्थ का अर्थ यही है तो मुझमें निश्चय ही एक प्रथम श्रेणी की लेखिका की तटस्थता है। उस क्षण मुझे स्पष्ट लगा कि अगर मैं चाहूँ, थोड़ा-सा और परिश्रम कर लूँ तो विदेशों जैसी प्रथम श्रेणी की लेखिका बन जाना कोई बहुत मुश्किल काम तो नहीं है। एक आश्वासन भी मिला कि अभी तक मैं चाहे जितना अपने और उदय को लेकर उलझती रही होऊँ, अब मैं तटस्थ होती चली जा रही हूँ। इस ज्ञान से मेरे इस विचार को और भी बल मिला कि मैं अब उन पर अधिक अच्छी तरह लिख सकूँगी···।

मुझे चुप होता देखकर थोड़ी देर तो रेखा ऐसे देखती रही कि मुझे कुछ सोचने का अवसर दे रही है, कि मैं शायद आगे कुछ बोलूँगी···लेकिन जब देखा कि मैं कुछ भी नहीं बोल रही तो खुद ही हँसकर बोली : "अच्छा है, मियाँ की जूती मियाँ के सर। वह भी क्या याद करेगा किसी लेखिका से पाला पड़ा है।

पर कहीं उसने ही तुझपर कुछ लिख-लिखा डाला तो ?"

"अरे जा, वह क्या खाकर लिखेंगे। ये वो रहस्य है कि उनके बड़े-बड़े पुरखे 'दैवो न जानाति !' से आगे कुछ नहीं कह पाये···"

लेकिन उसकी बात से मेरा शरीर बेवस फुरहरी से रोमांचित हो आया। अंग-अंग इस तरह सिहरकर काँप उठा जैसे किसीने सारे कपड़े उतारकर भरे बाज़ार में खड़ा कर दिया हो। एक क्षण को लगा कि उदय की वह निर्जीव तटस्थता, डूबे-डूबे रहने का बहाना, यह अपने आप ही मुझे देखते-देखते कहीं खो जाना, सब कुछ एक सर्द-दिल डॉक्टर का अध्ययन ही तो है ? नहीं···नहीं··· ऐसा होता तो मैं कहीं न कहीं तो अब तक उसे पकड़ ही लेती। मन के नहीं-नहीं करने पर भी जाने क्यों मुझे ऐसा विश्वास होता गया कि हो न हो वे मेरा अध्ययन कर रहे हैं···। असावधानी में मैं जाने कैसे-कैसे उनके सामने व्यवहार कर बैठी हूँ, पता नहीं क्या-क्या बातें उन्होंने नोट कर डाली होंगी ? मैं भी बड़ी बेवकूफ हूँ···। जब जानती हूँ कि इन 'लेखकों-वेखकों' से सँभलकर पेश आना चाहिए—ज़रा संयत व्यवहार करना चाहिए। मुँह बिचकाकर मैंने जवाब दिया : "लिख डालें। आखिर कोई इस लायक समझे तो सही।" लेकिन भीतर ही भीतर एक ऐसी बेचैनी थी जैसे असावधानी से कोई आपका फोटो खींच लें और आपको रह-रहकर ध्यान आये कि जाने कैसा आया होगा। थोड़ी-थोड़ी देर बाद मचलन-सी मन में उठे कि उसका प्रिंट देखूँ। नहीं, ऐसा धोखा उदय नहीं देंगे···। फिर उस आशंका को निर्मूल करती-सी मैं कहती रही : "इन लेखकों-वेखकों से दोस्ती करना भी बड़ा ख़तरनाक है। मान लो, सज्जनता-वश और कुछ न करें तो आपके ऊपर कुछ लिख ही डालें ! लो, और मरो ! फिर हमेशा-हमेशा आपको यह महसूस हो कि एक जासूस आपके पीछे लगा है और आपकी हर हरकत पर उसकी तीखी निगाह है, आपके हर भाव को वह पढ़ रहा है ··तो क्या बड़ा भिंचा-भिंचा-सा नहीं लगता···? व्यवहार में वह खुलापन रह ही नहीं पाता ···। हमेशा कैमरे के सामने पोज़ देने जैसी काशसनैस !"

हम दोनों कुछ देर चुप रहीं।

"फिर भी एक बात मैं कभी-कभी सोचती हूँ सुजाता—" इस बार रेखा के स्वर की भावाविष्टता ने मुझे चौंका दिया। अचानक उसकी आँखें बड़ी सपनीली हो उठी थीं। "एक बार मैं कलकत्ते गई थी। जिनके यहाँ ठहरी, उन्होंने एक दिन कहा—'आओ चलो, तुम्हें शरत् के चरित्र-हीन की किरणमयी से मिला लायें।' मैंने पूछा—'कौन किरणमयी ?' कहा—'वही जिसके आधार पर शरत् ने चरित्रहीन की 'किरणमयी' गढ़ी। वह स्त्री अभी जीवित है और

शरत् के बारे में बहुत-सी बातों का उसे पता है।···खैर, और झंझटों की वजह से जा तो नहीं पाये; लेकिन मैं बड़ी देर तक सोचती रही कि शरत् ने जो सारी स्त्री-पात्रियाँ हमें दी हैं निश्चय ही उनके पीछे कोई न कोई जीवित सजीव नारी रही होगी। उनमें से किसी ने जब अपने को इस रूप में उपन्यास में देखा होगा तो कैसा लगा होगा उसे ? मैं बहुत सोचती हूँ कि ये कलाकार-वलाकार जिनसे प्रेरणा लेकर अपनी कृतियाँ देते हैं, वे खुद अपती मूर्तियाँ, चित्र और चरित्र देख-देखकर कैसा महसूस करती होंगी ? मेरा तो बड़ा मन होता है कि कोई मुझसे प्रेरणा लेकर कुछ लिखे तो देखूँ कैसा लगता है मुझे···? मोना-लिज़ा को अपना मुसकराता चेहरा देखकर कैसा लगा होगा···जाने ?"

मेरा तो मुँह खुला-का-खुला रह गया। अरे, यह वही रेखा है क्या ? आज इसे क्या हो गया है यह ? इच्छा हुई, जोर से दोनों हाथ माथे पर मारूँ, 'हाय रेखा, तेरे भीतर भी वही अनादि विरहिणी नारी बैठी है ?' कम्बख्त, तू भी अनजान रूप से कवि ही निकली···! कभी-कभी तो तुझे देखकर कितना रश्क होता है कि काश, ऐसी ही निर्द्वन्द्व मैं भी हो पाती।···ऊपर से रंग, रोगन चाहे जो हो···हम लोग सभी क्या भीतर से एक ही मिट्टी की बनी हैं ?

सोमवार : ८ जुलाई

···रेखा ने विषय बड़ा ही सुन्दर दिया है। इस पर तो एक अच्छी-खासी कहानी लिखी जा सकती है। कैसा लगता होगा उन 'प्रेरणाओं' को ? लेकिन कुछ फ्रेंच चित्रकारों के बनाये चित्र तो मैंने एकदम नंगे ही देखे हैं···! उनकी 'प्रेरणाएँ' यों अपने-आपको खुली प्रदर्शनियों में 'नंगा' देख-देखकर कैसा-कैसा महसूस करती होंगी ? लज्जा से आत्म-हत्या कर लेने का मन न करता होगा उनका ? लेकिन सुनते हैं, हमें (नारी को) जो अपना 'नंगापन' लगता है वही दूसरों के लिए 'सौन्दर्य और कला' का माप-दण्ड बन जाता है···। आगे वाले सुन्दरता को उसी कसौटी पर कसते हैं···। नंगापन भी तो सभी जगह एक-सा नहीं है। कहीं टखनों तक का दीखना घोर बेशर्मी है और कहीं जाँघों तक का खुलापन नंगेपन की कोई भावना पैदा नहीं करता। तब क्या जो कुछ सुन्दर है, जो कलापूर्ण है, उसमें 'नंगापन', 'लज्जास्पद' या 'वर्जनीय' नाम की कोई चीज़ नहीं होती ? कहते हैं 'आत्मीय' या घोर 'अपने' क्षणों में नंगापन और लज्जास्पद कुछ भी नहीं होता···वहाँ तो आवरण ही बाधा होता है ! कला को

उसी हद तक आत्मसात् कर लेने के बाद शायद उसमे भी 'नंगा' और 'वर्जनीय' कुछ न रह जाता हो ! भई, कुछ हो, कोई मेरे भीतर के 'वर्जनीय', 'नंगेपन' या 'लज्जास्पद' को उखाड़कर रख दे, तो मुझसे तो शायद उसे सहा न जाय। उदय ने कहीं ऐसा कर दिया तो ? हुँह, उनसे होगा नहीं। ऐसी पैनी निगाह नहीं है उनकी···। लेकिन अगर कर ही दिया तो मर जाऊँगी। ऐसा करेंगे नहीं, थोड़ा-बहुत तो कन्सीडरेशन होगा ही···। चरम-आत्मीय क्षणों को यों सबका बनाते हुए थोड़ी झिझक तो उन्हें भी होगी ही···

कॉलिज से आकर पता चला कि राजकुमारी अपर्णा का फोन आया था। थोड़ी देर बाद फिर कर लेंगी वे। मैं इस समय कुछ न कुछ लिख डालने के जोश से भरी आई थी। मन-ही-मन फ़ोन की प्रतीक्षा थी और लिखने के लिए तैयारी करती किताब लेकर बैठी ही थी कि घण्टी बजी। दौड़कर देखा, पापा के किसी मरीज़ का फ़ोन था। 'चैम्बर गये हैं' कहकर बिना पूरी बात सुने ही मैंने उसे रख दिया। अपने पर बड़ा गुस्सा आया कि राजकुमारी का फोन आ ही गया तो इसमें ऐसा उत्तेजित हो उठने की ज़रूरत क्या है···? दुबारा करेंगी ही।

दुबारा घण्टी बजी। भागकर फ़ोन उठा लेने की अपनी उत्तेजना को ज़बरदस्ती धीरे-धीरे कदम रखकर—(गज-गति से ?)—कुचलती हुई मैं फ़ोन तक आई। निहायत ही अचचल हाथों से रिसीवर लिया। सुना : "हल्लो, सुजाता जी हैं ?"

"जी, बोल रही हूँ।" आवाज़ पहचानी नहीं।

"मैं हूँ उदय। कैसी हो ?"

"अरे, आप ?" मैं उल्लास से एकदम उछल पड़ी। "फ़ोन पर आवाज़ नहीं पहचान पाई, माफ कीजिए···"

"कई दिन हो गये···तुम्हारा तो एकदम पता ही नहीं है।"

"हाँ, ऐसे ही था ज़रा व्यस्त रही कुछ।" मैं उदासीन बनकर बोली।

"मैं तो डर गया। कहीं राजकुमारी हैं। अपहरण तो नहीं कर ले गईं।"

"बड़े-बड़े धनुर्धारी यहाँ से निराश लौटे। वो तो बेचारी खुद अपर्णा है। आपकी अपर्णा बहन जी कैसी है ?" मैंने बुझे स्वर मे पूछा।

"मर गई वह। अब दर्शन कब हो रहे हैं ?"

मुझे अपना निश्चय याद हो आया। बहुत ही भावना-हीन स्वर में कहा : "अभी तो कुछ भी ठीक नहीं है। प्रिंसेस का फोन आया था। मैं बाहर थी।"

"कल मिलो न।"

"नहीं। अब फिर दुबारा आयेगा। कल उससे मिलना हुआ तो कैसे आ सकूँगी ? परसों का भी ठीक नहीं है।"

"हाँ, प्रिंसेस जैसे महत्त्वपूर्ण तो नहीं हैं हम···। न हमारे यहाँ शिवाजी की वर्छी है, न महाराणा प्रताप की ढाल, अमरसिंह के घोड़े की खास सन्तान भी हमारे शिकार का शौक़ पूरा नहीं करती। राणा सांगा की मूंछ के दो बाल भी अपने तावीज़ों में नहीं बँधे···"

"अरे च्च्···कैसी बात करते हैं आप ?" उनके मज़ाक़ को जान-बूझकर न समझते हुए मैंने कहा—"यह बात नहीं···" मन में कहा, कि अच्छे चिपकने वाले हैं। कोई ज़रूरी है कि मैं आपसे मिलूं ही ? "फ़ुरसत मिलते ही मैं आपसे ख़ुद ही मिल लूंगी। और सुनिए, इस बार तैयार रहिए, जोश आ रहा है तीन-चार कहानियाँ लिखकर ला रही हूँ···"

"अच्छा।" उल्लसित आश्चर्य से बोले—"हमें तो भाई, तुमसे डर लगने लगा है। तुम्हारी प्रिंसेस ले तो रश्क़ के मारे बुरा हाल है।"

"क्यों आपकी भी दोस्ती करा दें क्या ?" अपनी अप्रत्यक्ष प्रशंसा से पुलक-कर मैं मुसकराकर बोल उठी।

"नहीं भैया, ये राजा-रानी तुम्हें ही मुबारक हों···हमें तो अपनी यह जनता ही भली है। मिलो भाई, बहुत दिन हो गये···।"

"अरे, दो-तीन दिन ही तो हुए हैं।"

"तुम्हें तो दो-तीन दिन ही लगते हैं···"

मैं बरबस विभोर मुसकरा पड़ी : "होश में तो हैं न ? अपनी अपर्णा बहन से भी पूछ लीजिए न···? रजनी को बता दिया···?"

हम दोनों फिर हँस पड़े : "उन्हीं से पूछकर ज़िन्दगी चल रही होती तो अभी तक मुल्के-अदम में होते···"

मैंने गद्गद स्वर में कहा : "अच्छा, मिलेंगे। जल्दी ही···"याद करके बोली, "लेकिन इतवार से पहले शायद छुट्टी न मिले···"

"ख़ैर···"

फ़ोन रख दिया। रिसीवर हाथ में लिये हुए ही मैं मुसकराई थी—अभी तक जो बातें सोची थीं वे कितनी झूठी और बेकार थीं !

बृहस्पति : ११ जुलाई

मैं एक नम्बर की बेवक़ूफ़, मूर्खा और पागल हूँ। जो बात जिस समय मन में आती है, लगता है जीवन का चरम-सत्य बस, यही है। बाक़ी तो सब

झूठ है ।.

पिछले दिनों की डायरी पढी तो लगा जैसे मैं इसी बात को लेकर मानसिक रूप से बड़ी व्यस्त और व्याकुल रही हूँ कि उदय मुझे अपनी रचना का लक्ष्य बना रहे हैं या मैं ही उन्हे 'हलाल' कर डालूं। कैसी निराधार बात है ! अब जब मैं उनके सारे व्यवहार पर निगाह डालती हूँ तो कितनी स्पष्टता से देखती हूँ कि वह आदमी निहायत ही आत्म-केन्द्रित, अपने में ही डूबा, हमेशा अपनी ही समस्याओं में उलझा-खोया रहने वाला है। इस बात से डरने की कतई जरूरत ही नही है कि वह मुझ पर या किसी दूसरे पर कुछ लिख सकेगा। ऐसे लोग केवल अपने पर ही लिख सकते है और जब अपने पर ही लिख सकते हैं तो यह भी साफ है कि शीघ्र ही उनके लिखने की सामग्री चुक भी जाती है। उदय भी चुक जायेगा। पता नहीं कौन कहता था कि इसी चुकने का सबसे उत्तम उदाहरण हिन्दी मे 'अज्ञेय' है : एक ही भाव-स्थिति का वर्णन उनके उपन्यास में मिलेगा, उसी पर अलग से कविता भी मिलेगी और वही भाव-स्थिति कहानी मे दुहराई जायेगी···

उदय के चुक जाने की कल्पना से मुझे ऐसा सन्तोष हुआ जैसे मेरे एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी वही हैं और वही मेरा रास्ता रोके खडे है। मैं देखती हूँ, सचमुच, ऐसा ठण्डा-निर्जीव और अपने मे ही डूबा रहने वाला, सिर्फ अपनी-ही-अपनी बातें करते रहने वाला आदमी तो मैंने आज तक देखा ही नही कभी। कैसे ऐसे दम्भी और अहंकारी आदमी से इतनी बार मिल सकी मै ? क्यो नहीं, पहली ही बार मिलकर मैंने कसम खा ली कि आगे से इस आदमी की सूरत नही देखनी है ? कैसे-कैसे अद्भुत क्षण आये हैं और इस आदमी ने ऐसा नही दिखाया जैसे उन क्षणों ने इसे छुआ हो। कुछ लोग तो ऐसे साहसी होते हैं कि उनके साहस पर ही मुग्ध हो जाने को मना करता है। मुफफरनगर वाले मास्टर साहब को ही लो।···सचमुच कैसी हिम्मत वाले आदमी थे वे भी। सब लोग सामने बैठे रहते थे और वे अखबार पढने के बहाने अखबार फैलाकर उसके पीछे से जांघ पर हाथ रख देते थे···इसी तरह रेल के भरे डिब्बे में इतनी आंखो के सामने उन साहब की हिम्मत पर तो मैं स्तब्ध ही रह गई थी ! कैसे सीधे लगते थे···पाँव कैसे ढग से छुलाते थे मानो रेल के हिलने मे अनजान रूप से छू जाता हो और उन्हें इसका कोई पता ही न हो। उफ, कैसी-कैसी गन्दी बातें सोचने लगी हूँ, मैं भी···। मास्टर साहब कहाँ होंगे अब, पता नहीं ! तब क्या वास्तव मे ही उदय···? कैसे होते हैं ये लोग ? रीता फूट फूटकर रोती थी···कहती थी, 'मैं इन्हें जी-जान से प्यार करती हूँ···इतना

प्यार करती हूँ कि मन होता है जान निकालकर रख दूँ···। कितने सीधे हैं··· लेकिन मैं क्या करूँ? कभी-कभी तो ऐसा पागलपन चढ़ता है कि इनका मुँह नोंच लेती हूँ और यह हैं कि निरीह और असहाय-क़ुसूरवार बच्चे की तरह बस टुकुर-टुकुर देखे जाते हैं···। इसमें बेचारे इनका क्या क़सूर···?'—मान लो मैं ही होती रीता की जगह तो···?

और फिर मेरे मन में एकदम आतिशबाज़ी का अनार फूट पड़ा···हाँ, रीता की कहानी लिखनी है···। आत्म-कथा शैली में···। लेकिन लिख पाऊँगी मैं उन स्थितियों के बारे में खुलकर?···बड़ी काट-छाँट करनी पड़ेगी। एक ज़रा बोल्ड-सी कहानी लिख ही क्यों न डाली जाय, होगा सो देखा जायेगा। अनजान लोगों के लिए तो सभी बराबर ही हैं और जानने वाले अभी कौन-सा बख्श देते हैं? वे तो अब भी 'चालू' और फ़्लर्ट जाने किन-किन शब्दों में याद करते फिरते हैं।···ये हारे हुए खिलाड़ी···। दाल नहीं गली तो यही सही···। इनकी बातें याद आते ही दाँत अपने आप पिस जाते हैं···। मन होता है इन एक-एक के चेहरे की नक़ाबें उतार-उतारकर रख दूं: देखो, ये हैं इनकी असली सूरतें। लड़की होने में भी मुसीबत है।···कितनी नाज़ुक स्थिति में रहना पड़ता है: "जिन रूढ़ियों और जिन लोगों के ख़िलाफ़ वह विद्रोह करती है अपनी सच्चरित्रता और गुड कण्डक्ट का सार्टिफ़िकेट भी उन्हीं लोगों से चाहती हैं। कैसी विडम्बना है!" कहाँ पढ़ा था कोई ऐसा ही वाक्य? हाँ, उदय ने ही तो कहा था कि इसके लिए बड़े कड़े कलेजे की जरूरत है।

इस प्लॉट को उदय को सुना डालूँ? देखूँ तो सही कहते क्या हैं? कहूँगी: "बड़ा बेशर्म प्लाट दिमाग़ में आया है।" पूछेंगे: "क्या?"—"एक नामर्द पति की पत्नी की मानसिक हालत को लेकर"—हाय, कहते बनेगा मुझसे? जो भी हो, कहूँगी ज़रूर। इससे खुद उदय का भी अध्ययन किया जा सकेगा···

जो हो···मुझे इस बात को नहीं भूलना कि मुझे उदय पर लिखना है। आँखें खुली रह जायेंगी···। कहेंगे मन ही मन, इतनी तेज़ निगाहें हैं इस लड़की की, यह तो लगता ही नहीं था। एक असमर्थ आदमी···जो हर वक़्त अपने आपको, स्त्रियों को लेकर ही उलझा और डूबा दिखाकर एक मानसिक सन्तोष पाता है···दूसरों के आगे हमेशा एक भ्रम बनाये रखना चाहता है···।

लो, अक्का साहिबा तशरीफ़ ला रही हैं। आकर फिर लैक्चर न झाड़ने लगें। कल रात को तो दो-घण्टे तक सुनाती रही थीं: "लड़की, तुझे यह हो क्या रहा है? कुछपता ही नहीं चलता। हमेशा यह या तो बुद्धुओं की तरह खोई-खोई ताकते रहना, या बिस्तर पर मेंढ़की बनी लिखते रहना···। सीधे

बैठकर ही लिख ले न···कमर टूट गई है क्या ?" अब इसके जवाब में अक्का से क्या कहूँ ? रेखा होती तो कह देती : "हाय रेखा, तू कमर टूटने की बात करती है ? यहाँ तो कम्बख्त कमर है ही नही···। सुना है कि उनके कमर ही नहीं है···" मैं अक्का की ओर पागलों की तरह खोई-खोई देखती रही फिर बुद्धू की तरह हँस दी, "अक्का, एम० ए० का इम्तहान है···हंसी-खेल है क्या ?"

रविवार : १४ जुलाई

जब ऊपर पहुँची तो पी० टी० की तरह दोनों हाथ ताने मुलायमसिंह जी अपनी नाइलोनी-बुशर्ट चढाते-चढाते बाहर निकल आये थे और देहलीज मे अपने कमरे के किवाड़ बन्द करने को झुके सन्तुलन कर रहे थे : "अच्छा, चले पार्टनर ।"

"बस, अभी से ?" भीतर से आवाज़ आई तो मुझे सन्तोष हुआ, चलो हैं तो सही । मैं डर रही थी कही चल दिए हो, तो ये पाँच-सौ सीढी चढकर आना बुरी तरह कोफ्त कर देगा । वे कह रहे थे—"अभी तुमने इस दुनिया में देखा ही क्या है, बेटा ? हाय, कच्ची उमर मे ही यों छोडकर चले जाओगे तो कैसे काम चलेगा··· ? अभी कुछ दिन और बहारे-गुलिस्ताँ देखो न···?"

फ़िल्मी ढंग की लाचारी मुद्रा मे कंधे उचकाते हुए सिंह साहब ने हाथ फैला दिए । गहरी साँस ली और सजीदा मुंह बनाकर बोले—"हाँ बेट्टा, अब तो चलना ही पडेगा । तुम्हें पढ़ा दिया, लिखा दिया । अब किसी लायक हो गए हो । हमारा क्या है अब···यो बुजुर्गों का साया बहुत बडी चीज़ है, लेकिन अब ज़िन्दगी भर थोड़े ही बैठे रहेगे ? न अपनी खुशी से आये न अपनी खुशी चले···और कहा है शायर ने कि 'बुलबुलें बेखलिश क्यो न बहारें लूटें···?' खार एक मैं ही था, सो मैंने चमन छोड़ दिया···"

और मुझे देखकर ही वे खिलखिलाकर हँस पडे । अजब मजाक के ढग हैं इन लोगों के भी । बोलो, ऐसी-ऐसी बातें सुबह ही सुबह निकाली जाती होगी मुँह से ? पता नही, जाने किस मौके की कही बात ठीक हो जाये···। किसी दिन कोई ऐक्सीडैण्ट-वैक्सीडैण्ट हो जाये तो ? जानते हुए भी मैंने पूछा : "हूँ ?"

"होगा नहीं तो जायेगा कहाँ ?" फिर प्रार्थना के स्वर मे बोले : "अच्छा सुजाता जी, माफ कीजिए, मुझे ज़रा काम है सो जल्दी जाना है···"

मैंने माथे तक हाथ उठाये और मुस्कराती हुई, उनकी फड़कती देह को जाते देखती रही। इस आदमी की तो रग-रग में फ़िल्म बस गई है। गलियारे में सामने अपने कमरे के आगे एक महाराष्ट्रियन प्रौढ़ा सिल पर मसाला पीस रही थी। पास ही स्टोव सनसना रहा था। चौखट पार की तो देखा उदय दरवाज़े की ओर पीठ किये कुछ लिख रहे हैं, सामने मेज़ पर झुके; एक बार मुड़कर देखा और फिर लिखने लगे। बोले : "आओ। हमने तो समझा था कि प्रिंसेस के साथ-साथ जो बेचते थे दवा-ए-दिल···वो भी दुकान अपनी बढ़ा गए···"

पहले तो मुझे सचमुच गुस्सा आ गया; मैं आई हूँ, न उठना न स्वागत। ऐसे बैठे हैं जैसे मैं तो इस घर की पड़ोसिन हूँ और रोज दोनों वक़्त आ जाती हूँ। मैं सोच रही थी कि जोर से उछल पड़ेंगे। आनन्द से किलककर कहेंगे : 'अहा, सुजाता जी हैं।' और आप हैं कि मुड़कर देखा और फिर लिखने लगे। मैं आई क्यों यहाँ ? लेकिन इस शेर और बात कहने के सहज आत्मीय ढंग ने सारा क्रोध मिटा दिया। नक़ली झुंझलाहट में साड़ी की पटलियाँ उठाकर एक पाँव से दूसरे पाँव के सैण्डिल का फ़ीता उतारती बोली : "आप तो यह चाहेंगे ही···अभी बेचारे सिंह साहब को भेजे दे रहे थे, अब मेरा नम्बर आ गया। अच्छा, जल्दी से नल बताइए, तमाम पैरों में हल्दी लग गई। कहाँ रहते हैं आप भी !"

"क्यों, कैसे ?" बड़े नाटकीय अन्दाज़ से उसी व्यस्तता में वे बोले—"लेकिन हमारे यहाँ पैरों में हल्दी लगने का तो कोई मुहावरा नहीं है। पैरों में तो मेहँदी लगती है, हाथों में···"

बड़ी चिनचिनाहट-सी छूट रही थी। आँखें वहीं गड़ी हैं। जैसे हमारे आने का कोई महत्त्व ही न हो। बिस्तर पर दो तकिये एक दूसरे पर हस्ब-मामूल पड़े थे और पास ही शतरंज की बीच से तह हो जाने वाली गत्ते की बिसात झोंपड़ी बनी रखी थी। बिस्कुट के ख़ाली डिब्बे में हाथी-घोड़े भरे थे। तो अभी यहाँ बाज़ी ही जमी थी। बोली—"मत बताइए। मुझे क्या है, मैं पैर यहाँ पोंछे देती हूँ आपके बिस्तर पर। बैठा रक्खी है, नीचे मसाले वाली, सो अपने घर और दूकान का सारा मसाला कम्बख़्त बीच जीने में ही बैठकर कूटती है। उसे कोई और जगह ही नहीं मिली।"

दोनों हाथों में पकड़े लिफ़ाफ़े के गोंद लगे हिस्से पर जीभ फिराते वे मेरी ओर मुड़े। एक सैण्डिल उतारकर मैं एक हाथ से दीवार का सहारा लेकर दूसरा उतार रही थी। पाँव मोड़कर उठाने में साड़ी ऊपर पिंडलियों तक उठ आई थी। उन्हें उधर देखते देख मेरी निगाह खुद अपनी पिंडलियों पर

गई—कितने बड़े-बड़े बाल थे मेरी पिंडलियों पर। झट झुककर साड़ी नीचे खींच ली। और उसी व्यस्त झुँझलाहट को बलात् कायम रखती सफ़ाई देती-सी बोली—"तमाम सीढ़ी पर हल्दी फैला रक्खी है। सारे पाँव रँग गये।"

"हमें तो इस बात में ज्यादा दिलचस्पी है कि हाथ कब रंग रहे हैं ?" वे व्यंग्य से बोले।

गालों के गड्ढे और भी गहरे हो गये। दूसरे सिरे के खुले दरवाज़े की ओर जाते हुए बोली : "निमन्त्रण मिल जायेगा। घबराते क्यों हैं ? हो सकता है पापा निमन्त्रण की भाषा भी बनवाने के लिए आपको ही चुनें। क्या लेते हैं ?" तब बड़ी इच्छा हुई, अपनी चोट पर उनका चेहरा देखूँ। किवाड़ बन्द करते-करते एक बार देखा भी, सिर झुकाये लिफाफे पर पता लिख रहे थे··· मूर्ख।

फ़र्श पर गीले पंजों के निशान बनाती मैं बेंत की कुर्सी पर आ बैठी और हत्थे पर रक्खी उनके नहाने का तौलिया उठाकर निहायत बेतकल्लुफ़ी से—जैसे वह कोई गन्दा कपड़ा हो पाँव पोंछती हुई बोली—"यह सुबह-सुबह किसे इतने प्रेम से ख़त लिखा जा रहा है ?"

मेज के कागज क़रीने से लगाने का काम छोड़कर उन्होंने अपनी तौलिया का यह उपयोग देखा, और कुछ कहते-कहते रुक गये (कहूँ पैरों की गुराई और सुन्दरता पर मुग्ध होकर रह गए ?) फिर कागजों में डूबकर बोले—"कुछ नहीं, एक जरूरी ख़त का जवाब देना था। सिंह साहब का एक डायरेक्टर से एण्टरव्यू था, सो वे तो दफ़ा हुए।" फिर उठकर दरवाजे तक आकर बाहर मुँह निकालकर बोले—"ओ बहादुर, चाय-वाय पिलाएगा या नहीं ?"

"मैं तो पी आई।"

"मैं भी न पीयूँ ?" वे ख़त हाथ में लेकर बाहर चले गए। जरूर बहादुर को जल्दी से डाल आने के लिए कहने को गए होंगे।

"तभी आज सिंह साहब बड़े खुश-खुश जा रहे थे।" सब काम ऐसे ही चल रहा था, जैसे मैं तो यहाँ रोज ही बैठी रहती हूँ। उस दिन तो यों पूछ रहे थे जैसे कल न मिलूँगी तो जाने क्या गजब हो जाएगा। मेज की ओर देखकर बोली, "लगता है ख़त लिखना आपका पेशा है—साहित्य तो यों ही शौक और शगल की चीज है ? हमेशा वही-वही। अपनी अपर्णा बहन को ही लिखा है न ? क्या लिख डाला ? हमें भी मिलाइए कभी।" मैं उठकर मेज़ के पास आ गई, देखें क्या-क्या है ? मेज पर ५५५ सिगरेट का गहरा हरा टिन देखकर मैं चौंक उठी। मैं नहीं समझती कि उनका स्तर इतनी ऊँची सिगरेट पीने का है।

मैंने माथे तक हाथ उठाये और मुस्कराती हुई, उनकी फड़कती देह को जाते देखती रही। इस आदमी की तो रग-रग में फ़िल्म बस गई है। गलियारे में सामने अपने कमरे के आगे एक महाराष्ट्रियन प्रौढ़ा सिल पर मसाला पीस रही थी। पास ही स्टोव सनसना रहा था। चौखट पार की तो देखा उदय दरवाज़े की ओर पीठ किये कुछ लिख रहे हैं, सामने मेज़ पर झुके; एक बार मुड़कर देखा और फिर लिखने लगे। बोले: "आओ। हमने तो समझा था कि प्रिंसेस के साथ-साथ जो बेचते थे दवा-ए-दिल···वो भी दुकान अपनी बढ़ा गए···"

पहले तो मुझे सचमुच ग़ुस्सा आ गया; मैं आई हूँ, न उठना न स्वागत। ऐसे बैठे हैं जैसे मैं तो इस घर की पड़ौसिन हूँ और रोज़ दोनों वक्त आ जाती हूँ। मैं सोच रही थी कि ज़ोर से उछल पड़ेंगे। आनन्द से किलककर कहेंगे: 'अहा, सुजाता जी हैं।' और आप हैं कि मुड़कर देखा और फिर लिखने लगे। मैं आई क्यों यहाँ? लेकिन इस शेर और बात कहने के सहज आत्मीय ढंग ने सारा क्रोध मिटा दिया। नक़ली झुँझलाहट में साड़ी की पटलियाँ उठाकर एक पाँव से दूसरे पाँव के सैण्डिल का फ़ीता उतारती बोली: "आप तो यह चाहेंगे ही···अभी बेचारे सिंह साहब को भेजे दे रहे थे, अब मेरा नम्बर आ गया। अच्छा, जल्दी से नल बताइए, तमाम पैरों में हल्दी लग गई। कहाँ रहते हैं आप भी!"

"क्यों, कैसे?" बड़े नाटकीय अन्दाज़ से उसी व्यस्तता में वे बोले—"लेकिन हमारे यहाँ पैरों में हल्दी लगने का तो कोई मुहावरा नहीं है। पैरों में तो मेहँदी लगती है, हाथों में···"

बड़ी चिनचिनाहट-सी छूट रही थी। आँखें वहीं गड़ी हैं। जैसे हमारे आने का कोई महत्त्व ही न हो। बिस्तर पर दो तकिये एक दूसरे पर हस्बे-मामूल पड़े थे और पास ही शतरंज की बीच से तह हो जाने वाली गत्ते की बिसात झोंपड़ी बनी रखी थी। बिस्कुट के खाली डिब्बे में हाथी-घोड़े भरे थे। तो अभी यहाँ बाज़ी ही जमी थी। बोली—"मत बताइए। मुझे क्या है, मैं पैर यहाँ पोंछे देती हूँ आपके बिस्तर पर। बैठा रखी है, नीचे मसाले वाली, सो अपने घर और दूकान का सारा मसाला कम्बख्त बीच जीने में ही बैठकर कूटती है। उसे कोई और जगह ही नहीं मिली।"

दोनों हाथों में पकड़े लिफ़ाफ़े के गोंद लगे हिस्से पर जीभ फिराते वे मेरी ओर मुड़े। एक सैण्डिल उतारकर मैं एक हाथ से दीवार का सहारा लेकर दूसरा उतार रही थी। पाँव मोड़कर उठाने में साड़ी ऊपर पिंडलियों तक उठ आई थी। उन्हें उधर देखते देख मेरी निगाह खुद अपनी पिंडलियों पर

गई—कितने बड़े-बडे बाल थे मेरी पिंडलियों पर। झट झुककर साड़ी नीचे खींच ली। और उसी व्यस्त झुंझलाहट को बलात् कायम रखती सफाई देती-सी बोली—"तमाम सीढी पर हल्दी फैला रक्खी है। सारे पाँव रँग गये।"

"हमें तो इस बात मे ज्यादा दिलचस्पी है कि हाथ कब रग रहे हैं ?" वे व्यंग्य से बोले।

गालों के गड्ढे और भी गहरे हो गये। दूसरे सिरे के खुले दरवाजे की ओर जाते हुए बोली - "निमन्त्रण मिल जायेगा। घबराते क्यों हैं ? हो सकता है पापा निमन्त्रण की भाषा भी बनवाने के लिए आपको ही चुनें। क्या लेते हैं ?" तब बड़ी इच्छा हुई, अपनी चोट पर उनका चेहरा देखूँ। किवाड बन्द करते-करते एक बार देखा भी, सिर झुकाये लिफाफे पर पता लिख रहे थे''' मूर्ख।

फ़र्श पर गीले पंजों के निशान बनाती मैं बेंत की कुर्सी पर आ बैठी और हत्थे पर रक्खी उनके नहाने का तौलिया उठाकर निहायत बेतकल्लुफी से—जैसे वह कोई गन्दा कपडा हो पाँव पोंछती हुई बोली—"यह सुवह-सुवह किसे इतने प्रेम से खत लिखा जा रहा है ?"

मेज के कागज क़रीने से लगाने का काम छोड़कर उन्होने अपनी तौलिया का यह उपयोग देखा, और कुछ कहते-कहते रुक गये (कहूँ पैरो की गुराई और सुन्दरता पर मुग्ध होकर रह गए ?) फिर कागजो मे डूबकर बोले—"कुछ नही, एक जरूरी खत का जवाब देना था। सिंह साहब का एक डायरेक्टर से एण्टरव्यू था, सो वे तो दफा हुए।" फिर उठकर दरवाजे तक आकर बाहर मुँह निकालकर बोले—"ओ बहादुर, चाय-वाय पिलाएगा या नही ?"

"मैं तो पी आई।"

"मैं भी न पीयूँ ?" वे खत हाथ में लेकर बाहर चले गए। जरूर बहादुर को जल्दी से डाल आने के लिए कहने को गए होंगे।

"तभी आज सिंह साहब बडे खुश-खुश जा रहे थे।" सब काम ऐसे ही चल रहा था, जैसे मैं तो यहाँ रोज ही बैठी रहती हूँ। उस दिन तो यों पूछ रहे थे जैसे कल न मिलूंगी तो जाने क्या गजब हो जाएगा। मेज़ की ओर देखकर बोली, "लगता है खत लिखना आपका पेशा है—साहित्य तो यों ही शौक और शगल की चीज है ? हमेशा वही-वही। अपनी अपर्णा बहन को ही लिखा है न ? क्या लिख डाला ? हमें भी मिलाइए कभी।" मैं उठकर मेज के पास आ गई, देखें क्या-क्या है ? मेज पर ५५५ सिगरेट का गहरा हरा टिन देखकर मैं चौंक उठी। मैं नही समझती कि उनका स्तर इतनी ऊँची सिगरेट पीने का है।

पहले कभी ध्यान नहीं दिया। हमेशा यही पीते हैं क्या ? उठाकर देखा तो गोल ज़नानी लिखावट में लिखा था : "और जलो···"

"यह कमरा···ये फटीचर लोग, चाय के कप का ऐश-ट्रे और पाँच सौ पचपन का सिगरेट—लगता है न अजब-अजब ? मैंने भी कहा था कि मुझे यह सब मत दो···" वे लौट आये।

"किसने दिया ?" मैंने डिब्बा रख दिया। आँखें उनके चेहरे पर गड़ा दीं।

"हैं, एक मेहरबान"···पहाड़ी लड़का बहादुर भीतर आया तो उसे गर्दन मोड़कर देखते हुए बोले—"हमने लाख कहा, कि यह जी जलाने की चीज़ ही दोगे···। अच्छा छोड़ो, तुम अपनी अपर्णा जी के हाल सुनाओ···" फिर आवाज़ को भारी बनाकर कहा : "हर ऐक्सीलैन्सी प्रिंसेस अपर्णा···आगे और क्या ? ए० बी० सी० डी०···"

मुझे ऐसी झुंझलाहट और मिसमिसाहट अपने भीतर मचलती लगी कि पागलों की तरह इस आदमी के सारे कपड़े फाड़ दूं। हमेशा, जब देखो, तब जान-बूझकर एक रहस्य का मकड़ी जाल-सा अपने चारों ओर लपेटे रहेगा। आपको बड़ा मज़ा आता है इसमें। समझते हैं, बड़ी महत्ता की बात है। एक-एक नक़ाब न इस चेहरे का उतार कर फेंक दूं ! लेकिन प्रिंसेस अपर्णा की बात सुनकर सब एकदम भूल गई। उसी की बातें सुनाने तो यहाँ भागी चली आई हूँ। रात भर नींद नहीं आई। पहले निश्चय किया कि उदय से अपनी ओर से मुलाक़ात नहीं करूँगी। फिर कल रात को अपने को खूब गालियाँ दीं : अजब मूर्खा हूँ मैं भी। अजब-अजब निश्चय कर लेती हूँ··· इसमें आखिर तुक क्या है ? उस दिन खुद ही तो टाइम दिया था। यह भी सोचेंगे कि क्या लड़की है। जब मन में ज़रा भी झिझक और ठिठक होती तो अपने को समझा लेती कि मैं 'व्यक्ति' उदय के पास नहीं अपने 'विषय' के पास जा रही हूँ। और वही पागल उत्साह 'भक्' से दिमाग़ पर छा गया : "आप तो हमको कुछ बताते ही नहीं हैं, आपको क्यों बतायें ? लेकिन सच, यह है बड़ी अजीब लड़की···।"

"क्यों ?"

"कल तो मेरी आँखें खुल गईं। मैं सोच भी नहीं सकती थी कि ऐसी बात भी हो सकती है। हम लोग इन्हें उपन्यासों, सिनेमा के पर्दों और कारों में देख-देखकर या अपने शहर और गाँव के रईसों और ज़मींदारों के आधार पर अक्सर अपने अन्दाज़ दौड़ाया करते हैं। मुझे तो इनकी ज़िन्दगी की एक झलक

भर मिली है और मेरी तो [illegible] हूँ"—मैंने आँखें बन्द करके उस सारे दृश्य की कल्पना की तो एक [illegible] के साथ [illegible] कह उठा—"उफ़ ! हम लोग [illegible] हैं..."

"क्यों, क्या हुआ ?"

और थोड़ी देर बाद बहादुर की बनाई चाय के प्याले [illegible] हम लोग आमने-सामने बैठे तो मैंने बताना शुरू किया : "[illegible] कि [illegible] ने अपने पति से अलग रहने की अर्जी दी हुई है। [illegible] उसके व्यक्तित्व [illegible] ने कुछ ऐसी दिलचस्पी पैदा कर दी कि उसकी हर बात को नोट करने लगी। निश्चय कर लिया कि इस पर कुछ लिखना है। [illegible]

[illegible]

यों राजस्थान में अर्थात् उसके अपने घर भी पर्दा वग़ैरा कम नहीं था; लेकिन चूंकि वहाँ की वे बेटी थीं, इसलिए वहाँ तो उन्हें काफ़ी छूटें थीं, काफ़ी स्वतन्त्र थीं वे। दो भाइयों के बीच में अकेली बहन, फिर राजमाता का प्यार। पर्दे के भीतर भी वह 'सरस्वती', 'चांद' और जाने कौन-कौन-सी पत्रिकाएँ पढ़ा करती थीं। किताबों की तो उसने अच्छी-खासी लाइब्रेरी बना डाली थी। राजस्थान की कुछ रियासतों में 'सोसाइटी' में उठने-बैठने की भी बातें होने लगी थीं। खास तौर से जितने राजा-राजकुमार बाहर जाते थे, वे अपने साथ कोई-न-कोई नीली आँखों वाली ले आते थे, इससे भी महिला-वर्ग में गम्भीर चिन्ता व्याप्त हो गई थी। यही सब देखकर एक तरह की जागृति-सी उधर आने लगी थी। एक निहायत ही बूढ़े संगीतज्ञ साहब पर्दे के पीछे—पहरे में—सितार और तबले के पहले बोल भी सिखा गये थे। फिर इसकी शादी हो गई। जिन युवराज साहब से इसकी शादी हुई उनके रंग-ढंग ही निराले थे। टिक्का थे, इसलिए पूरी छूट थी। दिन भर शिकार, पार्टियाँ, और व्हिस्की की बोतलें—स्कॉच, व्हाइट-हार्स, शैम्पेन और जाने क्या-क्या ? इसके अलावा उनका अपना एक पूरा-का-पूरा हरम। खैर, यहाँ तक तो कोई ऐसी नई बात नहीं थी। रजवाड़ों में सब चलता ही है। किसी की अच्छी बहू-बेटी को उड़वा लेना, और किसी भी राह चलते को कटवा फिकवाना—यह सब वहाँ का रोज़-मर्रा का जीवन है। खुद इस अपर्णा के पिता के हरम में एक दर्जन से ऊपर रानियाँ थी, रखैलें और गोलियों की तो गिनती ही नहीं।"

"अपर्णा बताती है कि कहाँ तो वह ऐसे खुले में से गई थी कि सरदारों और अफ़सरों की लड़कियों के साथ महलों की छतों और आँगन में बैडमिण्टन और वॉलीबाल तक खेलती थी, और कहाँ ऐसी जगह ले जाकर फेंक दिया गया कि भले आदमी की सूरत न दिखे। चारों ओर बस, वही ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और उनसे खिलवाड़ करती सुबह-शाम की किरणें, बादल और फिर नीला आसमान...जिस पर कभी कोई जादू-भरा हाथ कुहासे की धूल बिखेर देता और फिर एक ही झोंके में सब फुर्र से उड़ जाता। लेकिन आखिर कब तक ये बर्फ़ानी चोटियाँ किसी की कल्पना को बाँधे रख पातीं ? गाड़ी में भी जाओ तो चारों तरफ़ पर्दे लग जायें। जिधर देखो, उधर ही एक घुटन और घिरावट का अहसास। कहती थी कि 'मुझे तो लगता था जैसे मैं आजन्म-क़ैद पाया हुआ क़ैदी हूँ जो धीरे-धीरे अपनी मौत की राह देख रहा है...'मेरी चेतना और समवेदना इस तरह मरती चली जा रही थी कि कुछ दिनों में मुझे यह भी याद नहीं रहा कि पहाड़ों के पार भी कोई दुनिया है। कैसी होगी वह दुनिया ?

सब किसी पिछले जन्म की-सी बातें लगती। मैं उस खुली दुनिया के बारे में तरह-तरह की विचित्र-विचित्र कल्पना किया करती। सचाई जानते हुए भी, अपने सपनों के अनुरूप वहाँ के सुखों को बढ़ा-चढाकर देखने मे मुझे एक अनोखा आनन्द मिलता। फिर रह-रहकर रोना आता कि वे सारे सुख अब सदा के लिए छूट गये हैं। न कोई अखबार मिलना था, न ख़बर। बरसात के दिनों मे रियासत शेष सारी दुनिया से लगभग चार-पांच महीनों को एक तरह से कट-सी जाती थी। आवागमन के लायक़ सड़क ही नही रह जाती। पहाड़ी नदियाँ बड़े-बड़े खड्ड बना देती। वही खाना-सोना और सेवा-टहल। समझ में नही आता था कि समय कैसे काटें? सारा इलाका पिछड़ा इतना था कि एक सिनेमा घर तक नही था। किस्से सुनाई देते तो बस, इस-उस अफसर, बीवी-बेटियो के चरित्र या नौकर-नौकरानियों की फुसफुसाहट के, हर वक्त इधर के जासूस उधर दौडते रहते। महलो मे जाने कितने दल थे, और यह पता लगाना तो असंभव ही था कि कौन किस दल का है। पान और पानी मे भी ज़हर मिले होने का अंदेशा होना। हर वक़्त ऐसा 'टेंशन', तनाव और सावधानी-सी माहौल मे छाई रहती जैसे मोर्चे पर लड़ाई हो रही है और उसके पीछे वाले हिस्से में हम लोग रहते हैं। बन्दूक-गोलों के धमाके हमे जैसे हर वक़्त सुनाई देते रहते हो और हर क्षण खबरें इधर-से-उधर तेज़ी से लपकती दौड रही हों—क्षण-क्षण मे पासा इधर-का-उधर हो रहा हो। एक रहस्य और विस्फोट की भयंकर प्रतीक्षा से भरा स्तब्ध वातावरण। कोई नई बात नही, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में यह सब हमारे यहाँ भी चलता था। रानियों मे आपस मे खीचातानी, शत्रुता, द्वेष···उसने उसको ज़हर दे दिया, वह उसके साथ पकडी गई। कोई किसी की फ़रियाद सुनने वाला ही नही था।' लेकिन, आप सोचिए, उस समय उस बेचारी की क्या हालत हुई होगी जब पता चला कि युवराज नाम-मात्र के ही पुरुष हैं···"

"हैं···ऽऽ?" उदय चौंककर उछल पडे: "तुम्हारा मतलब···तुम्हारा मतलब···?" शायद अगली बात कहने और पूछने की उनकी हिम्मत नही पडी।

मैं निगाहे उनके चेहरे पर गडाये रही। मेरी बात जारी थी—"जी, मेरा मतलब यही है। और एक झूठे 'अह' को सन्तुष्ट करने के लिए उनके लिए पूरा एक रनिवास रक्खा जाता था। एक-से-एक भयकर शिकारी कुत्ते और रनिवास। बस, यही दो उनके शौक। बडी-बडी मूंछें, भयकर गुण्डे और उनके मुसाहिब। जब देखो तब जीपें भरी और शिकार खेलने चले जा रहे हैं। सुनते है, दक्षिण-

पश्चिमी इलाक़े के एक बहुत बड़े डाकू को उनकी पूरी मदद थी और उससे बाक़ायदा हिस्सा लेते थे। 'शिकार' जाने का भी एक रहस्य ही बताया जाता है। बताती थी, युवराज साहब को एक बड़ा अजब शौक़ था—जो नवाबों के सिवा शायद ही किसी में सुना गया हो। आधी-आधी रात तक खूब शराब पियें और पिलायें, आरामगाह या गैस्ट-हाउस में नाच-मुजरा देखें, और जो खुद न कर सकें उस सबका नाटक देख-देखकर सन्तोष पायें। अपना उनका एक छोटा-सा प्रोजेक्टर था। आज तो यह कोई नई चीज नहीं रह गई है; लेकिन उन दिनों ज़रूर एक नायाब चीज़ थी। और उस पहाड़ी जगह में तो अलादीन का चिराग़ ही समझो। उसी से पैरिस और लन्दन की सांस-रोक फ़िल्में देखी जाती थीं। अपर्णा बताती थी कि एकाध बार मैंके की दासी की मदद से देखा। ऐसा भयंकर दृश्य और बीभत्स प्रभाव रहता था कि रह-रहकर कै आने जैसा जी मिचलाता था। अपर्णा बेचारी रात-रात भर रोती। अच्छे घराने की थी, इसलिए ज़रा इज्जत थी, कोई कुछ बोलने या कहने की हिम्मत नहीं कर पाता था। लेकिन सूख-सूखकर काँटा रह गई। बताती थी, 'किसी और रानी के साथ किसी नौकर के सम्बन्ध होने का शक हो गया, या किसी ने चुग़ली कर दी। बस, उस दिन रात को युवराज ने उस बेचारी की जो दुर्गति बनाई कि मेरी तो आत्मा काँप उठती है। उसके ऊपर जो-जो अत्याचार हुए उनकी अतिशयोक्ति पूर्ण कथाएँ सारे महल में फैल गईं। फिर पता ही नहीं चला कि वह कहाँ गई।' अपर्णा यह सब देखती और अपनी क़िस्मत को रोती। रात-दिन उसकी रूह क़ब्ज़ रहती। पता नहीं, किस बात पर कौन-सी मुसीबत का सामना करना पड़ जाये। यहाँ तो कोई बचाने या घर तक़ खबर ले जाने वाला भी नहीं था। मार-मूरकर फेंक दिया तो किसी को सालों पता भी नहीं चलेगा। उसे न तो कोई कहीं की खबर मिलती न समाचार। बस, चौबीस घण्टे एक जहर था कि नस-नस में समाया जा रहा था। एक दिन इसके भाई मिलने आये। बिना पर्दे के यह उनसे मिली। उनके सामने बेबस रो पड़ी कि मुझे यहाँ से निकाल लो, वर्ना अगली बार ज़िन्दा नहीं मिलूंगी। किसी ने नहीं मारा तो खुद ज़हर खाकर मर जाऊँगी। अपर्णा बताती है कि भाई के पैरों पर सिर रखकर मैं ऐसी फूट-फूटकर रोई कि आज तक नहीं रोई। जैसे सारे प्राण आँसुओं में खिचकर बाहर फूट पड़ना चाहते थे। शायद वहीं बेहोश भी हो गई। जासूस दौड़े और बात पूरे महल में फैल गई। सबसे बेक़ायदा बात यह कि बिना पर्दे के मिली। फिर इस तरह रोते-रोते बेहोश हो गई। जाने क्या-क्या बताया होगा अपने भाई को यहाँ के बारे में? क्या सोचेंगे वे, यहाँ कोई

सुख ही नहीं है बेचारी को ? और अम्मा की नज़र जैसे एक भयंकर संकट उस पर मँडरा रहा है। सन्ध्या को युवराज आये। फ़ौजी वेश में। फुलबूट, कमर के बेल्ट, और ब्रिजिस। उन नन्दन युवराज के छोटे भाई की पत्नी, यानी अम्मा की देवरानी भी वहीं थी। उन महलों में अन्दर थोड़ी-बहुत निकटता किसी से थी तो बस इन्हीं से। पर्दे के लिहाज़ से इधर पीठ करके जब वह जाने लगी तो युवराज ने डपटकर कहा : 'रुको।' अम्मा बेचारी के प्राण सूख गये। जाने क्या होने वाला है। खिंची भौंहें, माथे के बल और कसे होंठ बता रहे थे कि कुछ होना ज़रूर है। युवराज ने अपने पैर फैला दिये और इनसे बोले—'फ़ीते खोलो।' अपनी देवरानी के सामने अम्मा को यह काफ़ी अपमानजनक लगा। उसने यह सोचकर थोड़ा अनसुना कर दिया कि देवरानी चली जायेगी तो खोल दूँगी। 'नहीं सुना ?' युवराज गुर्राये···और बस कमर में बँधी हंटर खोलकर उस बेचारी को जो धुनना शुरू किया तो उसे होश नहीं रहा···। चीख़ सुन-सुनकर सारा महल खिड़कियों और दरवाज़ों के बाहर जमा हो गया था, लेकिन किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि भीतर आकर बचा ले। किसके दो सिर थे कि खुद भी इतनी ही मार खाता। युवराज के मुँह से गुस्से के मारे झाग निकल रहे थे और वे कहते जाते थे : 'अपने यार के तो पैरों पर गिर-गिरकर रोती है और पति के फ़ीते खोलने में इज्ज़त जाती है ? हाथी पावों तले रौंदवा दूँगा। भाइयों के भरोसे मत रहना। इस महल में किसी का घमण्ड नहीं चलता।' उस दिन अम्मा अधमरी हो गई थी।"

"सच बात है यह ?" साँस रोके पत्थर की तरह उदय सुनते रहे।

"अरे लो, मैं झूठ बोलूँगी ? मैंने तो खुद उसकी पीठ देखी। ऐसी काली-काली धारियाँ हैं कि मुझे तो सचमुच रोना आ गया। हाय, यह कसाईपना भी चलता है इस मारे राजसी ठाठ के पीछे···" फिर मैं उसी वर्णन में विभोर देर तक आँखों के आगे आने वाले भयकर चित्रों को हटाने की कोशिश करती रही।

"फिर बची कैसे···?" उदय ने पूछा।

"कहती थी कि मुझे तो विश्वास हो गया कि अब यहीं मरना है। सुनते हैं, बिना मरे वहाँ से किसी का छुटकारा नहीं हुआ। कुल सोलह-सत्रह साल की तो थी ही। उम्र से बच्ची और दिमाग़ से भावुक। जब देखो तब खिड़की में बैठी-बैठी रोया करती। वहाँ से हरियाली-लदी चोटियाँ दिखाई दिया करतीं। अँगड़ाई लेती, बल खाती सड़कें, पहाड़ों की सलवटों पर यज्ञोपवीत की तरह लहराया करती···और उसका मन दौड़-दौड़कर उनके पार पहुँचा करता।

कोई खच्चर या गाड़ी उधर से आती दीखती तो उसे एक-एक इंच धरती समेटते देखकर इसका दिल उमड़ आता। जानती थी, उसमें इसका कोई नहीं होगा; लेकिन पुराने ज़माने के क़िस्से आँखों में मँडराया करते कि शायद भाई ने किसी तरह उसकी हालत का पता लगा लिया है और किसी को पहाड़ी औरत के वेश में इसे छुटकारा देने के लिए भेजा है। कहीं ज़रा-सा भी गड्ढा या खोह दिखाई देती तो लगता यह पुराने ज़माने की गुफ़ा है जो पार मैदान में जाकर खुलती है···वहाँ रेलें हैं, मोटरें और साइकिलें हैं। वहाँ लोग सिनेमा जाते हैं, क्लबों में पिंगपांग और बैडमिंटन खेलते हैं। बताती थी, यहाँ आकर पहली बार जब दो-तीन साल में रेल देखी तो ऐसा लगा कि दौड़कर उससे लिपट जाय। खिड़की से उसे सतलज दिखाई देती रहती थी।

"सतलज पार करने का भीतरी पहाड़ी में बड़ा विलक्षण तरीक़ा है। भैंसे की खाल में हवा भर कर उसे फुला लेते हैं और फिर पार करने वाला पानी में उस मशक को उलटा डालकर उस पर खुद औंधा लेट जाता है। शायद उसे शरीर से बांध भी लेता है, फिर पार होने वाला उसकी पीठ से चिपक जाता है। पार करने वाला हाथ-पाँव से धार काटता हुआ उसे तैराता ले चलता है। हाथों में काठ के दो छोटे-छोटे, टेबिल-टैनिस के बल्लों जैसे चप्पू भी होते हैं। धार इतनी तेज़ होती है कि मीलों तक घाटियाँ गूंजती रहती हैं। यह रियासत प्याले की शक्ल के एक खुले मैदान में थी। इसलिए यहाँ पार करना आसान भी था, फिर भी धार का यह हाल था कि आधे मील दूर जाकर किनारा हाथ लगता था। कितने लोग इस खतरनाक खेल में डूब जाते थे, कोई अन्दाज़ा नहीं; लेकिन इसके सिवा कोई रास्ता भी तो नहीं था। अब तो सुनते हैं कि वह सारा एरिया किसी डैम में आ गया है···। अपर्णा कहती थी कि पहले-पहल पार करने के इस ढंग को देखकर हँसी आती थी। क्योंकि बड़ी-बड़ी पर्दानशीन औरतें (और राजधानी थी, इसलिए हर भले घर की बहू-बेटी को अपना मुँह छिपाये रहना पड़ता था। पता नहीं, किस कर्मचारी की निगाह पड़ जाय) यों ही पार करती थीं। ये लोग कहा करतीं, कि यों चेहरा देखने में बेइज़्ज़ती होती है; लेकिन पराये-मर्द के ऊपर औंधे लेटकर उससे कसकर चिपके हुए नदी पार करने में कोई झिझक नहीं होती ? पानी से कपड़े न भींग जायें, इसलिए ये लोग अपने कपड़े भी जाँघों तक चढ़ा लेती थीं। कहती थीं, कभी-कभी धूप में इस तरह पार करते हुए लोग ऐसे लगते थे जैसे बड़ा-सा केकड़ा तैरता चला जा रहा हो। पहले जिस चीज़ पर हँसी आती थी अब उसी पर जैसे प्राण अटके रहने लगे। खिड़की से दूर-दूर तक सब दिखाई देता था। एक-एक चप्पू

के साथ ऐसा लगता था, माना अब डूबे-अब डूबें। बैठी-बैठी अनजान लोगों के लिए भगवान से प्रार्थना किया करती, कि हाय राम, यह बच जाय। यह कुशल-पूर्वक पार हो जाय। हर पार करती औरत इसे ऐसी लगती जैसे वह स्वयं हो '''और जब वह सुरक्षित दूसरे किनारे पर आ खडी होती तो इसकी सांस में सांस आती। दिन बिताने का और कोई तरीका नही था। मन होता खिड़की से कूदकर वह भी इसी तरह पार चली जाये और फिर भूखी-प्यासी भागती हुई भाई के पास पहुँचे—देखो, भैया, कैसी मुश्किल से जान बचाकर भागकर आई हूँ। कभी-कभी पागलों की तरह खिडकी की चौखट से सिर कूटती। अक्सर पागलपने के दौरान में इसे लगता जैसे वह किसी अनजान युग की शाहजादी है, और उसे किसी राक्षस ने इस सुनसान रेगिस्तान में बने किले में लाकर कैद कर दिया है। एक उत्कट प्रतीक्षा में वह रात-दिन आँखें खोले, सोते-जागते प्रतीक्षा करती है कि कोई शिकार का शौकीन राजकुमार एक दिन घोडे पर आयेगा और इसे निकालकर ले जायेगा। बाल सँवारकर जब फेंकती तो मन मे लगता कि किसी नदी की धारा में यह बाल बहते चले जायेंगे, बहते चले जायेंगे—कही कोई कोई हारा-थका राजकुमार घोडे की लगाम पकडे पानी पी रहा होगा—इन बहते हुए बालों को देखकर इनकी खूबसूरती और लम्बाई मे मुग्ध होकर वह यहाँ खिंचा चला आयेगा'''। कहती थी, अजब-अजब खयालात मे सारा दिन कट जाता। कल्पना-शक्ति उन दिनो कुछ ऐसी तेज हो गई थी कि जो भी कही देखा, सुना या पढ़ा था सब एक-एक अक्षर करके याद आता था और वह अपने को उस रूप मे सोच डालती। शाम को धूसर आसमान मे उडते और चहचहाते चिड़ियों के झुण्ड, पीली बीमार ठिठुरी-सी किरणे पकडे उसे जाने कहाँ-कहाँ बहा ले जाते। झींगुर हर समय मन मे झनझनाया करते और रात को पहाडो से उतरती हैडलाइटो को देखकर वह ऐसे चौंक जाती जैसे कोई निर्णायक क्षण आ गया है।

"फिर युवराज पता नही क्या बहाना करके विलायत चले गये। असल बात यह सुनी गई कि वे अपना इलाज कराने गये है। और जब यह सुना कि सरदार पटेल ने तेजी से रियासतो का विलीनीकरण शुरू कर दिया है तो वही जम गये। लेकिन जाने से पहले अपर्णा को जिस ढग से तग किया है, कहती हैं कि मैं जिन्दगी-भर नही भूल सकती। कहते थे कि अपने यहाँ से रुपये मँगा-मँगाकर दो। जाने कैसे उल्टे-सीधे खत लिखाते थे। इसके पास एक छल्ला नहीं छोडा। जो लेते, दो दिन मे रेस और हवाखोरी मे स्वाहा कर डालते। बाहर से भी लिखा एकाध-बार। इधर अपर्णा की माँ का जब स्वर्गवास हुआ तो

पहली बार यह मैके आई। बस, तब से जाने का नाम ही नहीं लिया। ससुराल वालों ने बहुत माफ़ी-वाफ़ी माँगी, प्रेम जताया, आना-जाना शुरू किया। मगर यह बम्बई में इन महाराज कुमार के साथ आकर रहने लगी। उन्होंने पढ़ाने के बहाने इसके सबसे छोटे देवर को भी लाकर यहीं रख दिया। लेकिन अपर्णा कहती है—'मैं इन लोगों की एक-एक हरकत समझती हूँ, जो भी कुछ मेरा अपना या मेरे भाइयों का दिया हुआ है उसी पर इनकी अब आँखें हैं। रियासत-वियासत तो सब बांध में डूब गई या डूब जायेगी। अब बस दिल्ली में कहीं रहते हैं और मेरे माल पर आँखें लगाये हैं। नस-नस जानती हूँ मैं इनकी। जो कुछ भुगता है उसे आसानी से भूला थोड़े ही जा सकता है।'—आप विश्वास नहीं करेंगे, यह सब सुनाते-सुनाते सचमुच अपर्णा रो पड़ी थी। प्रिंसेस मेरे सामने रो रही थी। मेरी तो समझ में नहीं आया कि कैसे उसे सान्त्वना दूं। क्या शब्द कहूँ कि उसे ढाढ़स बँधे। उस समय मुझे लगा कि हम लोग इनसे लाख दर्जे अच्छे हैं। अपने सम्मान और ऊँचाई के पीछे वह दूसरी बार शादी भी तो नहीं कर सकती। सबसे मजे की बात यह कि उसे किसी तरह का कोई दुःख-तकलीफ़ है इसे भी वह किसी के सामने स्वीकार नहीं कर सकती। सबसे हँस-हँसकर यही बताना पड़ता है कि 'नहीं जी, हमें कोई तकलीफ़ नहीं है, दिन-भर घूमते हैं, खेलते हैं, क्लब-सिनेमा जाते हैं, जो मन होता है करते हैं, हमें किसी बात की तक़लीफ़ कैसे हो सकती है? फिर इतना साहस भी हम में है कि जब कोई तक़लीफ़ होगी खुलकर कह भी देंगे···क्योंकि हम जानते हैं कि हमारी कोई इच्छा अधूरी नहीं रहेगी।'···लेकिन यह सब कहने की बातें हैं। सचाई यह है कि तक़लीफ़ है कि उसकी रग-रग में समाई है, आत्मा पर छाई है और दिल में चुभी कील की तरह हर साँस के साथ कसकती है। बस, यों ही अपने आपको बहलाते-बहकाते हुए जिन्दगी गुजार दे, इसके सिवा उसके लिए कोई चारा नहीं है। भाई और भाभी के प्यार को चाहे जितना कसकर पकड़े, वह जानती है कि वह खुद एक फ़ालतू चीज़ है, जिसे दया पर रहना है। अपना हर क़दम भाई के तेवर देखकर ही रखना है। अभी बेचारी की उम्र भी तो नहीं है कुछ। आज के मध्यम-वर्ग में हम लोग इस तरह घुलते तो नहीं हैं। एक दर्जन बीमारियाँ हैं जो उसे लगता है कि उसके पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई हैं, लेकिन उस बीमारी की वह बात नहीं करना चाहती जो उसके खून की बूंद-बूंद में समाई हुई है···"

जाने कैसा प्रवाह था कि मैं लगातार बोलती रही, और उदय चुपचाप सुनते रहे। फिर उठकर धीरे-धीरे खाली जगह में टहलते रहे—खिड़की से

पत्नी होती है।"

और फिर हम लोग बड़ी देर यों ही चुपचाप बैठे रहे। जैसे राजकुमारी अपर्णा दोनों हथेलियों में ठोड़ी लिये हमारे बीच में बैठी थी, और जाने किन विचारों की गहराइयों में जाकर खो गई थी। और हम दोनों न्यायाधीशों की तरह उसकी व्यथा की पुकार सुनकर आविष्ट हो गये···।

मैं बोली—"लेकिन एक बात मुझे और भी लगती है। किसी को लेकर इन दिनों उसके मन में बड़ा भारी द्वन्द्व है। अजब खोई-खोई और अनमनी-सी रहती है। हर वक़्त लगता है जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रही है। जैसे अचानक किसी के आ जाने की उत्कण्ठा हो। टेलीफ़ोन इस तरह चौंककर उठाती है जैसे अप्रत्याशित रूप से यह वहीं से आया है जहाँ की इसे प्रतीक्षा है। फिर अपने को भूलकर फ़ोन पर बेकार की बातें करती रहती है···अजब उखड़ी-उखड़ी बातें···। लेकिन उस समय जरूर उसका चेहरा खिल जाता है और इसके बाद फिर खूब खुश रहती है···"

उदय ने मुसकराकर स्नेह से कहा—"जब तुम पीछे पड़ गई हो तो यह रहस्य भी बेचारा बचकर कहाँ जायेगा?"

"बिलकुल!" आत्म-विश्वास से मैंने कहा—"बस, अब तैयार रहिए··· किसी दिन सुबह-ही-सुबह आकर वह भी बता दूँगी पूरा···"

वे फिर कहीं खो गये—"तुम्हारी प्रिंसेस का क़िस्सा तो सचमुच दिल को छू गया है···"

और मुझे लगा कि मेरे दिल की इतनी देर की बेचैनी, व्याकुलता, उद्वेलन और उद्वेग उदय को सारा क़िस्सा बताकर एकदम शान्त हो गये···जैसे यह बोझ था जो उन्हें सौंपना ही था···

सोमवार : १५ जुलाई

"छाया मत छूना, मन···होगा दुःख दूना, मन"—

कभी-कभी ऐसा लगता है कि गीत की कोई कड़ी, सोते-सोते सहज ही ऐसी मन में बस गई है कि अकारण ही सुबह अपने भीतर गूँजती सुनाई दे रही है। दिन-भर जाने-अनजाने उसे ही गाती-गुनगुनाती रहती हूँ··· न भी गाऊँ तो लगता है कि भीतर कोई गा रहा है। कभी-कभी तो जाने किस युग में पढ़ी किसी कविता की कोई भूली-बिसरी लाइन इस तरह ताज़ी हो

आती है कि मन आनन्द के विस्मय से भर जाता है···। नहाते वक़्त भी वही, मेज़ की चीज़ें ठीक करते हुए भी वही। इस बचपने पर मन में हँसी भी आती है कि मुँह में चाय का घूंट या कौर भरा है और गुनगुना रहे हैं···। आज सुबह से ही गिरिजाकुमार माथुर की यह लाइन जो ज़ुबान पर चढ़ी तो लाख उतारने पर भी सोते समय तक उतरी ही नहीं :

छाया मत छूना, मन···होगा दुःख दूना, मन···

कल जब हम लोग बाहर निकले थे तो आसमान पर एकरस बादल छाये थे और हल्की-हल्की फुहार पड रही थी। बम्बई में अक्सर ऐसा होता नहीं है···एक अनाम पुलक थी जो ऊदी बदली की तरह मन पर घिरी थी।

अभी-अभी हम लोग साथ-साथ सीढ़ियाँ उतरकर आए थे। दोनों साथ ही अगली सीढ़ी के लिए पाँव बढाते···। कभी एक आगे निकल जाता तो ज़रा-सा खुद रुककर दूसरे के आने की राह देखता और दोनों के पाँव निचले सीढ़ी पर साथ-साथ उठते। मोड़ की ज़रा चौडी सीढ़ी पर दोनो क़दम मिलाकर चलते और फिर उतरने लगते। उतरने की इस क्रिया मे पता नहीं, मुझे कैसी एक निकटता और आत्मीयता का बोध हो रहा था। शायद उन्हें भी ऐसा ही लग रहा हो। मन मे कही भीतर एक बडी धुँधली स्मृति उभर आई थी कि कभी इसी तरह किसी को यों ही सीढ़ियाँ उतरते देखा है···बहुत पास से देखा है। जिन्हे देखा था वे दोनो हाथ मे हाथ लिए, यों ही उतरते चले आ रहे थे। पता नहीं, मैंने इस दृश्य को कही सिनेमा के पर्दे पर देखा या सचमुच, लेकिन उस क्षण अपना यह उतरना मुझे अपने एक-दूसरे के अत्यधिक निकट होने का बहुत बड़ा प्रमाण लगा···।

मुझे कॉलिज जाना था और उदय को अपने डायरेक्टर साहब से मिलने मलाबार हिल की तरफ। उदय ने कहा था—"बम्बई वालों को तो यह मौसम अच्छा ही नही लगता। उन्हे तो मूसलाधार बारिश और पल मे शरीर नोंचती धूप वाले मौसम का अभ्यास है। लेकिन मुझे यह रिमझिम फुहार बहुत अच्छी लगती है। उधर था तो घण्टो भीगता साइकिल पर इस फुहार मे सुनसान सड़कों पर भटका करता था··· । अब तो मन तडक-तडपकर रह जाता है।"

"ऐसी फुहार मे झूला झूलने की तो कभी-कभी हमे भी याद आती है···" मैं बोली : "स्कूल वाले दिन तो ऐसे खो गए कि पता ही नहीं चलता, कभी हमने ही जिए थे। आधी-आधी रात तक झूलते और गाते थे।"

डबल-डैकर में ऊपर बैठकर फोर्ट की तरफ जाते हुए हम लोग बातें कर

रहे थे। मन के भीतर कहीं बड़े हल्के-हल्के से पुराने गीतों के बोल उभर रहे थे···झूले की रस्सी और छत से बँधा कड़ा चूँ-चूँ कर रहा था···एक लड़की झोंटा दे रही थी और कई कण्ठ गा रहे थे···'अरी मैना मे-ए—री—ई,··· घिर आई सा-आ वन···बा—द-ली-ई-ई' कैसी एक जैसी बँधी-बँधाई लय होती थी उस गीत की भी। एक-दूसरी के झूले की रस्सियों में पटलियों के सिरों पर अँगूठे फँसाये (उन्हें हम लोग अंगू-पंगू कहा करते थे) झोंटा लेने के प्रयास में जब पीछे झुक जाते थे तो नीचे झुके सिर की चोटी धरती पर साँप-सी लहराती हुई सरका करती···कैसा रोमांच होता था उसे सरकते जान-कर···। न पल्ले का ध्यान न आँचल की परवाह···। धोतियों में हवा भर जाती थी और टाँगों के बीच धोती का घेरा पैराशूट की तरह फूल जाता था—जैसे हम लोगों ने मणिपुरी नृत्य के कपड़े पहन रक्खे हों। उन्हें दबा रखना भी एक मुसीबत थी···वे खिलखिलाहटें···वे क़हक़हे···

फिर ध्यान बस के साथ चलते तारों की ओर दौड़ आया···कभी-कभी उन्हीं तारों पर सरकती ट्रामों की चिचियाहट मिल जाती थी। किनारे के मकानों की पहली मंजिलें साथ चल रही थीं। भायखला में सजे एक-एक कमरे वाले गृहस्थों के चमचमाते बर्तन···नौ-नौ हाथ की फहराती गहरे लाल-हरे रंग की साड़ियाँ···। इन लोगों को हर काम क़रीने से करना आता है। कहीं कोई नारी-मूर्ति गन्दा कपड़ा लेकर फ़र्श पोंछ रही होती तो मन में एक अस्पष्ट-सी आशंका कौंध जाती, कहीं मुझे भी तो इन्हीं चालों में से एक में नहीं रहना होगा? शिवाजी पार्क में रहना सपना है और इन कमरों में सड़ना मेरी आशंका।

लेकिन यह आशंका ज्यादा देर रही नहीं···। उदय ने एकाध-बार पूछा भी: "आज कतरनी चुप कैसे है?" मुझे बेहद बातूनी समझते हैं···। बाल्कनियाँ गुज़रती चली जा रही थीं और रंग-बिरंगे कपड़े फहरा रहे थे···यह सब सच नहीं है···यह सब एक सपने का सागर है जिसकी लहरों पर एक नाव सरकती चली जा रही है। पीछे सीट पर उदय का हाथ रक्खा था और बार-बार बस के रुकने-चलने से पीठ वहाँ टिक-टिक जाती थी···। मैं फिर सँभल-कर सीधी हो जाती। उस दिन रेल का सफ़र याद आ रहा था। मन होता था उनके हाथ की टेक लगाकर आराम से आँखें बन्द कर लूँ···। जगह आयेगी तो वे खुद झकझोर कर बतायेंगे···"उठिए, जनाब आ गया स्टॉप···" मैं झेंपी-झेंपी मुसकराती उठकर आँखें खोलूँगी—चकित···। सफ़ाई दूँगी, हवा ऐसी चल रही थी कि आँखें झपक गईं··· चाहे बसों का हिलना हो या रेल का;

कुछ हल्का उनींदापन छा ही जाता है। जाने कौन बताता था कि बचपन में जिन्हें पालने या गोद में बहुत ज़्यादा हिला-हिलाकर सुलाया जाता है उनकी आगे जाकर भी यही आदत बनी रहती है'''। जहाँ ज़रा भी वैसा हिलना मिला कि उनकी आँखें झपी'''। अक्का मुझे पालने में डालकर कैसे झुलाया करती होंगी ? मैं कैसे झुलाऊँगी'''? हिश्ट ! लगता था कि ये फुहार-भीगी हवाएँ यों ही थपेड़े मारती रहें और मैं झूले के झोंझटे की तरह पीछे-पीछे कहीं बहुत दूर अनजान स्मृतियों की गहरी गूँजती घाटियों में उतरती चली जाऊँ''' उतरती चली जाऊँ'''।

पता नहीं उदय किस चीज़ पर लगातार बोले चले जा रहे थे'''इन्हें भी बातें करने का मर्ज़ है। अरे, कोई वक़्त होता है जब चुप होकर सारे वातावरण को पिया जाता है'''चुप भी रहा जाता है।

तभी बस झटके से रुक गई · देखा तो नीचे घुटनों-घुटनों पानी भरा था। बाहर बारिश ज़ोर से हो रही थी। अब होश आया'''काश, यह बारिश कभी न थमे।

कहीं बहुत दूर से कानों में जाने कब सुनी हुई एक लाइन, एक अजब से गीत की पंक्ति उमड़ती चली आ रही थी। इम्तहान के दिनों में आधी-आधी रात तक लैम्प जलाए पढ़ती रहती थी। चारों तरफ़ सन्नाटा छा जाता था। कभी-कभी बस, पहरेदार की आवाज़ ही सुनाई देती थी'''। तब काँसे की कटोरियों के साथ ये पंक्तियाँ इस तरह झनक उठतीं कि सारा वातावरण घुँघरुओं की ताल पर मानो झूम-झूम उठा हो'''स्वर कहीं दूर से क़दम-क़दम चला आ रहा है :

> "'''अनरुत की बरस रह्यौ मेऽह,
> लँगुरिया आ,
> भीजेंगे हम तुम,
> दोऊ जने-ए-एऽऽ'''"

बाद में ऐसी ही लाइनें फिर पढ़ी थीं बच्चन की : "बरस रही जल-धार, कि हम तुम भीगें'''"

बस के दोनों ओर के काँच धुंधले पड़ गए थे और उनके पार जो भी कुछ दिखाई देता था सब फुहार-भीगा'''

सन्ध्या : ७ बजे
आज कहीं भी घूमने जाने का मन नहीं करता'''साँझ घिरते ही न जाने छा गई कैसी उदासी'''सागर के पार अरुणिम सुनहले आकाश पर किसी ने बैंगनी रंग के दो तीन ब्रश-स्ट्रोक लगा दिये हैं और जैसे काँच के गिलास-भरे पानी में घुलते स्याही के धब्बे की तरह वह बैंगनी रंग गाढ़ा-गाढ़ा चारों तरफ़ फैलता चला जा रहा है। पेड़ों की लम्बी-लम्बी छायाएँ इस सिरे तक आ गई हैं :

छाया मत छूना, मन'''होगा दुःख दूना, मन'''

रविवार की डायरी का अन्तिम वाक्य आँखों के आगे कौंध गया—'और मुझे लगा मेरे दिल की इतनी देर की बेचैनी, व्याकुलता, उद्वेलन और उद्वेग उदय को सारा किस्सा बताकर एकदम शान्त हो गये'''जैसे यह बोझ था जो उन्हें सौंपना था।'

इस समय उस वाक्य को यों सुधार देने को मन करता है—'एक बेचैनी थी, मन में कुलबुलाती व्याकुलता थी, एक ऐसी सालती व्यथा थी कि जिसे मैंने उदय को सौंप दिया और निश्चिन्त हो गई।'—जाने क्यों, हर समय लगता रहता है कि मैं जो कुछ भी नया पा रही हूँ, वह मेरा नहीं है। उसे उदय को सौंपना है, उदय को देना ही है'''। वह मेरा है ही नहीं जो उसे रखूं। वह तो थाती की तरह मेरे पास रक्खा है। उसे मैं अकेली नहीं रख सकती, भीतर दबा नहीं पाती। कोई एक चाहिए जिससे अपना अन्तर बाँटा जा सके'''लो; मेरे दर्द को लो।

अपने ऊपर से आत्म-विश्वास ही जैसे हट गया है। इस मजबूरी पर कभी-कभी झुंझलाहट भी होती है। जब बोलती भी हूँ तो कभी ऐसा लगता है, मानो वे तन्मय होकर सुने जा रहे हैं'''लीन और चुप। कभी ऐसा लगता है जैसे उनके होठों के कोने पर एक हल्के व्यंग्य और परिहास की धूप-छाँही मुसकराहट झाँक रही है। मैं जैसे अपने-आपसे उठकर उनकी आँखों में जा बैठती हूँ'''और वहाँ से अपने को उनकी निगाहों से देखने लगती हूँ। उनकी निगाहों से लगता है : देखो मैं कैसी बेवक़ूफ और बुद्धू की तरह लग रही हूँ। मानो मेरा अपना कोई अंश था जो धोखा देकर दूसरे के साथ जा मिला हो, और उनके साथ मेरे विरुद्ध समझौता कर बैठा हो। विश्वास-घात किये गये जयद्रथ की तरह मैं निरीह, निरस्त्र युद्ध-क्षेत्र में खड़ी होकर समझ नहीं पाती कि यह सहसा हो क्या गया, अब मैं क्या करूँ?

अब तो ऐसा लगता है जैसे मैंने अपना जीवन जीना ही छोड़ दिया है। मेरे साथ, या मेरे आस-पास कोई भी बात होती है, मुझे कोई कुछ बताता है

तो ऐसा नहीं लगता जैसे वह सब मेरे साथ ही हो रहा है, मैं खुद कर या सुन रही हूँ, या उस कार्य का एक अंग हूँ। ऐसे अवसरों पर निहायत तटस्थ होकर मन ही मन उन शब्दों की तलाश करती हूँ जिनमे इस अपने साथ हो रहे को उदय को सुना दूंगी और निश्चिन्त-मुक्त हो जाऊँगी।···प्रिंसेस मेरे आगे रो रही थी और उस स्थिति को स्वयं आत्मसात् करने की बजाय मैं सोच रही थी कि किन शब्दो मे मैं इस स्थिति का वर्णन करूँगी कि सारी करुणा सारी इण्टैन्सिटी के साथ यह चित्र ऐसे ही सशक्त और प्रभावशाली रूप मे साकार हो उठे···।

जैसे मैं अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर केवल स्थितियों और अनुभूतियों को उदय तक पहुँचाने का माध्यम-सेतु भर रह गई हूँ···एक तार का खम्भा-जिसके माथे से होकर 'बातें' आती-जाती हैं, और वह स्वयं तो उन तारो और सूत्रो को पकड़े खड़े रहने का 'निमित्त'-भर है···हाय, यह मुझे हो क्या गया है—?

याद आता है : पहले कितनी दुनिया भर की बातें मैं सोचा करती थी, मजाक़ किया करती थी···रेखा की बात, तेज की बात, कॉलेज की बात। प्रोफ़ेसरों और सम्पादक जी की बात···और एक दिन पाती हूँ कि मैं तो उदय और अपर्णा के बीच मे टकराने वाली 'शटल' भर रह गई हूँ ··। मेरा अपना जीवन इन दो बिन्दुओं पर आकर ही समाप्त हो जाता है। और आज मुझे लगता है कि राजकुमारी अपर्णा, पूर्णविराम का बिन्दु नही है—एक डैश जैसा खिचता चला जाता बिन्दु है जो वाक्य के अर्थ को उदय के पूर्णविराम तक ले जाता है। अभी-अभी पढ़ी दुष्यन्त कुमार की एक कविता बार-बार मन मे उभर आती है :

जो कुछ भी दिया, अनश्वर दिया मुझे
नीचे से ऊपर तक भर दिया मुझे,
ये स्वर सकुचाते हैं, लेकिन तुमने—
अपने तक ही सीमित कर दिया मुझे!

···तो क्या सच ही मैं एक ऐसी नदी भर रह गई हूँ जिसे रास्ते की सारी नदियों को पीकर अपने को सागर को सौंप देना है···? अपनी श्रान्तक्लान्त यात्रा को किसी एक विराट के चरणो मे शेष कर देना है? सागर, सुनो सागर, मैं बहुत थक गई हूँ···बहुत टूट गई हूँ। मुझे विराम दो···। इन विधि-निषेध के किनारों ने मुझे पीस डाला है, मेरी हर तरंगो को, लहर-लहर को कुचला है, इन्होने। मेरी रग-रग मे दावानल के स्फुलिंग दिये हैं···। अब मुझे मुक्ति दो···

मुझे अपना 'मैं' नहीं चाहिए'''आई' 'एम' ओनली व्हेन आई एम विद् 'हिम'''इसे ले लो और मुझे नीले आसमान के नीचे अपने आ-क्षितिज तरंगायित गम्भीर वक्ष का फेनोच्छ्वसित करुण विस्फार दो'''विस्तार दो'''।

वड़ी अजव-सी मन की हालत है। उस क्षण वस में वैठे-वैठे काँचों के पार से जैसा कुछ धुँधला-धुंधला दीखता था, मानो सारी वाहरी दुनिया मुझे वैसी ही दिखाई देने लगी है'''धुंधली-धुंधली'''जैसे आउट-आफ़ फ़ोकस चित्रों की फ़िल्म हो'''व्लर्ड, फ़ौगी और हेज़ी। और ज्यादा ग़ौर से शीशों में देखिए तो अपना ही चेहरा दीखने लगे'''। ध्यान रहता है कि यह अपनी ही परछाईं है जो आर-पार देखने में वाधक है'''। लेकिन उसको भेद कर देखा भी तो नहीं जा सकता'''। कैसे इस परछाईं को समेट लूं कि आर-पार की सारी चीज़ें मुझे दीखने लगें'''उसे देखती हुई मैं खुद-वखुद मुस्करा पड़ती हूँ'''।

एक वड़ा गर्वित-सन्तोष है कि कितना विराट एक रहस्य है (क्या है वह ?) जिसे मैं अपने में छिपाये हूँ। ये वाहर वाले, ये घर वाले, जो मुझसे वातें करते हैं, मुझे देखते हैं, इन्हें क्या पता कि कितना कुछ असीम है जिसे मैं अपनी सीमित छाती में छिपाये हूँ'''? देखो, इनमें से कोई भी तो नहीं जानता कि सोते-जागते में क्या महसूस करती हूँ—? क्या है, जो मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता है, सामने फैले सागर-सा निरन्तर खुलता चला गया है'''जिस पर वादल झुक-झुक आते हैं'''किरणें जिसकी लहर-लहर को चूमती हैं'''जिसकी हर तरंग में चाँद की मछलियाँ चित-पट होती हैं'''और चीलों के धव्वे थिरकते रहते हैं ?

चोरी का माल देखकर अनजान टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भागता हुआ चोर अचानक अपने आपको खुले मैदान में पाता है '''कहाँ खुद छिपे और कहाँ माल को छिपाये'''? मुझे हमेशा लगता है कुछ मेरे पास है जो 'चोरी' का है। दूसरों की आँखों से उसे वचाकर रखना है—लेकिन जैसी सभी की भूखी निगाहें उसी पर तो लगी हैं'''।

ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था। शायद'''तेज के समय भी नहीं। कहाँ सुना था कि हर प्यार एक नया प्रारम्भ होता है। वह कभी भी अपने को दुहराता नहीं है, और हर नये प्रारम्भ की अनुभूतियाँ, अछूते और कुंआरे प्यार की अनुभूतियाँ होती हैं।

लेकिन रिमझिम वरसती फुहार की तरह इसे तो मैं जाने कव से मन के भीतर अनुभव करती रही हूँ'''(फुहार में भीगना वड़ा अच्छा लगता है न'''।)

रात-दिन एक ही बात को लेकर परेशान रहती हूँ, हमेशा सोते-जागते उसी में उलझी-अटकी रहती हूँ···उनके दिमाग़ में भी तो अक्सर कुछ-न-कुछ आता ही होगा···? डायरी लिखते हैं ?—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। एकाध घण्टे तो सोचते ही होंगे। जैसे इसी समय की बात लो। इस वक़्त मैं डायरी लिख रही हूँ और मुझे एक ऐसा आभास होता है, जैसे बग़ल में पलंग पर कोई लेटा है और बार-बार आँखों के आगे हाथ की आड़ करके निंदियाये स्वर में कह रहा है : "भई, बहुत हो गया। अब इस टेबिल-लैम्प को बन्द कर दो। हमें नींद आ रही है···" हमें नींद आ रही है···! कितना मेरा अपना है यह वाक्य···कोई हाथ खींच-खींचकर उठाये जा रहा है और नकियाये-ठुनकते-से स्वर में मैं विरोध कर रही हूँ···'अमें नींद आ रही है···'

लो, बाहर रेखा की आवाज़ सुनाई दे रही है। बन्द करके रखती हूँ, वर्ना पीछे पड़ जायेगी कि दिखा। अब उसके साथ समुद्र पार जाना होगा···। मेरा मन नहीं है।

रात : ११, ४३

कितना लिखूँ···? हर क्षण लगता है कि अब जितना मन में जमा हो गया है उसे ज्यों का त्यों लिख डालना चाहिए।···लेटी तो नींद का दूर-दूर तक पता नहीं था। सोचा, लिखा ही जाय···।

नौ-साढ़े नौ का समय था। रेखा के साथ-साथ बातें करती चली आ रही थी कि एक बड़ी पुरानी बात याद हो आई···

भरपूर चाँदनी खिली थी और सुनसान सड़क। इसी तरह तो देर हो गई थी रात को···। शायद सेकिण्ड-शो देखकर लौटी थी-। मीरा के साथ गई थी। उसकी भाभी थी, भाई थे और छोटी बहन थी। एक चौराहे के पार ही तो हमारा घर था···। दोनों ओर अमलतास और मौलश्री के पेड़ों की चितकबरी छाँह, सोई सड़क पर चाँदनी से आँख-मिचौनी खेल रही थी···जैसे किसी ने छाया-प्रकाश का स्प्रे-वर्क कर दिया हो···और बीचों-बीच खिंची थी तारकोल की सड़क पर बिजली के तारों की परछाइयाँ···या कहूँ, परछाइयों की समानान्तर रेखाएँ। चाँद को देख-देखकर मुसकराते फूलों के आस-पास लानों की घासें भींग-भींग उठी थीं···।

गमकती मेहँदी वाली हवाओं पर—समानान्तर रेखाओं के बीच में चलते-

चलते हँसी आ गई थी मुझे'''। आज कितने निःस्पृह-भाव से चली जा रही हूँ'''*शायद किन्हीं एकान्त क्षणों में यही सब एक उजली याद बनकर आत्मा पर मँडराया करेगा'''* (मन के 'अपने क्षणों' को क्यों हम वर्तमान को नहीं, भूत और भविष्य को सौंपे रखते हैं'''?) बन्द खिडकियों के रोशनी-जड़े काँचों के पार से एक गीत पिछले फर्लाङ्ग-भर से साथ-साथ चला आ रहा था *"कि तुम साहिल पै होते'''और कश्ती डूबती अपनी'''"* एक बँगले की बाउण्ड्री इसे दूसरे को सौंप देती। कहीं बहुत भीतर, दूर सोने के कमरो से, और कभी बिलकुल सामने की बैठको और ड्राइंग रूमो से गीत हिलोरे लेता लगता, और छतो पर खडे, होंठों पर उँगली रखकर चुप-चुप-करते-से एरियल-पोल स्तब्ध सुनते'''सभी घरो मे एक ही *गीत लगा है क्या'''? "सुहानी है, तेरे दामन से, शमए जिन्दगी अपनी"* काश, इस सुनसान यात्रा मे मन-मन मे उमडते किसी एक गीत की कड़ी की उँगली पकड़कर मैं भी इन समानान्तर रेखाओं की तरह उसे अपने साथ-साथ खींचे ले चलती'''। गीत की कड़ी मेरे साथ-साथ चलती जाती'''चलती जाती'''। काश, मैं खुद एक गीत की तरह चाँदनी मे गुमसुम खड़े कदम-कदम पर मिलने वाले खम्भो के कानो मे गुन-गुनाहट बनकर उतर सकती'''गुदगुदा सकती।

कितनी ताज़ी याद थी वह। आज भी चलते-चलते मैं उसी क्षण मे लौट गई। हम लोग गैस के एक खम्भे से गुजरते तो ठीक नीचे हमारी परछाइयाँ बौनी होकर पैरो मे खो जाती। आगे चलते तो परछाइयाँ पीछे खिचती चली जातीं लम्बी होतीं'''होतीं'''। फिर फैलकर अथाह अँधेरे का ही एक अंग लगतीं'''। लेकिन परछाईं अपनी थी इसलिए उसे खोजकर भी अँधेरे से अलग कर लेती'''तब तक अगले खम्भे की रोशनी आ जाती और हमारी परछाइयाँ टूटकर दो हो जाती। दोनो परछाइयाँ साथ-साथ मेरे बगल मे चलती रहतीं और फिर नये खम्भे के नीचे एक हो जाती। तब लगा कोई गहरा सत्य है जो पकड़ में आते-आते छूटा जा रहा है'''उँगलियो से फिसला जा रहा है'''। लेकिन है वह सत्य बहुत बड़ा'''और तब से वह मन की अँधेरी कोठरियो मे पड़ा सोया रहा है'''।

अब लगता है उस सत्य को मैंने पा लिया है। उम्र की यह यात्रा भी तो रोशनी-के-खम्भों और परछाइयों से उलझने की यात्रा रही है'''। पहले एक खिचती और खिचती परछाईं थी'''उसे देखते-देखते मुझे ऐसा लगने लगा था जैसे मैं भी खुद एक परछाईं ही हूँ'''। और फिर मैंने पाया कि मैं आपस मे लड़ती अनेक परछाइयों का समूह-मात्र हूँ—वही रह गई हूँ'''। मेरे

साथ फिर केवल एक परछाईं रह गई। आज वह परछाईं भी मेरे पैरों के पास आकर खो गई है···क्योंकि मैं ठीक रोशनी के नीचे आ गई हूँ। कितने झूठे और नकली लगते हैं आज तो वे परछाइयों पर रोने वाले गीत···जिनमें लोग परछाईं न होने पर रोते हैं···परछाइयों से बातें करके रोते हैं···परछाइयों से···?—वे रोशनी से दूर अँधेरे कोनों-अतरों में छिपी···भटकती परछाइयाँ···

छाया मत छूना, मन···होगा दुःख दूना, मन···

शुक्र : १६ जुलाई

हरियाली के मोटे-मोटे क़ालीन से लदी गहरी, और गहरी चली जाती घाटियाँ, मोरछल हिलाते चीड़, देवदारु और चैस्टनट के पेड़···नीचे की ओर परत-परत चौड़ा फैलता जाता पहाड़ी सलवटों का विस्तार ; रुपहला-रुपहला चमकता क्षितिज और ढलवानों पर अमरबेल की तरह छल्लेदार झूलती सड़कें ; चाँदी के तारों से बनी नदियों की लाइनें और मगर की खाल की तरह परतों वाले खेत···नीचे घाटी में बहते किसी झरने से गूँजता सारा वातावरण···सुबह का खुलता प्रकाश—नाज़ुक और पीला। घाटी में बाहर की ओर निकलता हुआ एक कमरा। कमरे की तीन तरफ़ की दीवारें काँच की खिड़कियों से बनी हैं। पीछे के दरवाजे पर गहरा चॉकलेटी रंग का भारी-सा पर्दा झूल रहा है। सामने की ओर निकली हुई खिड़की के सहारे आराम-कुर्सी डालकर बैठी-बैठी मैं कुछ बुन रही हूँ। बग़ल में ऊन का झोला है। एक ओर मेज़ पर पी हुई काफ़ी के खाली बर्तन रक्खे हैं। सुबह का समय है और जाड़ा बहुत ज़ोर से पड़ रहा है। मैंने चैस्टर पहनकर ऊपर से एक भारी-सा शाल भी सामने की ओर डाल रक्खा है। दोनों हाथों में सलाइयाँ हैं, वर्ना मन होता है कि हाथों को भी भीतर ही कर लूँ। साँस भाप बनकर निकलती है। काँचों पर कुहासे का धुन्ध बूँद-बूँद बनकर सील रहा है और घाटी के पार वाली ऊँची-ऊँची चोटियों से, जिनके पीछे प्रकाश का आलोक मण्डल उभर रहा है, इस तरह धुँआ निकलता दिखाई दे रहा है जैसे वे ज्वालामुखियों की चोटियाँ हैं। मैं फटता और घुलता हुआ कोहरा देखती हूँ। चरवाहे की तरह कौन अपनी भेड़ों के झुण्ड जैसे कोहरे को धीरे-धीरे घेरे लिये चला जा रहा है? सामने के पेड़ की निकली हुई टहनी पर ओस की बूँदों के मोती पीले-पीले प्रकाश में सतरंगी होने लगे हैं। मकड़ी के जाले का एक तार नीचे जाने कहाँ तक गया

है। सुनहला प्रकाश, हल्का नीला कोहरा, और हरियाली से [illegible] सब कुछ, कितना रहस्यमय, [illegible], धोमिल-सा लगता है। [illegible] कि उदय कहीं गये हैं, अभी तक लौटे नहीं है। शायद [illegible] घुमाने ले जाते हैं। कितनी बार कहा कि [illegible] नहीं, जायेंगे 'ब्राह्मवेला' में ही। कुत्ता भी [illegible] सुनसान एकान्त में किस पर भरोसा किया जा सकता है? [illegible] हो गई है। अब तो आ जाना चाहिए था। मैं [illegible] तरह बदन तोड़ने से ही शायद आराम और [illegible] की खिड़की है। उसे सामने की ओर [illegible] जाती हूँ। नीचे के मोड़ पर एक गाँव है। [illegible] जाते है। वहीं कोने पर ही एक [illegible] और अन्य जरूरत की चीजें वहीं से [illegible] दीखने लगेगा···। कितना सुन्दर दिखाई देता है, [illegible] होकर नवली हो। जैसे मैं हवा की [illegible] हुई गाँव के पास पहुँच जाऊँगी, और मुझे [illegible] सुन्दर है देखने में, उन पर [illegible] इतना कठोर वह हो ही नहीं सकता।

मैं सोचती हूँ—ये बादल भी न [illegible] को स्वर देता रहा है, चीड़, देवदार, [illegible] जैसे पेड़ हरक के हृदय में उठती [illegible] पन है, कोई व्यक्तिगत [illegible] है, किसी अपने [illegible] है जो हर चीज़ को एक नई [illegible] होकर, गालों पर [illegible] और [illegible] नाक ठण्डी हो जाये) [illegible] जैसी नदियों को [illegible] किसी को साकार या निराकार, अर्थात् [illegible] है···। इस सबको [illegible] है—। किसी के साथ [illegible] हौले-हौले हाथ फेरते हुए, [illegible] अवस्था में यह सब सुनाता [illegible] कि किसी का हाथ [illegible] को विभोर और [illegible]

में उतार रहा होगा—। और वाहर चुप-चुप वर्फ़ के गाले डैने फैलाये उतर रहे होंगे—। खिड़कियों के कांचों पर वर्फीली फुई लग गई होगी और छज्जों पर वर्फ़ की उँगलियाँ उभर आई होंगी और उनसे वूँद-वूँद पानी टपक रहा होगा, टप्-टप्-टप्—। चीड़ के पेड़ जापानी पंखे हिला-हिलाकर·झूम-झूमकर सीटियाँ वजा रहे होंगे और हवा खिड़कियों से यों टकरा रही होगी जैसे हमारा वँगला रात के एकान्त में ज्वार की लहरों में झकोले खाता जहाज़ हो···।

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में डगर चढ़ती उमंगों-सी,
विछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा,
विहग-शिशु मौन नीड़ों में,
मैंने आंख भर देखा—
दिया मन को दिलासा : पुनः आऊँगा
भले ही वरस दिन, अनगिन युगों के वाद
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमककर दामिनी वोली,
"अरे यायावर, रहेगा याद !"[1]

देखते-देखते मुझे लगा, भूरे-भूरे रोओं वाला घना नील-कुहासा सिमटकर दूर दीखती हरियाली चोटियों से निकलते धुएँ की लहराती कुण्डलियों-सा रह गया है और जैसे घाटी के तल में कोई वहुत गहरी नदी है। धूप में सहसा चौंककर चकमकाने लगी है। पानी में कोई वड़ा भारी मकड़े जैसा वहता चला जा रहा है। मैं ग़ौर से देखती हूँ कि अरे, यह तो वही पार कराने वाली मशक वाला है···। लगता है, यहीं कहीं राजकुमारी अपर्णा की सुसराल के महल दिखाई देने लगेंगे···कुहरे में ढँके हैं।

टन्···टन्···टन्···अरे, तीन वज गये।···मौत का एक दिन मुअइयन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती ?'

शनिवार : २० जुलाई

एक वड़ा प्यारा-सा खत आया था। तेज का ही था। मिला उस समय जव मैं कई लड़कियों के वीच में वैठी थी। दो पोस्टकार्ड और भी थे। लड़कियाँ

---

१. अज्ञेय।

रिश्ते मे हमारी बहनें ही थी। दूसरे मुहल्ले से मिलने आई थी। मन हो रहा था कि दौडकर जाऊँ और भड़ाक से किवाड बन्द करके सबसे पहले उस पत्र को ही पढ़ लूं। देखूं क्या लिखा है? लेकिन लडकियों के सामने इतनी उतावली दिखानी नहीं थी। निहायत ही अचचल और धीर हाथों से खत लिये। लिफाफा देखकर दूर से ही समझ गई थी कि वही होगा। फिर भी उन्हें इस तरह लापरवाही से किताब के भीतर रख दिया जैसे इस तरह के खत तो रोज ही आते हैं, यह तो एक साधारण डाक है। लेकिन मन ऐसा मचल रहा था, इन सबको धक्का दे दूं और बाहर निकालकर, शान्ति से बैठ कर उस पत्र को पढ़ूं। और फिर बातें करते-करते मन इस तरह वही अटका रहा कि कुछ भी सुनाई नही देता था, और बार-बार बात कहते-कहते भूल जाती थी। 'हाँ क्या कह रही थी मैं?' कहकर याद करना पड़ता था। उन पोस्टकार्डों को भी तो इसीलिए नही पढ़ा था कि कही ये कम्बख्त लिफाफे मे दिलचस्पी न दिखाने लगें, लेकिन मन था कि बार-बार उधर ही चला जाता था। बड़ी मचलन होती थी कि सारी शिष्टता और औपचारिकता एक ही वाक्य में समाप्त कर डालूँ—। यह बहुत दिनों पहले की बात है और मुझे अच्छी तरह याद है कि अकेले मे भी मैंने उस लिफाफ़े को ही सबसे बाद मे पढा था। पता नही, कैसी एक आतुरता और उतावलापन था कि हाथों मे फडक-फड़ककर रह जाता था, लेकिन नदीदे बच्चे की तरह उस मिठाई को मैंने सबसे बाद के लिए रख लिया था। जितनी जल्दी पढ़ूंगी, उस प्रसन्नता और उसे प्राप्त करने की व्याकुल प्रतीक्षा को उतनी ही जल्दी गँवा दूंगी···उसे थोड़ा-थोड़ा करके पाना चाहती थी, देर तक पाना चाहती थी।

जाने क्यों आज-कल मुझे पुरानी बातें···बचपन की बातें, ऐसी-ऐसी बात जिन्हे मैं जाने कब का भूल चुकी हूँ, और जिनका कोई सीधा सम्बन्ध नही रह गया है, अब बहुत ही साफ-साफ याद आने लगती हैं और देर तक मैं उन्ही मे डूबी रहती हूँ।

ठीक वैसी मचलन लगती रहती है अब हर समय मन मे, कि उदय से मिलना है, उदय से यह कहना है···देखें, उदय पर इस बात की क्या प्रतिक्रिया होगी, क्या असर होगा···? उदय इस बात का क्या जवाब देंगे ···? उदय के यहाँ जाना है। फिर झुंझलाहट होती है कि यह क्या मुसीबत है आखिर, न उठने के रहे न बैठने-सोने के और बोलने—बात करने का उत्साह, सभी को जाने क्या हो गया है···? पढ़ने में मन नहीं लगता। क्या होगा पढकर? खिडकी से बाहर देखने लगती हूँ—पेन खोलकर लिखने बैठती हूँ तो अपने

आप भीतर से मुसकराहट उमड़ने लगती है। क्या खाक लिखे ऐसे में आदमी ? चित होकर लेटी-लेटी छत को ताकते-ताकते पता नहीं, कहाँ जा पहुँचती हूँ···। फिर चौंककर जागती हूँ। तब मन होता है कि दाँत भींचकर तीन बार सिर दीवार से मारा जाय कि होश ठिकाने आ जायँ ये खट···खट्···खट्।

कीर्ति चौधरी की एक कविता थी—

रहता तो सब कुछ वही है,
ये पर्दे···यह खिड़की—ये गमले
बदलता तो किंचित् नहीं है
लेकिन क्या होता है
कभी-कभी
फूलों में रंग उभर आते हैं
मेज़पोश, कुशनों पर कढ़े हुए
चित्र सभी बरबस मुसकराते हैं
दीवारें, जैसे अब बोलेंगी
आस-पास बिखरी किताबें सब
शब्द : शब्द
भेद सभी खोलेंगी
अनजाने होठों पर गीत आ जाता है
सुख क्या यही है ?
बदलता तो किंचित नहीं है
ये पर्दे···यह खिड़की···ये गमले···

हाथ देखकर एक बार तेज ने बताया था—'तेरी हैड लाइन बहुत अधिक ल्यूना की तरफ़ झुकी है। जानती है इसका क्या अर्थ होता है ? या तो दार्शनिक हो जायेगी या पागल।'

मैं क्या हुई जा रही हूँ ?

अपने आप ही हथेली फैलाकर देखने लगी—सनलाइन तो बहुत बड़ी है; लेकिन हैड लाइन सचमुच झुकी हुई है···पागल ही हो रही हूँ क्या ?

सुनते हैं आप किसी के बारे में कुछ सोचते रहें, तो संसार के किसी भी हिस्से में हो, उसके हृदय में भी आभास होने लगेगा कि कोई उसे याद कर रहा है। किसी विचित्र रहस्य-मय शक्ति से वह भी आपके ही बारे में सोचने लगता है···शायद मैण्टल-टेलीपेथी कहते हैं इसे···। वे भी इस समय मेरे ही बारे में सोच रहे होंगे···? हिचकियाँ आती हैं तो कहते हैं कि 'कोई याद कर रहा

होगा''' इतना करके भी [illegible]

सकता है ? ऐसा कोई मन नहीं है [illegible]

उनकी खिड़की में [illegible]

मन हो [illegible]

बारे में सोच रहे हैं [illegible]

रविवार : २१ जुलाई ([illegible])

अभी-अभी [illegible] रही हूँ। [illegible]

का वर्णन किन शब्दों में करूँ ? [illegible]

है, कितनी [illegible] ! [illegible]

अनुभूति जैसे चेतना के [illegible]

भीतर [illegible] हूँ। [illegible]

दिमाग [illegible]

न कुछ सोच ही पा रही हूँ तो [illegible] हूँ।

जा रही थी [illegible]

ब्याह है। अस्सा तो सुबह ही [illegible]। [illegible]

जरा भीड़-भाड़ कम हो जाने तो निकलूँ। [illegible]

रविवार है, [illegible] का प्रश्न ही नहीं उठता। [illegible]

हुए जाने क्या मन में आया कि [illegible]

शादी का वक्त है। छुट्टी शाम तक होगी। [illegible]

तक देख ही लें अपने लेखक साहब क्या कर रहे हैं ? [illegible]

थी कि कहीं मैं उनका बहुत-सा समय तो बरबाद नहीं कर रही ? [illegible]

रूप से वैसे ही समर्थ कर रहे हैं। दिन-भर लिखते रहते होंगे। [illegible]

हुई अब कौन वहाँ उतरे ? लेकिन सोचा फिर, [illegible]

जाता है ? और अब हम लोगों में इतनी निकटता तो है ही कि [illegible]

वे क्षमा माँग लें। खुद ही पूछ लूँगी कि वक्त तो बरबाद नहीं हो रहा है ?

मान लो आर्थिक आवश्यकता ही पड़ जाये। इतना नहीं कर सकती मैं ?

और मैं उतर आई। देखा, तो नीचे ही बहादुर साहब खड़े हैं। [illegible]

कूदते वे सीढ़ियाँ उतरे ही थे कि मुझे देखकर रुक गये। हाथ में उनके कुछ

टिकट लगे लिफ़ाफ़े थे। शायद डालने जा रहा था। मैंने पूछा : "[illegible]

आप भीतर से मुसकराहट उमड़ने लगती है। क्या खाक लिखे ऐसे में आदमी ? चित होकर लेटी-लेटी छत को ताकते-ताकते पता नहीं, कहाँ जा पहुँचती हूँ···। फिर चौंककर जागती हूँ। तब मन होता है कि दाँत भींचकर तीन बार सिर दीवार से मारा जाय कि होश ठिकाने आ जायँ ये खट···खट्···खट्।

कीर्ति चौधरी की एक कविता थी—

रहता तो सब कुछ वही है,
ये पर्दे···यह खिड़की—ये गमले
बदलता तो किंचित् नहीं है
लेकिन क्या होता है
कभी-कभी
फूलों में रंग उभर आते हैं
मेज़पोश, कुशनों पर कढ़े हुए
चित्र सभी बरबस मुसकराते हैं
दीवारें, जैसे अब बोलेंगी
आस-पास बिखरी किताबें सब
शब्द : शब्द
भेद सभी खोलेंगी
अनजाने होठों पर गीत आ जाता है
सुख क्या यही है ?
बदलता तो किंचित नहीं है
ये पर्दे···यह खिड़की···ये गमले···

हाथ देखकर एक बार तेज ने बताया था—'तेरी हैड लाइन बहुत अधिक ल्यूना की तरफ़ झुकी है। जानती है इसका क्या अर्थ होता है ? या तो दार्शनिक हो जायेगी या पागल।'

मैं क्या हुई जा रही हूँ ?

अपने आप ही हथेली फैलाकर देखने लगी—सनलाइन तो बहुत बड़ी है। लेकिन हैड लाइन सचमुच झुकी हुई है···पागल ही हो रही हूँ क्या ?

सुनते हैं आप किसी के बारे में कुछ सोचते रहें, तो संसार के किसी भी हिस्से में हो, उसके हृदय में भी आभास होने लगेगा कि कोई उसे याद कर रहा है। किसी विचित्र रहस्य-मय शक्ति से वह भी आपके ही बारे में सोचने लगता है···शायद मैण्टल-टेलीपेथी कहते हैं इसे···। वे भी इस समय मेरे ही बारे में सोच रहे होंगे···? हिचकियाँ आती हैं तो कहते हैं कि 'कोई याद कर रहा

होगा''' उदय को भी हिचकी आ रही होगी'''? कैसे उड़कर वहाँ पहुँचा जा सकता है ? ऐसा कोई मन्त्र नहीं है आदमी जब चाहे चिड़िया बन जाये''' उनकी खिड़की में बैठा-बैठा देखा करे : क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं ? मन ही मन उस समय हँसी भी आती रहे, कि देखो, कोई नहीं जानता जिसके बारे में सोच रहे हैं वह तो चिड़िया बनी खिड़की में बैठी है'''

रविवार : २१ जुलाई (मध्याह्न)

अभी-अभी हाँफती चली आ रही हूँ। समझ मे नही आता कि आज की घटना का वर्णन किन शब्दो में करूँ ? अंग्रेज़ी शब्द लूँ तो कितनी 'शॉकिंग' यह घटना है, कितनी अप्रत्याशित ! मैं समझ नही पा रही हूँ। एक तीखे अपमान की अनुभूति जैसे चेतना के परत पर परत वेधती चली जा रही है, और मैं भीतर ही भीतर तिलमिला उठती हूँ। इसकी तो मुझे उम्मीद ही नही थी। रास्ते-भर दिमाग लकवे का मारा जैसा सुन्न रहा और जब अब न रोना आ रहा है और न कुछ सोच ही पा रही हूँ तो बैठकर लिखने लगी हूँ।

जा रही थी अपने एक उधर के सम्बन्धी के यहाँ कालका देवी। कुछ शादी-ब्याह है। अक्का तो सुबह ही पहुँच गई थीं। मैं ग्यारह के क़रीब निकली। सोचा ज़रा भीड़-भाड़ कम हो जाये तो निकलूँ। यह ध्यान ही नहीं रहा कि आज तो रविवार है, पीक-ऑवर्स का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रॉडवे के सामने से गुज़रते हुए जाने क्या मन में आया कि टिकट मरोड़ती हुई उतर गई बस से। ब्याह-शादी का वक़्त है। छुट्टी शाम तक होगी। क्या करूँगी अभी से जाकर ? तब तक देख ही लें अपने लेखक साहब क्या कर रहे हैं ? वैसे एक उलझन मुझे होती थी कि कहीं मैं उनका बहुत-सा वक़्त तो बरबाद नहीं कर रही ? वैसे आर्थिक रूप से वैसे ही संघर्ष कर रहे हैं। दिन-भर लिखते रहते होंगे। एक बार इच्छा हुई अब कौन यहाँ उतरे ? लेकिन सोचा फिर, दस-पन्द्रह मिनट में ही क्या हुआ जाता है ? और अब हम लोगों में इतनी निकटता तो है ही कि ज़रूरत होगी तो वे क्षमा माँग लेंगे। खुद ही पूछ लूँगी कि वक़्त तो बरबाद नहीं हो रहा है ? मान लो आर्थिक आवश्यकता ही पड़ जाये। इतना नहीं कर सकती मैं ?

और मैं उतर आई। देखा, तो नीचे ही बहादुर साहब खड़े हैं। उछलते-कूदते वे सीढ़ियाँ उतरे ही थे कि मुझे देखकर रुक गये। हाथ में डाक के कुछ टिकट लगे लिफ़ाफ़े थे। शायद डालने जा रहा था। फिर [illegible]

ऊपर…?"

बहादुर मुझे देखते ही जाने कैसी रहस्यमय और व्यंग्यात्मक मुसकराहट मुंह पर ले आता था। मानो बताना चाहता हो कि उसे भी कुछ पता है। मेरे और उनके सम्बन्धों के बारे में वह अनभिज्ञ नहीं है। बोला : "सेठ तो सुबह सात किलाक से ही गयेला है।"

"अच्छा…।" निराशा और अनखाहट से मैं कुछ बोलने ही वाली थी कि उसके हाथ के एक लिफ़ाफ़े पर दिखाई दिया—'प्रिंसेस अपर्णा…"

हैंऽऽ ! एकदम चौंक गई। मैंने हाथ बढ़ाकर कहा—"ये चिट्ठियाँ डालने जा रहा है क्या ? देखूँ तो ?"

वह एक क्षण को पसोपेश में पड़ गया, दे या न दे। फिर मेरे चेहरे पर जाने क्या देखकर खत उसने दे दिये। बाक़ी मैंने एक भी पत्र न देखकर उसे ही निकाला। हाँ, साफ़ ही तो लिखा था : 'प्रिंसेस अपर्णा, चौथा माला, वीचि-विलास, मैरीन ड्राइव, बम्बई—' विश्वास नहीं हुआ। मेरे हाथ काँपने लगे …हजारों बातें एक साथ दिमाग़ में उछल-कूद मचाने लगीं। लिफ़ाफ़ा बता रहा है कि पत्र छोटा नहीं है…भारी है। सचमुच यह खत अपर्णा को ही जा रहा है ? जैसे मैं उस क्षण कुछ भी नहीं सोच पा रही थी। तो क्या दोनों अपर्णा एक ही हैं ?

"लाइए…" न जाने किस कुएँ से आती बहादुर की आवाज़ ने मुझे चौंकाया।

गहरी साँस लेकर मैंने कहा : "अच्छा बहादुर, जब वे ही नहीं हैं तो मैं ऊपर जाकर क्या करूँगी ? तू जाकर अपना काम-धाम देख। बसस्टैण्ड के पास ही तो बम्बा है—मैं डाल दूँगी इन खतों को।"

वह हिचका। फिर जाने क्या सोचकर—"बरोब्बर" कहकर जाने लगा तो मैंने उसे रोककर कहा—"देख, उदय जी आवें तो कह देना कि मैं आई थी…"

"बरा…!"

फिर मैं कैसे घर आई, मुझे नहीं मालूम। सारे खत डाल दिये, लेकिन उसे पोस्ट-बॉक्स के मुँह में लटकाकर फिर निकाल लिया। पर्स में रखकर घर ले आई। बड़ी देर तक अपने आप से लड़ती रही। इसे खोलूँ या न खोलूँ ? यों किसी के अनजाने उनका पत्र पढ़ लेना कैसा अनुचित है। मैं तो अपने पत्रों को हवा तक नहीं लगने देती। कई बार इच्छा हुई, पत्र डाल आऊँ। उदय से ही पूछ लूँगी कि यह क्या मज़ाक़ है ? लेकिन उन्हें ही बताना होता तो इतना छिपाते क्यों ? हो सकता है कि वे पूरी बात ही न बतायें ! और जब मैं उन्हें

लेकर इतना सोचती हूँ तो मुझे पूरा हक़ है कि उनके बारे में अधिक से-अधिक स्रोतों से जानूँ। आखिर मैं अपने जीवन से यों खिलवाड कैसे होने दूँगी ? नही, इसमें कुछ भी तो अनुचित नही है। भीतर की भर्त्सना को सुनते हुए भी आखिर मुझसे नही रहा गया तो ब्लाटिंग भिगोकर लिफ़ाफ़े के गोंद वाले हिस्से पर रखा और जब वह सील गया तो बड़ी सावधानी से खोल लिया (कोई नई बात नही थी, बहुत बार कॉलिज मे करना पड़ा था)···और अब चार खचाखच भरे सुन्दर पन्नों वाला पत्र मेरे हाथ मे था। मेरा दिल धाड़-धाड़ करके बज रहा था··· जैसे मेरे कानो मे कोई हथौड़े मार रहा हो। घर मे अकेली थी, फिर भी किवाड़ बन्द करके चोरो की तरह ख़त पढ रही थी और पाँवों के नीचे धरती हिल रही थी !

पूरा ख़त यहाँ नकल करना व्यर्थ है। उसकी जगह-जगह की लाइनें कुछ इस प्रकार हैं···

"प्रिय अपर्णा,

"तो सुजाता को इतने कॉन्फिडैन्स मे ले लिया गया···? बडी जलन हो रही है हमें···। इस कम्बख़्त को शेर सुनाये जाते हैं, जुहू घुमाया जाता है···। आख़िर हम भी तो कहें कि आजकल हमसे सीधे मुँह बात क्यों नही हो रही···? तुम्हारी चालाकी मान गये भाई ! एक बार ज़रा सुजाता से अपने यहाँ फोन पर हमारी भी बात करा दो न···।

"क्या पढ़ रही हो नया···? जो किताबें पिछली बार हमने बताई थी उनमें देखी एकाध ? पढ लो तो देखना खुद भी कि कितना बडा दुर्भाग्य था हमारा कि हमें ज़बरदस्ती यह अंग्रेज़ी-साहित्य पढ़ाया गया। वर्ना कहाँ खड़ा होना है यह फ्रेंच और रूसी दिग्गजों के सामने ? इन लोगों का सारा जीवन तो फ्रेंच साहित्य और जीवन की नकल करने मे गया है। फैशन था बोलचाल मे, रहन-सहन और साहित्य मे फ्रेंच स्पर्श लाना। जैसे हमारे यहाँ अंग्रेज़ी की नकल करना।

"ख़ैर, हमारी क्या पूछती हो ? वही···मज़दूरी···! मिनेरियो लिख रहे हैं···ये सिगरेटें क्यों भिजवाई जनाबने ? मेरे लिखने को तुम पसन्द करती हो, इसका यह मतलब तो नहीं कि सारी मेरी सनकें भी तुम ही पूरी करो ? उन्हे मुझ पर छोड़ो···यों मेरी आदत मत ख़राब करो···! आज तुम पाँच सौ पचपन से जीभ खराब कर दोगी तो कल अपनी चार मीनार कैसे चलेगी ? तुम्हारा वर्ग सनकी होने के लिए प्रसिद्ध है। भाई, आज तुम्हे मेरा लिखना पसन्द है; कल तुम्हे दूसरा पसन्द आ जायेगा ··आदमी की रुचि बदलती रहती है, बदले।

मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन हम अपनी हैसियत भूलकर अपनी आदतें और रुचियाँ क्यों बदलें? तुम्हारा यह सात्विक स्नेह इस संघर्ष में भी मुझे तोड़े नहीं ...मैं ऐसी-ऐसी चीज़ें देता जाऊँ जो तुम्हें और भी पसन्द आयें...यही बल दो...। यही तो तुम्हारी ओर से सबसे बड़ी भेंट होगी।

"कैसी लगी सुजाता? लिखती बहुत अच्छा है...। बस कमज़ोरी यह है कि लिखे को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेती...। आजकल लिखने का जोश है, कल ध्रुव-स्वामिनी बनने का जोश होगा तो दिन-रात बस ऐक्टिंग करेगी...। (वैसे लड़कियाँ ऐक्टिंग कब नहीं करतीं?) थोड़ी-सी बातूनी है; लेकिन मन लगता है उससे बातें करने में।—और बम्बई में ऐसे कितने लोग हैं जिनसे निःस्वार्थ भाव से खुलकर मतलब-हीन और बेमतलब बातें करके जी हल्का किया जा सके? व्यापारी नगर है न...इसलिए लोग बातें नहीं करते, शब्दों को इन्वैस्ट करते हैं। जो भी हो, सुजाता सिंसियर है, तुम जिस हद तक चाहो, उसके साथ निस्संकोच भाव से आत्मीय हो सकती हो...अच्छा, आपके लिए ऐसी अच्छी सहेली जुटाने की हमारी तरकीब...?

"अभी भी कम्बख्त समझती है कि तुम और मेरी बहन अपर्णा दोनों अलग-अलग हैं और वह कहीं शिमला में है...

"अच्छा, अब चलें? आज डायरैक्टर साहब ने पैसे देने के लिए बुलाया है। देखें, कुछ देते हैं या आज भी आश्वासन ही मिलेगा..."

कागज़ के पन्नों को पलट रही थी और मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि अपने मन की उथल-पुथल को किन शब्दों में समझूँ या व्यक्त करूँ? कैसे वह सब बताऊँ जो मैंने उस समय महसूस किया था...? पिछला एक-एक चित्र मेरे सामने से गुज़र रहा था...। उदय ने आखिर मेरे साथ यह मज़ाक़ क्यों किया...?

और फिर मैं ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़ी: 'हाय, कितना भयंकर आदमी है यह...। इसने कभी हवा तक नहीं लगने दी कि उसकी बहन अपर्णा और प्रिंसेस अपर्णा एक ही व्यक्ति हैं। ग़ज़ब का ऐक्टर है। सचमुच यह फ़िल्म-डायरेक्शन में नये प्रयोग कर सकेगा...। क्या बेवक़ूफ़ बनाया है मुझे भी। मैं कैसी चुपचाप उसकी सारी बातें मानती चली गई?'

लेकिन यह मज़ाक़ उदय ने क्यों किया...? उदय का प्रिंसेस से भी परिचय होगा इस बात की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी और वह भी ऐसा निकट परिचय। अच्छा, अगर मान लो, है भी तो उसे छिपाने की ज़रूरत क्या थी? मुझे बता ही देते तो क्या हो जाता...? उसे इतना रहस्य बनाकर रखने की

क्या आवश्यकता थी ?

तो सचमुच ही वह आदमी 'चरित्र-हीन' है क्या ?—रजनी, अपर्णा, और भी जाने कौन-कौन होंगी···? लेकिन अपर्णा के परिचय से लगता तो ऐसा नहीं है कि कही भी कुछ ऐसी बात है···

फिर भी आखिर मुझसे छिपाया क्यो ?

और उसके बाद मैं यह जानते हुए भी कि सन्ध्या को उदय का मिलना असम्भव है, सन्ध्या को उदय के यहाँ गई···। अपने उस सम्बन्धी के यहाँ से बहाना करके जल्दी लौटी और अपने रास्ते से हटकर कॉफी हाउस के सामने से गुजरी···कि शायद वही दीख जायें और अब यह डायरी लिखने बैठ गई हूँ···

सोमवार : २२ जुलाई

रात भर नीद नही आई···। रह-रहकर आँखें खुल जाती और लगता जाने कब सुबह होगी···। लेकिन सुबह-सुबह जाना भी तो एक तरह से ठीक नही होगा। वहाँ मुलायम सिंह होगा। कल बहादुर ने मेरे आने की बात कही जरूर होगी···। शायद खत देने की बात भी कह दी हो···। सुबह से मैं टेलीफोन की राह देखती रही। शायद टेलीफोन ही आ जाय···और जब अब प्रतीक्षा असह्य हो गई है तो फिर लिखने बैठ गई हूँ। ठीक दस बजे यहाँ से चल दूँगी···।

दोपहर

वहाँ से आते ही फिर लिखने बैठ गई हूँ। हर क्षण मुझे लगता है कि मैं लिखना-पढ़ना छोड-छाडकर सिसक-सिसककर रो न पड़ूँ। पता नही, मैं अकेली आई हूँ या नीचे तक उदय मेरे साथ आये। शायद खुद ही आई थी ' हय राम ! जाने क्या होने वाला है ? जाने, किस रहस्य का उद्घाटन हो रहा है···। नही, मैंने तो उनके साथ कोई खेल नही खेला···कोई चाल नही चली कि 'शह' खाकर अब मात खाऊँ···। मुझे खुद विस्मय हो रहा है कि सुबह तक प्रचण्ड उत्सुकता की तनाव भरी स्थिति में मैं बचूंगी कैसे ? व्याकुलता की इस भट्टी पर कही मेरा हार्ट-फ़ेल न हो जाये···। मैं किससे जाकर कहूँ कि देखो, मैं मर जाऊँगी। उत्सुकता के मारे मेरी नस-नस तडकी जा रही है, मेडी छाती फटी जा रही है। एक चीज है जो मुझे अभी इसी क्षण जान लेनी चाहिए···, लेकिन उसे

जानने के लिए मुझे ठीक बाइस घण्टे राह देखनी होगी—रुकना होगा।

जब मैं उदय के कमरे में पहुँची तो ठीक दस बजे थे। उदय खिड़की पर सिगरेट पीते-पीते कुछ सोच रहे थे। मैंने धीरे से दरवाजे पर खट-खट की तो बहादुर ने, शायद किचन से निकलकर, दरवाजा खोल दिया और मुझे देखकर उसके चेहरे पर वही परिचय और आत्मीयता की रहस्य-भरी मुसकराहट खिल उठी। उसकी चपटी-सी नाक और भारी-भारी पलकों वाला चेहरा आज मुझे निहायत ही कुरूप लगा। उदय का ध्यान तब भी भंग नहीं हुआ था। उँगली पटककर सिगरेट झाड़ते-झाड़ते कुछ देखे जा रहे थे। भीतर आ गई। हस्व-मामूल शतरंज की बाज़ी लगी बिसात रक्खी थी। बिस्तर पर वही कटी लोथों जैसे तकिये इधर-उधर पड़े थे। मन में ऐसी मिसमिसाहट और आवेग उठ रहा था कि दौड़कर उनके दोनों कन्धे पकड़ लूँ और झकझोरकर पूछूँ: "बताओ, तुमने मेरे साथ यह मजाक़ क्यों किया? कोई और नहीं रह गया था यह सब करने को?" कल मुझे जिस बात पर हँसी आ रही थी आज रह-रहकर झुंझलाहट के असफल आवेश पर रोना आ रहा था।

मैं जैसे कोई बहुत बड़ा निश्चय करके आई थी। बड़ी शान्ति से पाँव के ऊपर पाँव रखकर बैठ गई कुर्सी पर। और दरवाजा बन्द करके किचन में चले गये बहादुर से जोर से पुकारकर बोली: "बहादुर, दो कप चाय बनेगी।"

उदय मुड़े, "अरे? तुम?" फिर वे बड़ी प्रसन्नता से (मुझे देखकर हमेशा ही उनका चेहरा खिल जाता था) मेरे पास आकर बोले: "मैं तो अभी-अभी यही सोच रहा था कि कैसे तुम्हें कण्टैक्ट करूँ? आपके घर जाना बेकार था, वह तो सिर्फ़ आपके लिए 'रैन-बसेरा' है। टेलीफ़ोन के लिए नीचे तक जाना होता···कहिए मेरे लायक़ काम···?"

मैंने देखा उनके चेहरे पर अजब सुस्ती छाई है और आँखों के नीचे गहरी-गहरी लकीरें खिंच आई हैं। रात में न सो पाने वालों के चेहरे पर जैसी कुछ थकान और लाचारी की छाप आ जाती है, वैसी ही उदय के चेहरे पर थी। निहायत गम्भीरता से, मैंने सामने खड़े हुए उदय को भौंहें उठाकर देखा—"आपकी बातें हो चुकीं? अब आप सामने बैठ जाइए, और जो-जो मैं पूछती जाऊँ, वह साफ़-साफ़ बताते जाइए···"

मेरी इस गम्भीरता से उदय चौंक गए। शायद मुसकराने का प्रयत्न भी किया या किसी मुसकराहट का हल्का-सा आभास खोजने के लिए उन्होंने ग़ौर से मेरे मुँह की ओर देखा और उन्हें लगा कि होंठों के कोने में कहीं बड़ी हल्की-सी मुसकराहट का कण अटका है। एकदम हँसकर बोले—"शायद ओ' हेनरी

ने कहीं एक बड़ी मज़ेदार बात कही है"—फिर मेरी ओर देखा कि मैं उस प्रसिद्ध कहानीकार की बात सुनने के मूड में हूँ या नहीं—"उसने लिखा है कि रात के बारह बजे आप भागते-दौड़ते किसी भी भले आदमी के किवाड़ ज़ोर से पीट डालिए और जब वह घबराया-बौखलाया बाहर निकले तो हाँफते हुए टूटे स्वर मे कहिए कि, 'भागो, तुम्हारा सारा भण्डाफोड़ हो गया है।' उस एक निमिष के लिए कोई भी ऐसा आदमी आपको नहीं मिलेगा जो बौखलाकर घबरा न उठे, और उसके हाथ-पाँव काँपने न लगे। फिर दूसरे ही क्षण चाहे वह स्वस्थ क्यों न हो जाय···"

भौंहों में मरोड़ लाकर मैंने भारी आवाज़ मे पूछा—"मैं पूछती हूँ, हो गई आपकी बात? अच्छा, अब मेरी बात का जवाब दो, आपने मेरे साथ यह चालाकी क्यों की···?" और बिना कुछ कहे मैंने पर्स से निकाल लिफ़ाफ़ा उनके सामने बढा दिया।

वे जैसे एकदम सन्नाटे में आ गए। उसे ऐसे घूरते रहे, जैसे देखते-देखते वह अभी अदृश्य हो जायेगा···। बड़े हकलाये और सूखे गले से शब्दों को ठेल-ठेलकर पूछा···"यह···यह तुम्हे कहाँ मिला···?"

"यह छोड़िए···अपने इस अपराध की माफी मैं पीछे माग़ूंगी कि यह मुझे कहाँ मिला या मैंने इसे क्यों खोलकर पढ़ा, लेकिन मैं यह जानना चाहती हूँ कि यह धोखा आपने क्यो दिया? क्यों यह बात आप छिपाये रहे?" जोर देकर मैंने कहा। अभी तक जिस दृढ़ता और जिन निश्चयों को मैं दुहराती और जिन बातों की मैं रिहर्सल करती आई थी, वे सब गायब हो गए थे और उत्तेजना से मेरी ठोडी काँपने लगी थी। लगा ज़रा देर यह और चुप रहेंगे तो मैं रो पड़ूँगी।

तब तक वे सुस्थ हो चुके थे। ऊपर छत की ओर मुँह करके गला फाड़कर हँस पड़े: "तो आपको आखिर पता चल ही गया···। मुझे भी यह सन्देह होने लगा था कि तुम्हें बीच में ही न पता लग गया हो···। खुद सोच रहा था कि तुम्हें बता ही दिया जाय।"

हँसी सामने वाले को कभी-कभी बड़े बेमौके अप्रतिभ कर देती है। मैं खिसियानी और रुँआसी हो आई। जबरदस्ती मुसकराने की कोशिश करते हुए कहा—"कल से मुझे रह-रहकर यही हो रहा था कि मुझे ही बुद्धू बनाने की ऐसी जरूरत क्या आ पड़ी थी? और मैं भी तो कैसी बेवकूफ थी कि इतनी सीधी-सी बात भी मेरी समझ में नहीं आई। यो अपने को बडी चालाक लगाती हूँ।"

मेरे चेहरे के उतार-चढ़ावों को देखकर वे हँसते रहे—"चालाक हो तो मारे जाते हैं···"

"ताज्जुब तो मुझे यह है कि उस कम्बख्त प्रिंसेस के चेहरे पर कहीं इतनी-सी शिकन नहीं आती थी। आपकी बुराई ऐसे करती थी जैसे उसे आपसे क्या मतलब? अच्छा, अगर मुझे आप यह सब बता ही देते कि प्रिंसेस अपर्णा और आपकी बहिन अपर्णा दोनों एक ही हैं तो आखिर क्या मुसीबत हो जाती···सुनूँ?"

"तब आज वाला आनन्द कहाँ से आता?" अपनी चालाकी की सफलता से उनका चेहरा खिल उठा—"आप समझती हैं कि जो भी बातें आप मुझे बताती थीं, वे मुझे पहले से पता नहीं थीं···?"

मैं खिजला उठी—"सो तो सब ठीक है। अब तो मेरे सामने सभी कुछ साफ़ हो गया। हम अपने आपको बड़ी तीस-मारखाँ ऐक्टर समझते थे, आप दोनों ने तो सचमुच ही ऐक्टिङ्ग में कमाल कर दिया···"

"हार मान ली न?" पंजा फैलाकर धृष्टता से मुसकराते हुए उदय ने पूछा।

"हार की क्या बात है, यह तो सरासर धोखा है···। इट्स नॉट ए फ़ेयर गेम···" झुँझलाकर मैंने होठ एक ओर झटक दिए।

और वे बड़ी देर तक हँस-हँसकर मुझे यही बताते रहे कि किस समय कहाँ मुझे बेवक़ूफ़ बनाया और अपने ऐसी आसानी से बेवक़ूफ़ बनते चले जाने पर मुझे भी हँसी आती रही···।

"मुझे पता था कि ऐक्टिंग पर तुम्हें इनाम मिलेगा, इसलिए मैं गया नहीं···" वे बता रहे थे।

और फिर जैसे किसी ने स्विच बन्द करके अँधेरा कर दिया हो इस तरह उनके चेहरे का सारा उल्लास और हास्य ग़ायब हो गए···और रात-भर जागी हुई एक अजब दर्दीली-सी उदासी छा गई। भौंहें भारी हुईं तो माथे की आड़ी सलवट बीच में उभर आई। पीछे दोनों पंजों को आपस में उलझाए हुए वे गम्भीरता से टहलते रहे। फिर दूसरी ओर जाकर उधर मुँह किए हुए ही बोले—"सुजाता, तुम मुझे विश्वास दिला सकती हो कि मैं जो कुछ भी कहूँगा उसका तुम क़तई बुरा नहीं मानोगी···?" फिर खुद ही बोले—"और मैं समझता हूँ कि हम लोगों के बीच में ऐसे सम्बन्ध या ऐसा अण्डर्स्टैंडिंग बन गई है कि भावावेश में उद्विग्न या उत्तेजित होने या बुरा मानने की बजाय हम

दोनों ही जोर देकर अपनी बात समझ और समझा सकें। और तब भी अगर काम न चले तो 'अपनी इच्छा' कहकर उस पर अड़ सकें..."

मेरे कान खड़े हो गए और सहमा दिल एक सुपरिचित लेकिन नितान्त अनजान मधुर आशंका से धक्-धक् करने लगा ! मन हुआ कह दूँ—'मैं जानती हूँ, आपको क्या कहना है।'

वे सोचते रहे कि अपनी बात को कैसे रक्खें। फिर जैसे शब्द को जबरन धकेलकर बोले—"सचमुच सुजाता, मुझे बड़ी तकलीफ हो रही है, कैसे तुमसे यह बात कहूँ—? तुम गलत समझोगी..."

"अब बताओ भी न ? कह तो दिया कि नहीं मानेंगे बुरा..." मैं उत्सुकता से अकुलाकर बोली। मानो मैं जानता था कि वह कौन-सी बात है जो उनकी जबान पर नहीं आ रही। और उसके जवाब मे मैं क्या कहूँगी...कैसे व्यवहार करूँगी—? यह सब कुछ अगरु-धूम्र-सा उमड़-उमड मेरी आँखो के आगे एक झीने पारदर्शी पर्दे की तरह आने लगी...। और एक बार फिर झलक उठा वही पहाड़ी बँगले के शीशे की खिड़कियों वाले बरामदे का कोना...नीचे बहती नदी की गूँज और धूप का उभरता उजास। उस दिन वाली बस की तरह सब कुछ आउट-आफ-फोकस तस्वीर जैसा लगने लगा।

मेरे 'बताओ' शब्द पर, कुछ चौंककर एकदम सिर उठाकर उदय ने मुझे देखा, देखते रहे और फिर खिडकी की ओर टहलते हुए चले गए। फिर यों ही एक-एक कदम रखते हुए चले आए मेरे पास तक। उनकी पीठ पर निगाहें गड़ाए मैं कैसे अपनी उत्सुकता रोकती रही यह मैं ही जानती हूँ। आखिर कुछ निगलकर गहरी साँस को दबाते-से वे बोले—"नही, बात मुझसे ठीक से रक्खी नहीं जाएगी...पता नहीं, तुम उसका क्या उलटा सीधा अर्थ लो...मैं लिखकर ही दे दूँगा। कल ले लेना...डाक से भेजना तो शायद ठीक नहीं रहेगा।"

जाने कैसी मनहूस कल्पना से मेरा दिल धक से रह गया। शायद इस विषय में ज्यादा उत्सुकता दिखाना मेरी बेशर्मी हो, लेकिन अपने उमडते आते दिल को दबाऊँ भी तो कैसे ? बड़े घुटे गले से पूछा. "बात का कुछ आभास तो देते न ?"

खड़े-खड़े वे गौर से मेरी तरफ देखते रहे, लगा जैसे आन्तरिक व्यथा से उनके चेहरे की रेखायें कुछ काँपी—"अगर मैं यह कहूँ कि यह तो सिर्फ शह थी और असल में तुम मात खा गई हो तो तुम्हे कैसा लगेगा...? सच सुजाता, कई बार मेरे मन मे आया कि मैं यह सब न करूँ मेरे हाथों से कम से कम यह सब न हो...लेकिन एक बार खेल शुरू हो चुका था—मैं क्या करता ?"

उनके गालों और होठों के बीच की आड़ी रेखाएँ करुण हो आईं···"कई बार मैं अपने मन की भर्त्सना से लड़ता रहा कि तुम जैसी सहृदय और भोली लड़की से यह खतरनाक खेल न खेलूँ···लेकिन पता नहीं कैसा क्रूर आनन्द था कि खेल चलता ही गया—। सचमुच मुझे माफ़ कर देना सुजाता—अब भी मैं दिल से चाहता हूँ कि तुम जैसी अच्छी लड़की से मेरी मित्रता का सम्बन्ध बना रहे···"

"आखिर कुछ बात भी बतायेंगे···?" रोने-रोने को होकर मैं बोली—उत्सुकता के मारे मेरा सिर फटा जा रहा है। "मुझ पर दया कीजिए···" मुझे लग रहा था कि भरे जाड़ों में मैंने अपना सिर बर्फ़ीले पानी में डुबा दिया···है। कानों में अजब-अजब-सी आवाज़ें आने लगी थीं, और डर था कि कहीं बेहोश न हो जाऊँ।

उन्होंने मुझे देखा और पास आकर कन्धे थपथपाये—दिलासा-सा देते हुए ऐसी मजबूरी के स्वर में बोले, मानो भीख माँग रहे हों—"थोड़ा, बस, थोड़ा-सा शान्त हो जाओ सुजाता। अब मैं तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगा—मुझसे छिपाया ही नहीं जायगा···। सभी कुछ बता दूँगा। चाहूँ तो मैं अभी बात को समाप्त कर सकता हूँ, और सारी चीज़ एक सुन्दर मजाक बनकर रह जायेगी···लेकिन घनिष्ठता की इस सीमा पर आकर धोखा देने को मन नहीं करता···" कुछ था जो उनके भीतर ऐंठ रहा था।

और मुझे लगा मैं सिसककर रो पड़ूँगी···। इस आदमी को ज़रा दया नहीं है? मुझे बिलकुल भी पता नहीं कैसे घर आई। उदय साथ टैक्सी में आकर छोड़ गए या मैं अकेली ही आई। हाय, कौन-सा रहस्य है···? कहीं मैं मात खा गई हूँ···कोई मुझे बताओ रे, किन सुनसान जंगली घाटियों में मुझे परास्त कर दिया गया है···। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, पाँव पड़ती हूँ, मेरे ऊपर दया करो। मैं मर जाऊँगी···मुझे बताओ, आखिर बात क्या है···?

इस समय अगर मेरे पास पिस्तौल हो तो शायद मैं अपने-आपको शूट कर लुँ। पिस्तौल प्रिंसेस के पास होगी···क्यों न प्रिंसेस से ही इस बात का पता लगाया जाय···? अरे, इतनी सीधी-सी बात मेरी समझ में नहीं आई?

पन्द्रह मिनट बाद

अभी-अभी प्रिंसेस को फ़ोन किया तो पता चला कि "इस समय अपने सॉलिसिटर और महाराजकुमार के साथ कुछ ज़रूरी बातें कर रही हैं···आप फ़ोन दो-तीन घण्टे बाद कर लें तो अच्छा हो"···तुम्हारा सिर!

मंगल : २३ जुलाई

अपमान और क्रोध की एक आग है जो जहरीली लहरों की तरह रह-रहकर मेरी नसों में लहक रही है—क्या हक था इसे मेरी भावनाओं से यों खिलवाड़ करने का ? जी में आता है कि पागल और उद्भ्रान्त की तरह इसके सारे कपड़े चीर-चीर कर डालूं, घूँसों और मुक्कों से, इसे कूट-कूटकर बेहाल कर दूँ; नाखूनों और दांतों से इसके चिथड़े उड़ा दूँ और फिर इसके मुँह पर खूब थूकूँ 'ले, और ले, और खेल।' लेकिन जो कुछ उदय ने अपनी डायरी में लिखकर मुझे दिया है, उसे हाथ में लिये स्तब्ध और लकवामारा-सा मैं यों ही बैठी रही···

सोमवार : २२ जुलाई (रात्रि, एक बजकर दस मिनट)

…सिंह साहब के खर्राटों के बीच, डेढ़ घण्टे से डायरी सामने रक्खे बैठा हूँ और समझ में नहीं आ रहा कि इसे शुरू कैसे करूँ? पहले रोज़ लिखा करता था। अब तो जैसे आदत ही छूट गई है। चाहता हूँ अपने-आपको सुजाता के सामने खोल दूँ; लेकिन जैसे कोई ज़बान रोक लेता है। और यही संकट आज उस समय आया जब उसने सारी बात को ज़बानी सुनने का आग्रह किया। खैर, मैंने वचन दिया है कि सारी स्थिति को लिखकर ज्यों-का-त्यों रख दूँगा। प्रार्थना करूँगा कि 'सुजाता, इतना सब जानकर भी अगर कर सको तो क्षमा अवश्य कर देना।'

इस सारे दौरान में और यह डायरी लिखते हुए भी कितनी उत्कट आत्म-भर्त्सना और कचोटती ग्लानि से तिलमिलाता रहा हूँ, मैं ही जानता हूँ। नहीं कह सकता कि इसे लिखकर, पढ़ चुकने के बाद भी हमारी मित्रता क़ायम रह पायेगी भी या नहीं। लेकिन सुजाता के प्रति मेरा स्नेह, घनिष्ठता और विश्वास कम-से-कम यहाँ न टूटे—मेरी निश्छल कामना; विनम्र प्रार्थना यही है। इस सबके बाद और तो उससे दे ही कैसे सकूँगा लेकिन अनुरोध उससे अवश्य करूँगा। जाने मेरी बात रक्खेगी भी या नहीं?

मैंने उससे कहा था—"कई बार मेरे मन में आया कि खेल को यहीं समाप्त कर दूँ।" शायद यह मज़ाक हम लोगों को और भी आत्मीय और निकट बना देता। उसका और मेरा सम्बन्ध एक मधुर मित्रता का ही चलता रहता और उसके बीच यह सब 'चालें' न आतीं। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि मैं कर भी क्या सकता था? खेल तो मेरे न चाहने पर भी शुरू हो ही चुका था। शीशे की एक दीवार थी, जिसके एक ओर एक खिलाड़ी बैठा था और दूसरी ओर दूसरा। चाल ऐसी आ गई कि मैंने पाया, सुजाता अचानक 'अदेब' में आ गई है। चाहते हुए भी उसे हटाया नहीं जा सकता। उसे हटाना अपने 'शाह' का मोह छोड़ना था, अपनी हार स्वीकार करना था। और हारना मेरे 'खिलाड़ी'

की ज़रूरत नहीं था।

कभी-कभी [illegible] लगता था कि मैं भी किस ज़माने के [illegible] हूँ मानसिक स्तर पर — जब अनिन्द्य राजकुमारियाँ [illegible] की सहेलियाँ और दासियाँ [illegible] सारे [illegible] को [illegible] किया करती थीं कि जो भी इस बाज़ी को जीत लेगा, राजकुमारी उसी की होगी। (साफ़ कहूँ तो ऐसी किसी भी 'प्राप्ति' का लोभ यहाँ नहीं था। और परदे के पास से राजकुमारी सारे करतब और उसके लिए [illegible] वाला सूली पर चढ़ा दिया जाता। एक बार कोई छोटे हाथ खाना-खज़ाना [illegible] लगाकर आधी-रात के सन्नाटे में पीछे से ऊपर चढ़ आया; क्योंकि सदर फाटक से उसे आने नहीं दिया गया था। उसने राजकुमारी को बताया और खेल शुरू हो गया। खेल शुरू हो गया था और मैं सुजाता के सामने दूसरी लड़कियों के नाम लेता था, ख़ास तौर से अपर्णा का नाम लेता था कि वह चाहे तो अपर्णा के बारे में हर प्रकार की कल्पना कर सके। और इसके लिए भी छूट देता गया कि वह चाहे तो बहन अपर्णा और मिसेज अपर्णा को एक भी समझ ले…। उसके मानसिक प्रवाह में मैंने कभी बाधा नहीं दी। लेकिन मैं जब-जब भी सुजाता से मिला हूँ यह टीस मुझे सालती रही है कि ऐसे सरल हृदय प्राणी के साथ मुझे यह 'खेल' खेलना पड़ रहा है।

ख़ैर तो सारी वस्तुस्थिति को शायद मैं यों रख सकूँगा।

जब मैंने पहले-पहल सुजाता की रचनाएँ पढ़ीं तो मुझे लगा कि इस लड़की में प्रतिभा है, अन्तर्दृष्टि है, और है एक ताज़ी बात कहने की शैली। और सब कुछ इतना सहज और सरल लगा कि शायद बहुत कम जगह देखने में आया। लगा, इसे विकास देना चाहिए। शायद हम लोग नारी दृष्टिकोण से लिखी कुछ अद्भुत चीज़ें पा सकें—

लेकिन साफ़ कहूँ तो मेरे मन में यह बात शुद्ध कला की सेवा या एक नई प्रतिभा को प्रोत्साहन देने के लिए नहीं आई थी—वस्तुतः इस भावना के पीछे था एक उगती हुई प्रतिभा को पी जाने का स्वार्थ। मेरे मन की प्रताड़ना और आत्म-भर्त्सनाका कारण यह नहीं है कि मैंने अपनी मित्र और एक भोली लड़की को धोखा दिया, उसकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया—बल्कि [illegible] मैंने एक उगती प्रतिभा को अपने स्वार्थ के लिए हथियार बना लिया था [illegible] बनाना चाहा था। यों मुझे अब भी विश्वास है कि कोमल और [illegible] चाहे जितनी हो उसकी शक्ति आसानी से चुकेगी नहीं, और अपना [illegible] मुझे कितनी प्रसन्नता देता है, कह नहीं सकता।

मेरे बारे में यहाँ जो 'यश' फैला है उसे जानते हुए [illegible]

उदय की डायरी : फाड़ा हुआ पन्ना

सोमवार : २२ जुलाई (रात्रि, एक बजकर दस मिनट)

…सिंह साहब के खर्राटों के बीच, डेढ़ घण्टे से डायरी सामने रक्खे बैठा हूँ और समझ में नहीं आ रहा कि इसे शुरू कैसे करूँ ? पहले रोज़ लिखा करता था। अब तो जैसे आदत ही छूट गई है। चाहता हूँ अपने-आपको सुजाता के सामने खोल दूँ; लेकिन जैसे कोई ज़बान रोक लेता है। और यही संकट आज उस समय आया जब उसने सारी बात को ज़बानी सुनने का आग्रह किया। खैर, मैंने वचन दिया है कि सारी स्थिति को लिखकर ज्यों-का-त्यों रख दूँगा। प्रार्थना करूँगा कि 'सुजाता, इतना सब जानकर भी अगर कर सको तो क्षमा अवश्य कर देना।'

इस सारे दौरान में और यह डायरी लिखते हुए भी कितनी उत्कट आत्म-भर्त्सना और कचोटती ग्लानि से तिलमिलाता रहा हूँ, मैं ही जानता हूँ। नहीं कह सकता कि इसे लिखकर, पढ़ा चुकने के बाद भी हमारी मित्रता क़ायम रह पायेगी भी या नहीं। लेकिन सुजाता के प्रति मेरा स्नेह, घनिष्ठता और विश्वास कम-से-कम यहाँ न टूटें—मेरी निश्छल कामना; विनम्र प्रार्थना यही है। इस सबके बाद ज़ोर तो उससे दे ही कैसे सकूँगा लेकिन अनुरोध उससे अवश्य करूँगा। जाने मेरी बात रक्खेगी भी या नहीं ?

मैंने उससे कहा था—"कई बार मेरे मन में आया कि खेल को यहीं समप्त कर दूँ।" शायद यह मज़ाक हम लोगों को और भी आत्मीय और निकट बना देता। उसका और मेरा सम्बन्ध एक मधुर मित्रता का ही चलता रहता और उसके बीच यह सब 'चालें' न आतीं। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि मैं कर भी क्या सकता था ? खेल तो मेरे न चाहने पर भी शुरू हो ही चुका था। शीशे की एक दीवार थी, जिसके एक ओर एक खिलाड़ी बैठा था और दूसरी ओर दूसरा। चाल ऐसी आ गई कि मैंने पाया, सुजाता अचानक 'अर्दब' में आ गई है। चाहते हुए भी उसे हटाया नहीं जा सकता। उसे हटाना अपने 'शाह' का मोह छोड़ना था, अपनी हार स्वीकार करना था। और हारना मेरे 'खिलाड़ी'

ो गवारा नही था।

कभी-कभी खयाल आया करता था कि मैं भी किस जमाने में रह रहा हूँ मानसिक रूप से; जब प्रतिभावान् राजकुमारियाँ तरह-तरह की पहेलियाँ और बाजियाँ लगाकर सारे ससार को ललकार दिया करती थीं कि जो भी इस बाजी को जीत लेगा, राजकुमारी उसी की होगी। (साफ़ कहूँ तो ऐसी किसी भी 'प्राप्ति' का लोभ यहाँ नही था) और परदे के पास मे राजकुमारी बाजी जीतती और अगले दिन खेलने वाला फाँसी पर चढ़ा दिया जाता। एक बार कोई फटे हाल खाना-बदोश कमन्द लगाकर आधी-रात के सन्नाटे में पीछे से आ पहुँचा आया; क्योंकि सदर फाटक से उसे आने नहीं दिया गया था। उसने राजकुमारी को जगाया और खेल शुरू हो गया। खेल शुरू हो गया था और मैं सुजाता के सामने दूसरी लड़कियों के नाम लेता था, खास तौर से अपर्णा का नाम लेता था कि वह चाहे तो अपर्णा के बारे में हर प्रकार की कल्पना कर सके। और इसके लिए भी छूट देता गया कि वह चाहे तो बहन अपर्णा और प्रियंग अपर्णा को एक भी समझ ले"''। उनके मानसिक प्रवाह में मैंने कभी बाधा नहीं दी। लेकिन मैं जब-जब भी सुजाता से मिलता हूँ यह टीस मुझे सालती रही है कि ऐसे सरल हृदय प्राणी के साथ मुझे यह 'खेल' खेलना पड़ रहा है।

खैर तो सारी वस्तुस्थिति को शायद मैं यों रख सकूँगा।

जब मैंने पहले-पहल सुजाता की रचनाएँ पढ़ीं तो मुझे लगा कि इस लड़की मे प्रतिभा है, अन्तर्दृष्टि है, और है एक ताजी बात कहने की शैली। और सब कुछ इतना सहज और सरल बना कि शायद बहुत कम जगह देखने में आया। लगा, इसे विकास देना चाहिए। शायद हम कोई नारी दृष्टिकोण से किन्हीं कुछ अद्भुत चीजें पा सकें—

लेकिन साफ़ कहूँ तो मेरे मन में यह बात शुद्ध कला की सेवा या एक नई प्रतिभा को प्रोत्साहन देने के लिए नहीं आई थी—वस्तुतः इस भावना के पीछे था एक उगती हुई प्रतिभा को पी जाने का स्वार्थ। मेरे मन की प्रताड़ना और आत्म-भर्त्सना का कारण यह नहीं है कि मैंने अपनी मित्र और एक भोली लड़की को धोखा दिया, उसकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया—बल्कि यह कि मैंने एक उगती प्रतिभा को अपने स्वार्थ के लिए हथियार बना लिया था—या बनाना चाहा था। यों मुझे अब भी विश्वास है कि कोमल और भावुक सुजाता चाहे जितनी हो उसकी शक्ति आसानी से चुकेगी नहीं, और उसका यह विश्वास मुझे कितनी प्रसन्नता देता है, कह नहीं सकता।

[illegible]

की निकट परिधि में आती चली गई, उसने समय-समय पर मेरी अशिष्ट उपेक्षाओं को भी सहा···मुझे उसका यह साहस और स्वभाव दोनों अच्छे लगे। लेकिन मैंने उससे छिपाया नहीं कि मेरे अन्य लड़कियों से भी मित्रता-सम्बन्ध हैं, इसलिए हमारा यह सम्बन्ध भी ग़लत नहीं समझा जाना चाहिए। हो सकता है, इसे सुजाता ने इस रूप में लिया हो कि मैं उसपर प्रभाव जमाना चाहता था। इसमें भी अपर्णा का ज़िक्र मैंने विशेष रूप से किया था।

अपर्णा प्रिंसेस है या प्राइमरी स्कूल की टीचर, इसे जानने की मैंने भी कभी चिन्ता नहीं की। उसे पढ़ने का शौक़ है और रचनाओं पर खुलकर और बेलाग राय दे सकती है; स्वभाव से मित्र या फ्रैण्डली है, मेरे जानने के लिए इतना काफ़ी है। एक बात के बारे में मैं ज़रूर सावधान रहा हूँ। जब-जब वह प्रिंसेस बनकर मेरे सामने आई, मैंने उसे अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक अप्रत्यक्ष-रूप से समझा दिया कि मेरे निकट वह एक पाठिका और मित्र है, बस। जिन विकट और विषम परिस्थितियों में मैं रहा हूँ उनमें मैं चाहता तो उसके प्रिंसेस होने का फ़ायदा भी उठा सकता था; लेकिन मुझे हमेशा लगता रहा है कि उसे यों प्रिंसेस स्वीकार कर लेना अपनी मित्रता का अपमान होगा, अपने उस आधार का अपमान होगा जो हमारे परिचय का माध्यम था। और फिर हम लोग मित्र न रहकर कुछ और रह जायेंगे।

मुझे याद है एक बार सुजाता ने कहा था : "जब वह आपकी बहन है और इतनी आत्मीय और घनिष्ठ है तो आवश्यकता पड़ने पर आप उसके पास नहीं तो और कहाँ जायेंगे? आपकी अपनी बहन होती तो नहीं जाते क्या? या खुद उसका यह फ़र्ज़ नहीं होता?" बात सुजाता की ठीक थी। लेकिन वह नहीं जानती कि जिस वातावरण में अपर्णा रहती है, उसमें ऐश्वर्य और पैसा हमेशा एक हौवा बनकर भोगने वाले और भोग्य के बीच में खड़े रहते हैं। यानी इन लोगों के दिमाग़ में यह जम जाता है कि अलग-अलग रास्तों से हम तक आने वाला हर आदमी, केवल पैसे के लिए ही आता है। चाहूँ, तो इस बात को कुछ और अधिक सच्चे रूप में शायद इस तरह रखा जा सकता है कि खुद इन बेचारों को अपनी व्यक्तिगत अयोग्यता का इतना अधिक विश्वास होता है कि वे जानते हैं : उनके सारे सम्बन्धों और सम्मानों के पीछे उनके अपने व्यक्तिगत गुण नहीं, पैसा है···

अपर्णा और मैं दोनों जिन दो विरोधी परिस्थितियों में हैं उनमें मुझे हमेशा ही यह डर रहा है कि कहीं उसे भी यही विश्वास न हो जाये। इसलिए इस ओर मैं शुरू से ही सचेत और सावधान रहा हूँ। फिर भी इस जिज्ञासा से कैसे

इनकार करूँ कि मैं अपर्णा और उसकी दुनिया के बारे में अधिक-से-अधिक नहीं जानना चाहता था? मेरी यह दुर्दम महत्वाकांक्षा रही है कि मैं उसके सम्पूर्ण परिवेश में जानूँ, उसे अन्तर्तम तक जानूँ। आखिर उस जगह पनपने वाले, रहने वाले लोग कैसे सोचते हैं, कैसे रहते हैं और कैसे उनके आपसी मनोविज्ञान होते हैं या कैसा उनका मन हो जाता है? इस सबका अपर्णा के माध्यम से अध्ययन करना चाहता था। यों ड्राइंग-रूम में चाय पी आना, या सड़क पर कार से गुजरते देखकर जो मन हो सो कल्पना कर डालना, उन पर अपने आदर्श थोप कर रहन-सहन की गाली-प्रशंसा देना मुझे सन्तोषजनक और ईमानदार नहीं लगा। जाने क्यों इसे मेरा लेखक स्वीकार कर पाया।

लेकिन अब तो खुद सुजाता ने भी देख लिया है कि अपर्णा बेचारी किन शीशे की दीवारों में कैद है। अपनी इस दीवार को वह खुद मेरे सामने भी एक रहस्य बनाये रखना पसन्द करती है, या इसमें आनन्द लेती है। पहले ईंट-पत्थरों की दीवारें उसे उसकी रियासत में कैद किये थीं, जहाँ से निकलने पर चारों तरफ कपड़े की दीवारें खड़ी कर दी जाती थीं। खिड़कियों पर मोटे-मोटे पर्दे, पर्दों की दीवारें और पालकी तक कपड़े के पर्दों की सुरंग। यह राजकुमारी का पहला जीवन था और आज वह शीशे की दीवारों से घिरी है।...शीशे की खिड़कियाँ, शीशे के दरवाजे, शीशे के मोबाइल पार्टीशन, बाहर जाने पर कारों के बन्द शीशे...खुले आसमान के नीचे शीशे के गार्डन्स और फिर वहीं क्लब, सिनेमा और होटल-रेस्त्राओं के शीशे के दरवाज़े...! शॉपिंग करने गये तो दरबान ने सलाम मारा और शीशे का दरवाज़ा खुला...फिर वहीं कैद। बात करने का तरीक़ा भी वही टेलीफ़ोन या वही जड़ तहज़ीब-आदाबों की अदृश्य और पारदर्शी शीशे की दीवारें। और इनके पार से हम इन लोगों को बेज़बान पुतलों की तरह घूमते-फिरते और होंठ हिलाते देख सकते हैं। लेकिन ये बोलते भी हैं, इनके कण्ठ में भी आवाज़ें हैं जो हमारे तक पहुँच सकती हैं या उसे छू सकती हैं; ऐसा कभी लगता ही नहीं...। मैं कहूँ; कि पर्दों या टेलीफ़ोन से अत्यधिक आत्मीय रहते हुए भी अपर्णा को हमेशा से यह भय लगा रहा है कि कहीं यह शीशे की दीवार टूट न जाये...यह इतनी ठोस और दुर्भेद्य है, यह जो उसे परम्परा और इतिहास से मिली है' बन्द मुट्ठी की तरह अपने आस-पास एक रहस्य बनाये रखना भी तो एक अजब-सी रोमांटिक गुदगुदी देता है न...

हो सकता है कि अपर्णा के लिए यह एक बहुत बड़ा कॉम्प्लेक्स बन [illegible]
कि वह ईंट-चूने की अन्धी दीवारों और कपड़े की पर्दों की [illegible]

की निकट परिधि में आती चली गई, उसने समय-समय पर मेरी अशिष्ट उपेक्षाओं को भी सहा'''मुझे उसका यह साहस और स्वभाव दोनों अच्छे लगे। लेकिन मैंने उससे छिपाया नहीं कि मेरे अन्य लड़कियों से भी मित्रता-सम्बन्ध हैं, इस लिए हमारा यह सम्बन्ध भी ग़लत नहीं समझा जाना चाहिए। हो सकता है, इसे सुजाता ने इस रूप में लिया हो कि मैं उसपर प्रभाव जमाना चाहता था। इसमें भी अपर्णा का ज़िक्र मैंने विशेष रूप से किया था।

अपर्णा प्रिंसेस है या प्राइमरी स्कूल की टीचर, इसे जानने की मैंने भी कभी चिन्ता नहीं की। उसे पढ़ने का शौक़ है और रचनाओं पर खुलकर और वेलाग राय दे सकती है; स्वभाव से मित्र या फ्रैण्डली है, मेरे जानने के लिए इतना काफ़ी है। एक वात के वारे में मैं ज़रूर सावधान रहा हूँ। जब-जब वह प्रिंसेस बनकर मेरे सामने आई, मैंने उसे अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक अप्रत्यक्ष-रूप से समझा दिया कि मेरे निकट वह एक पाठिका और मित्र है, वस। जिन विकट और विषम परिस्थितियों में मैं रहा हूँ उनमें मैं चाहता तो उसके प्रिंसेस होने का फ़ायदा भी उठा सकता था; लेकिन मुझे हमेशा लगता रहा है कि उसे यों प्रिंसेस स्वीकार कर लेना अपनी मित्रता का अपमान होगा, अपने उस आधार का अपमान होगा जो हमारे परिचय का माध्यम था। और फिर हम लोग मित्र न रहकर कुछ और रह जायेंगे।

मुझे याद है एक वार सुजाता ने कहा था : "जब वह आपकी वहन है और इतनी आत्मीय और घनिष्ठ है तो आवश्यकता पड़ने पर आप उसके पास नहीं तो और कहाँ जायेंगे ? आपकी अपनी वहन होती तो नहीं जाते क्या ? या खुद उसका यह फ़र्ज नहीं होता ?" वात सुजाता की ठीक थी। लेकिन वह नहीं जानती कि जिस वातावरण में अपर्णा रहती है, उसमें ऐश्वर्य और पैसा हमेशा एक हौवा वनकर भोगने वाले और भोग्य के बीच में खड़े रहते हैं। यानी इन लोगों के दिमाग़ में यह जम जाता है कि अलग-अलग रास्तों से हम तक आने वाला हर आदमी, केवल पैसे के लिए ही आता है। चाहूँ, तो इस वात को कुछ और अधिक सच्चे रूप में शायद इस तरह रखा जा सकता है कि खुद इन वेचारों को अपनी व्यक्तिगत अयोग्यता का इतना अधिक विश्वास होता है कि वे जानते हैं : उनके सारे सम्वन्धों और सम्मानों के पीछे उनके अपने व्यक्तिगत गुण नहीं, पैसा है'''

अपर्णा और मैं दोनों जिन दो विरोधी परिस्थितियों में हैं उनमें मुझे हमेशा ही यह डर रहा है कि कहीं उसे भी यही विश्वास न हो जाये। इसलिए इस ओर मैं शुरू से ही सचेत और सावधान रहा हूँ। फिर भी इस जिज्ञासा से कैसे

इनकार करूँ कि मैं अपर्णा और उसकी दुनिया के बारे मे अधिक-से-अधिक नही जानना चाहता था ? मेरी यह दुर्दम महत्त्वाकांक्षा रही है कि मैं उसके सम्पूर्ण परिवेश मे जानूं, उसे अन्ततम तक जानूं। आखिर उस जगह पनपने वाले, रहने वाले लोग कैसे सोचते हैं, कैसे रहते हैं और कैसे उनके आपसी मनोविज्ञान होते है या कैसा उनका मन हो जाता है ? इस सबका अपर्णा के माध्यम से अध्ययन करना चाहता था। यों ड्राइंग-रूम मे चाय पी आना, या सड़क पर कार से गुजरते देखकर जो मन हो सो कल्पना कर डालना, उन पर अपने आदर्श थोप कर रहन-सहन को गाली-प्रशसा देना मुझे सन्तोषजनक और ईमानदार नही लगा। जाने क्यो इसे मेरा लेखक स्वीकार कर पाया।

लेकिन अब तो खुद सुजाता ने भी देख लिया है कि अपर्णा बेचारी किन शीशे की दीवारों मे कैद है। अपनी इस दीवार को वह खुद मेरे सामने भी एक रहस्य बनाये रखना पसन्द करती है, या इसमें आनन्द लेती है। पहले ईंट-पत्थरों की दीवारें उसे उसकी रियासत मे कैद किये थी, जहाँ से निकलने पर चारो तरफ कपडे की दीवारें खड़ी कर दी जाती थी। खिड़कियो पर मोटे-मोटे पर्दे, पर्दों की दीवारें और पालकी तक कपड़े के पर्दों की सुरंग। यह राजकुमारी का पहला जीवन था और आज वह शीशे की दीवारो से घिरी है।...शीशे की खिड़कियाँ, शीशे के दरवाजे, शीशे के मोवाइल पार्टीशन; बाहर आने पर कारो के बन्द शीशे...खुले आसमान के नीचे शीशे के गॉगल्स और फिर वही क्लब, सिनेमा और होटल-रेस्त्राओ के शीशे के दरवाज़े...। शॉपिंग करने गये तो दरबान ने सलाम मारा और शीशे का दरवाज़ा खुला...फिर वही जेल। बात करने का तरीका भी वही टेलीफोन या वही जड तहज़ीब-कायदो की अदृश्य और पारदर्शी शीशे की दीवारें। और इनके पार से हम इन लोगों को बेज़बान पुतलो की तरह घूमते-फिरते और होठ हिलाते देख सकते हैं। लेकिन ये बोलते भी हैं, इनके कण्ठ मे भी आवाज़ें हैं जो दूसरे तक पहुँच सकती हैं या उसे छू सकती हैं; ऐसा कभी लगता ही नही...। मैं कहूँ; कि पत्रो या टेलीफ़ोन से अत्यधिक आत्मीय रहते हुए भी अपर्णा को हमेशा ही यह खयाल रहा है कि कही यह शीशे की दीवार टूट न जाये...यह इतनी कीमती और दुर्भेद्य है, यह जो उसे परम्परा और इतिहास से मिली है। बन्द मुट्ठी की तरह अपने आस-पास एक रहस्य बनाये रखना भी तो एक अजब-सी रोमांटिक गुदगुदी देता है न...

हो सकता है कि अपर्णा के लिए यह एक बहुत बडा क्रान्तिकारी कदम हो कि वह ईंट-चूने की अन्धी दीवारो और कपडे की लचीली लक्ष्मण-रेखाओ या

लोहे के छड़ वाले जंगलों और फाटकों को पार करके शीशे की पारदर्शी दीवारों के पीछे आ गई है, जहाँ से वह दुनिया को देख सकती है और दुनिया उसे···!

पहले हम सुना करते थे कि हम में से ही कोई है जो इन दीवारों के पीछे कैद है, सिसकते हैं, घुटते हैं और अन्त में वहीं दम तोड़ देते हैं। कभी आते-जाते उनकी झलक भी मिल जाती थी। लोक-कथाओं और इनकी सेवा-टहल वालों से, इन्हें लेकर उलटी-सीधी बातें भी सुनाई दिया करती थीं। उनमें सच को इतना बढ़ा-चढ़ा दिया या बिल्कुल ही घोट दिया जाता था कि बात का पता ही नहीं लगता था! लेकिन अब अपने सामने यों एक पारदर्शी पर्दे के पार से इन्हें देखकर तो उत्सुकता और भी बढ़ती है: ये जो हमारी तरह चलते-फिरते, होंठ हिलाते और खाते हैं, आखिर क्या सोचते हैं? किस तरह सोचते हैं? क्या बातें करते हैं और किस कोन से दुनिया को देखते हैं? सब मिलाकर अपनी इच्छा से ली गई इस अजब-सी कैद में इनकी मानसिक स्थिति और बनावट क्या हो जाती है? पंखों, कूलिंग-प्लांटों और एयर-कण्डीशनिंग की आब-हवा और फ्लोरेसेण्ट या नियॉन लाइटों के प्रकाश में इनकी दृष्टियाँ आखिर चीजों को किस रंग का देखती हैं? कैसी दीखती है इन्हें शेष सारी दुनिया? मैं उस सबको उनकी निगाहों से देखना चाहता था।

और यहीं एक बाधा थी। मैंने पाया कि जिस तरह ये 'दर्शन' देते हैं, उसमें और पहले के 'अन्नदाता' के दर्शनों में बाहरी फ़र्क चाहे जितना हो, भीतरी ज़रा भी नहीं है। अब इनके दर्शन अक्सर ही होते हैं, रोज़ होते हैं। आपके साथ ये लोग फोर्ट के फुटपाथों पर, सागर के किनारों पर, रेल, ड्राइंग रूमों, या सिनेमाओं की कुर्सियों पर दीखते हैं, लेकिन यह केवल 'दीखते' हैं—इन्हें आप छू नहीं सकते। किसी म्यूज़ियम में सुरक्षित पुरानी यादगार की तरह ये लोग शो-केसों में बन्द रहते हैं। 'ममियों' की तरह सम्हाल रखे कि कहीं आज की 'हवा' इन्हें बिगाड़ न दे। और इन शो-केसों पर चिप्पियाँ लगी रहती हैं—'टच मी नॉट'—'मुझे छूना मना है'—एक अदृश्य और पारदर्शी शीशे का खोल है, जो इनके और आपके बीच हमेशा बना रहता है, या जिसमें ये अपने को बन्द रखते हैं। इनकी यही मानसिक बनावट हमें खींचती है कि जिस तरह के ये दीखते हैं या दीखना पसन्द करते हैं—इसके अलावा भी हम देखें कि ये लोग वास्तव में हैं क्या? हम जानें कि ये लोग भीतर से कैसे हैं? यह हर समय कैमरे के खुले लेन्स के सामने पोज़ देकर कृतार्थ करते घूमना और दीखना ही तो हमारे लिए काफ़ी नहीं है; और शायद लेखक के लिए तो यह स्थिति एक चुनौती है।

ख़ैर, अपनी भली चाहे जितनी हो, पारदर्शी दीवार हमारे और उनके बीच

भी है ही। फिलहाल इसे तोड़ने की सामर्थ्य और सम्भावनाएँ दोनो ओर से नही हैं। वह अगर तोड़ने की हिम्मत करे भी, तो उसे खुद अपने आस-पास वालों की निगाहें देखकर शर्म लगेगी। वे कहेंगे—"देखो, कैसी मूर्खा है। अपनी ही दीवारें तोड़े ले रही है। पागल तो नही हो गई? अरे, वे भूखे और नंगे हैं!" और अगर कोई बाहर वाला तोड़ता है तो उसके संस्कारो को निश्चय ही लगेगा कि यह गुस्ताखी और सीमाओं का उल्लघन है—याकि वह उसे लूटना चाहता है। शायद इसीलिए इसे लेकर वह शुरू से ही बहुत चिन्तित रही है। उसे मेरी मित्रता चाहिए, लेकिन बिना अपना आसन छोड़े हुए। और उसकी इसी भावना ने मुझे भी अपने आसन को याद दिलाये रक्खा है। मैंने भी इस झंझट को व्यर्थ ही समझा कि दीवार के उस ओर वाले क्या सोचते हैं और इस ओर वाले उनको कैसा समझते हैं। मैं तो चाहता था कि उनके दिये और बताये हुए नही, बल्कि अपने रास्तो से उन्हें उनके ही बीच में स्वाभाविक रूप मे देखूँ। आखिर ये लोग हैं क्या? यों अपर्णा के साथ पत्र-व्यवहार था, बातचीत थी; लेकिन उस दीवार की रक्षा मे वह भी तत्पर थी और उसे न छूने के बारे मे मेरा आत्म-सम्मान भी सचेत। रास्ता मेरे पास था और मैंने सुजाता की प्रतिभा, सूझ और कुशलता पर विश्वास करके उसे वहाँ भेज दिया। अपर्णा को एक बौद्धिक मित्र की आवश्यकता थी और मैंने 'ध्रुवस्वामिनी' को उसका मित्र बना दिया। यह प्रयोग शायद अजब ही लगेगा कि हम दोनों अपने-अपने वर्गों और व्यक्तियो से अलग हटकर, उठकर या बिना हटे-उठे भी मित्र बने रहना चाहते थे। बडा खतरनाक प्रयोग था, क्योंकि जरा-से भटकने पर ही यह प्यार और वर्ग-द्वन्द्व की पुरानी कहानी बन सकता था। या हो सकता था वह कला की सरक्षिका और अभिभावक का रूप ले लेती। मुझे लगा कि प्रश्न चाहे विरोधी सैक्स के पारस्परिक आकर्षण और वर्ग-विषमता का होता या सामाजिक ऊँच-नीच का—दोनो ही स्थितियो मे शायद हम लोग भटक जाते।

यह सब हुआ; मुझे उपयुक्त माध्यम मिला, लेकिन मेरे दिल की हालत बड़ी विचित्र हो गई। जितना ही मैं अपने चुनाव, सुजाता की प्रतिभा, पकड की सफलता देखता जाता, जी की कचोट बढ़ती जाती। मैं जानता हूँ कि किले मे घुसने वाले जासूस को इस बात की चिन्ता नही करनी चाहिए कि उसकी कमन्द रेशम की है या सांप की। यदि वह उसका मतलब निकाल सकती है तो उसे क्रूरतापूर्वक उसका उपयोग कर ही डालना चाहिए। वह लटकता फाँसी का फन्दा भी हो सकता है, और किसी पद्मगन्धा की साडी भी। और उसी जोश मे मैंने भी कमन्द फेंक दी। कमन्द लग गई'''। शायद आज मैं उस मध्यकालीन

जासूस के दिल की उत्तेजना और जोश का अनुमान लगा सकता हूँ जिसकी कमन्द का कुण्डा किले के बुर्ज पर मजबूती से अटक गया है और आस-पास गहरा सन्नाटा है···घुप अँधेरा है। ऐसा अनुकूल वातावरण और ऐसा सफल अवसर···।

कुण्डे के अटकते ही मुझे महसूस हुआ कि कमन्द की डोर तो खिले गुलाब के फूलों की है। कितनी मानसिक यन्त्रणा होती रही है मुझे उन दिनों यह सोच-सोचकर कि खिले गुलाब के फूलों की यह डोरी क्या इसलिए है ?···लेकिन ऊपर जा पहुँचने का जोश और मिलने वाली सफलता की आशा की थ्रिल, मुझे निरन्तर खींचते थे। आज अगर सुजाता के सामने इसे स्वीकार करूँ तो शायद लाज से गड़ जाऊँ कि जब अत्यन्त नाजुक क्षणों में इन फूलों की लपटीली गन्ध ने मेरे तन-मन को एक भास्वर पुलकन से भर-भर दिया है; तब भी मैं यह नहीं भूला हूँ कि मुझे इसी फूल को पकड़कर चढ़ना है। कभी-कभी डर भी लगता था कि कहीं यह गन्ध मुझे भरमा न ले; मुझे मोहकर रोक न ले···कि कहीं यह कमन्द टूट ही न जाये ! अक्सर मैं दिल से चाहता रहा हूँ कि क्यों नहीं यह डोर टूट जाती और क्यों नहीं मैं गिरकर चूर-चूर हो जाता ! काश, मैं वहीं रुक जाता ! बार-बार किसी के कोमल हाथ ऊपर से धक्का देते थे कि नाजुक फूल यों कमन्द बनाने को नहीं हैं···ये बहुत ही कमनीय हैं, जरा जोर से छूने में छितर और बिखर जाते हैं···इनका पराग धूल में मिल जाता है ! नीचे उतर जाओ। लेकिन मन में जाने कैसा एक क्रूर उन्माद था, एक पागल आवेग था कि लौटने नहीं देता था···। और अपने हाथों की हर पकड़ पर मैं पराग की पसीजन महसूस करता रहा···

आज लगता है कि वह स्थिति आ गई है जब मैं लौटने पर मजबूर हो गया हूँ। दीवार बहुत ऊँची नहीं है, और शायद मैं उसके सिरे पर पहुँच भी गया हूँ···लेकिन अपने दिल की उन मजबूत हाथों को क्या करूँ जो मेरा गला घोंट देते हैं कि ये फूल यों कमन्द बनाने को नहीं हैं। नहीं सुजाता, अब मुझ से नहीं चढ़ा जाता; अब मैं नहीं चढ़ पाऊँगा···। मैं हारकर लौट आता हूँ, हार मानता हूँ। तुम्हारे सामने दोनों हाथ ऊँचे करके आत्म-समर्पण करता हूँ···

शायद अब मुझे न तो अपने आपको और न ही सुजाता को समझाने की जरूरत है कि मिशन अपना मेरा लक्ष्य नहीं माध्यम है, साध्य नहीं साधन है। क्योंकि हम लोग कभी भी राजकुमार नहीं होते—हम लोग तो जासूस होते हैं, ऐयार होते हैं। कभी हम राजकुमार के वेश में होते हैं, कभी भिखारी

के ! कभी डाकू होते हैं और कभी गुण्डे'''कभी साधु का स्वाँग भरते हैं तो कभी चरित्रहीन का ! हम एक तीव्र और दुर्निवार जिज्ञासा होते हैं, बस ।

यही एक बात और साफ़ कर दूँ कि न तो मैं अपनी 'कमज़ोरियों' की सफ़ाई दे रहा हूँ न अपने बचाव कर रहा हूँ—यह अपना अन्तर्तम टटोल कर पाता हूँ । क्योंकि मुझे लगता है कि कलाकार सब कुछ हो सकता है—खुद वह 'आदमी' हो ही नहीं सकता । हाँ, वह 'आदमी' का दूत होता हो, तो हो । वह 'आदमी' के रूप का वर्णन कर सकता है, उसकी यश-गाथा गा सकता है, उसका सदेश ला-ले जा सकता है, और 'आदमी' के नाम पर हर उलटा-सीधा कर सकता है । इसमें कुछ अजब भी नहीं है । अपने मालिक के प्रति वफ़ादारी दिखाने के लिए हर दूत या एजेन्ट कुछ ज्यादा ही करता है । जहाँ तक अत्याचार का सवाल है; शायद असली मालिक के मुक़ाबले उसके गुमाश्ते और दूत ही ज्यादा क्रूर होते हैं ! उन्हें लगता है कि नमक-अदायगी और वफ़ादारी के लिए हृदय-हीनता अनिवार्य है । और 'आदमी' का दूत यह कलाकार या लेखक भी, हो सकता है मरते वक़्त तक अपने मालिक 'आदमी' के प्रति वफ़ादार भी रह आए, उसी के लिए तो वह कभी शीशे की दीवारें फाँदता है और कभी बहुरुपियों जैसे स्वाँग भरता है, किलों की प्राचीरों पर चढ़ता है । लेकिन शायद खुद 'आदमी' कभी बन ही नहीं पाता । उसे शायद फ़ुरसत ही नहीं मिलती ।

अपने प्रति इस खिलवाड़ के लिए जाने सुजाता मुझे माफ़ भी करेगी या नहीं !

कभी-कभी सोचता हूँ कि काश, सुजाता ही मुझे दूत होने की इस ग्लानि और परिताप से मुक्त कर पाती । किसे बताऊँ कि यह शब्द-हीन ग्लानि क्या है, और कैसे यह मेरे तन-मन को रात-दिन पीसती है कि मैं खुद कुछ भी नहीं, किसी के हाथों का हथियार-भर हूँ, किसी का एजेण्ट हूँ, जो भी कुछ करता हूँ वह सब अपने लिए नहीं 'किसी' के लिए करता हूँ'''। और मज़ाक यह है कि जिस 'आदमी' के नाम पर या जिसके लिए यह सब करता हूँ वह रहता कहाँ है, कैसा है'''और है भी या नहीं ? यह भी मुझे नहीं मालूम । काश, कोई ट्रिगोरिन[१] के भीतर बैठे हुए मेरे इस शाश्वत दर्द को समझ पाता । 'कितनी सालती है यह व्यथा कि मेरा हँसना-रोना, मेरा दुःख-सुख, मेरी अनुभूतियाँ और भावनाएँ, मेरी 'अपनी' नहीं हैं—जिसे मैं अपना आनन्द और अवसाद

१. चेखव के नाटक सीगल का एक लेखक पात्र ।

कहता हूँ, वह तो मुझे किसी को सौंप देना है; ज्यों का त्यों···यह सारी बातें किसी पात्र के मुँह से कहलवा देनी हैं, किसी और के दिल की भावनाएँ बनाकर इन्हें टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देना है।' अपने पास तो मैं इसे सिर्फ अमानत की तरह रख रहा हूँ। अपने बेटे की मौत के समय मेरे भीतर का 'बाप' रोता है और यह क्रूर 'दूत' उस समय भी बैठा-बैठा नोट करता रहता है कि बेटे के मरते समय बाप को कैसा लगता है। कभी-कभी तो 'दूत' उसे मजबूर कर देता है कि यही जानने के लिए वह बेटे को मारकर देखे···।

काश, एक क्षण भी ऐसा होता जो मेरा 'अपना' होता—जिसके पीछे यह भावना न होती कि इसे किसी पात्र को दे देना है! यह केवल मेरा 'अपना' है। सुजाता ने स्वप्न-भंग की उस वितृष्णा में ठीक ही कहा था कि 'इट्'स नॉट ए फ़ेयर गेम'। सच ही यह ईमानदारी का खेल नहीं है। क्योंकि मैं ऐसे मालिक का दूत बनकर सुजाता के सामने आया जो मुझे यहाँ छोड़कर खुद जाने कहाँ खो गया है। अब तो यह भी याद नहीं है कि उसने यह काम मुझे सौंपा भी था या नहीं—समझ में नहीं आता, अब सुजाता को मुँह कैसे दिखाऊँगा ?

सुजाता की डायरी : एक नोट

मंगल : २३ जुलाई

सब पढ़ लिया है मैंने उदय, सब पढ़ लिया।

जी में तो मेरे भी आ रहा है कि मैं उदय से जाकर कह दूं कि 'जो किस्से मैं राजकुमारी को लेकर रोज़-रोज़ बताया करती थी, उन्हें क्या तुम सचमुच सच समझते हो ? अरे, यह कैसे भूल गये कि मैं कथाकार ही नहीं, अभिनेत्री भी थी—और रोज मन बहलाने को एक किस्सा गढ़कर सुनाया करती थी—अलिफ-लैला का ध्यान है ? मलिका शहरज़ाद भी तो शहरयार को एक किस्सा रोज सुनाया करती थी—ताकि समय मिले और उनके बीच में आत्मीयता के सूत्र और गाढे होते जायें······लेकिन तुम्हें तो बिसात उलट देने की आदत है न···।'

'तुम चाहे जिसके दूत बनो, चाहे जिसके प्रति वफादार रहो—मगर मुझे यों सीढ़ी और सेतु मत बनाओ। मुझसे यह सब नहीं सहा जायेगा। मैं तो तुमसे डोर का एक सिरा बनकर मिली थी···कमन्द का सिलसिला नहीं···।'

◇ ◇ ◇